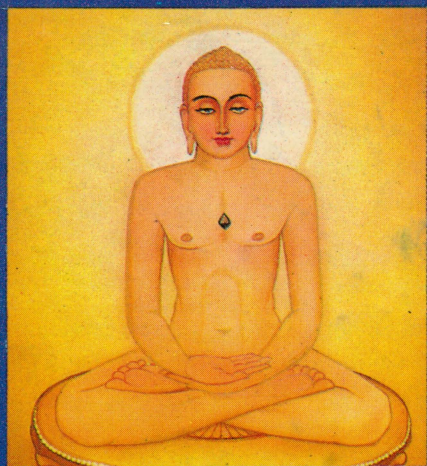




तीर्थंकर चरित्र



मुनि सुमेरुमल 'लाडनूं'



तीर्थकर चरित्र

मुनि सुमेरुमल 'लाडनू'

तीर्थकर चरित्र

(चौबीस तीर्थकरों का सरल, संक्षिप्त जीवन वृत्त)

मुनि सुमेरमल (लाडनू)

अर्थ सौजन्य

स्व. पिताजी श्री मीठालालजी
मरलेचा की स्मृति में सुपुत्र राजेश
मरलेचा ५६, कुप्पुमुथु मुदली
स्ट्रीट, ट्रिप्लिकेन, मद्रास-५

सुरपत चेरिटीज, बी-१७,
अन्नानगर मद्रास एवं १२७ VI,
क्रोस लोअर पेलेस गुठल्ली
बैंगलोर-३ फोन-३३६१२८१

संपादक

मुनि उदित कुमार

प्रकाशक

जैन विश्व भारती

लाडनूँ - ३४१३०६

पंचम संस्करण : १९९५

मूल्य : २५ रुपये

प्रतियां : ३३००

मुद्रक : कौणार्क प्रेस,

५/२०९, ललिता पार्क,

लक्ष्मी नगर, दिल्ली

लेजर कम्पोजिंग : पारस कम्प्यूटर्स

पी-९१/५, शंकर नगर एक्सटेंशन

कृष्णा नगर, दिल्ली-११००५१

THIRTHANKAR CHARITRA

-Muni Sumermal (Ladnun)

Rs. 25/-

स्वकथ्य

तीर्थकरों का जीवन-वृत्त जैन इतिहास की बहुत बड़ी निधि हैं। अनेक जीवन-वृत्तों में तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थाओं एवं राजनीतिक परिस्थितियों का सामयिक चित्रण भी मिलता है, उस समय की धार्मिक परम्पराओं, दार्शनिक मान्यताओं तथा राजनीतिक-सामाजिक चेतना का प्रतिबिम्ब भी सहज में परिलक्षित होता है।

अनुभवी आचार्यों तथा मुनियों ने अपनी अनुश्रुति और अनुभूति को काव्यबद्ध करके भावी पीढ़ी पर बहुत बड़ा उपकार किया है। अपनी स्मृतियों को दीर्घजीवी बनाने का यही सबसे उपयुक्त साधन है। आचार्यों व मनस्वी मुनियों की सक्रिय सूझ-बूझ का ही परिणाम है कि आज भगवान् ऋषभ के बारे में भी हम अच्छी खासी जानकारी रखते हैं। यौगलिक काल के बाद मानव-संस्कृति का अभ्युदय कैसे हुआ? किससे हुआ? आदि प्रश्नों के समाधान हम हमारे ग्रन्थों के आधार पर आसानी से कर सकते हैं।

दृष्टिवाद सूत्र के मुख्यतः पांच अंग हैं, उनमें चौथा अंग इतिहास का है। अर्थात्—जितना इतिहास है वह सारा दृष्टिवाद के अन्तर्गत आने वाला ज्ञान है, अतः इतिहास का ज्ञान आगम का ज्ञान है। इसकी अपनी उपादेयता है। जिसका इतिहास नहीं, उसका कुछ भी नहीं। प्रत्येक जाति, देश, वर्ग और दर्शन का अपना इतिहास होता है। इतिहास के बल पर ही व्यक्ति अपने से पूर्व की स्थितियों का अध्ययन कर सकता है और आगे बढ़ने की प्रेरणा पा सकता है।

उपाध्याय ने अपने शिष्यों से पूछा—“शिष्यों ! मधुर है, किन्तु मिष्ठान्न नहीं है। बेजान में जान फूंकता है, किन्तु औषधि नहीं है। हृदय में गुदगुदी पैदा करता है, किन्तु नाटक नहीं है। बताओ वह क्या है?” एक विद्यार्थी ने तत्काल उत्तर दिया—“गुरुजी ! इतिहास।” सचमुच इतिहास मधुर है, संजीवन है। उसकी जानकारी हर दृष्टि से उपयोगी है।

कुछ ज्ञातव्य

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर ग्रन्थों में तीर्थकरों के जीवनवृत्त कुछ-कुछ भेद के साथ मिलते हैं। श्वेताम्बर आगम-ग्रन्थ भगवान् के गर्भ में आने पर माता को आने वाले स्वप्नों की संख्या चौदह मानते हैं जबकि दिगम्बर ग्रन्थों में यह संख्या सौलह मानी गई है। कल्पसूत्र में स्वप्नों के नाम इस प्रकार हैं—१. गज २. सिंह ३. वृषभ

४. लक्ष्मी, ५. पुष्पमाला, ६. चन्द्र, ७. सूर्य, ८. ध्वजा, ९. पद्म-सरोवर १०. क्षीर सरोवर, ११. कुंभ १२. विमान, १३. रत्न राशि, १४. अग्नि। दिगम्बर ग्रन्थ महापुराण में आचार्य जिनसेन ने मत्स्य युगल और सिंहासन ये दो अतिरिक्त स्वप्न बतलाये हैं।

तीर्थकरों की जन्म-तिथियों में भी अन्तर है। कहीं-कहीं तो समझ का भेद है और कहीं-कहीं वस्तुतः अन्तर ही है। भगवान् ऋषभ की जन्म-तिथि श्वेताम्बर-आगमों में चैत्र कृष्णा अष्टमी है और दिगम्बर ग्रन्थों में चैत्र कृष्णा नवमी है। सभी तीर्थकरों का जीवन मध्य रात्रि में हुआ है। जिन आचार्यों ने मध्य रात्रि के बाद तिथि-परिवर्तन माना उन्होंने अगली तिथि को जन्म मान लिया जिन्होंने सूर्योदय के साथ तिथि-परिवर्तन का सिद्धान्त माना, उन्होंने चालू तिथि को जन्म-तिथि के रूप में घोषित कर दिया। अनेक तीर्थकरों की तिथि में तीन-चार दिनों का भी अन्तर मिलता है। यह सम्भवतः नक्षत्रों की काल-गणना के साथ तिथि का मेल बिठाने के कारण हुआ है।

इसी प्रकार लक्षण, वर्ण आदि में भी कहीं-कहीं भेद नजर आता है। कुमारावस्था व राज्यावस्था में भी कहीं-कहीं भेद है। भगवान् महावीर को दिगम्बर परम्परा में विवाहित नहीं मानते, जबकि श्वेताम्बर परम्परा विवाह की पुष्टि करती है। शास्त्रकारों ने महावीर के परिवार में माता-पिता के साथ उनकी पत्नी और पुत्री का भी नामोल्लेख किया है। इन छुट-पुट अन्तरों के अतिरिक्त शेष जीवन-वृत्त प्रायः एक जैसा ही मिलता है।

वि० संवत् २०२८ के फाल्गुन मास में उदासर-बीकानेर में आचार्य प्रवर ने बातचीत के दौरान एक बार कहा था—“तीर्थकरों के जीवनवृत्त काफी विस्तार में है, चौबीस ही तीर्थकरों की जीवनी यदि संक्षिप्त में लिखी जाए, तो सबके लिए उपयोगी बन सकती है।” इसके साथ ही मेरी ओर संकेत करते हुए आचार्य श्री ने फरमाया— “लिखो, सरल भाषा में लिखो, जो सबके लिए उपयोगी बन सके।”

आराध्य के उसी संकेत को ध्यान में रखते हुए मैंने तीर्थकरों का जीवन-परिचय संक्षिप्त में लिखा है। बोलचाल की भाषा में सिर्फ जीवन-तथ्यों को उजागर करने का प्रयत्न किया है। पढ़ने से हर नये व्यक्ति को तीर्थकरों के जीवन की झलक मिल जाये, सिर्फ यही उद्देश्य रहा है। विद्यार्थियों के लिए तो यह पुस्तक और भी अधिक उपयोगी हो सकती है बिना भाषाई आडम्बर के सीधी-सादी भाषा में कहानी की तरह लिखने का प्रयत्न किया गया है।

आशा है, यह लघु प्रयास जैन-अजैन सभी को प्रारम्भिक जानकारी बढ़ाने में सहयोगी बनेगा।

२१ अगस्त १९७९

तेरापंथी सभा भवन

बैंगलूर

मुनि सुमेर (लाडनू)

पंचम संस्करण

इतिहास स्वयं में रसीला होता है, उसमें भी तीर्थकरों का जीवन-वृत्त और भी अधिक प्रेरक है। हर व्यक्ति के लिये यह पठनीय है, मननीय है। बिना किसी साहित्यिक आडम्बर के सहज सरल भाषा होने से कम पढ़े-लिखे लोग भी इससे लाभ उठाते रहे हैं। यही कारण है—प्रति वर्ष इसके पाठक बढ़ते जा रहे हैं।

तीसरे संस्करण से पुस्तक को जैन विश्व भारती प्रकाशित कर रही है। यह पुस्तक का पंचम संस्करण कुछ विशेष सामग्री के साथ आपके समक्ष प्रस्तुत है। पाठक अधिक से अधिक लाभ उठायेंगे, इसी शुभाशंसा के साथ।

२१ अप्रैल, १९९५

अणुव्रत भवन

नई दिल्ली

मुनि सुमेर (लाडनू)

प्रकाशकीय

किसी भी धर्म/दर्शन को जानने के लिए उसकी परम्परा को जानना अनिवार्य है। वर्तमान का प्रत्येक पल अतीत के प्रति कृतज्ञ होता है।

जैन परम्परा में तीर्थंकर से ऊँचा कोई स्थान नहीं। नमस्कार महामत्र तक में सिद्धों से पहले जिन्हें नमस्कार किया जाता है, वे तीर्थंकर ही हैं। तीर्थंकर अनंत ज्ञान, दर्शन और चरित्र के धनी तथा अध्यात्म युग के अनन्य प्रतिनिधि होते हैं।

किसी भी तीर्थंकर की परम्परा का अन्य तीर्थंकर विशेष की परंपरा के साथ आबद्ध नहीं होना तीर्थंकरों की स्वतंत्र व्यवस्था का द्योतक है। आश्चर्य होता है कि चौबीस तीर्थंकरों में से किसी भी तीर्थंकर ने अपने पूर्व तीर्थंकर की व्यवस्था या ज्ञान से न तो कुछ प्राप्त किया और न उसे परम्परा स्वरूप उत्तरवर्ती तीर्थंकरों को ही कुछ दिया। सभी तीर्थंकरों की अपनी परम्परा और अपना शासन था, जो पूर्ववर्ती व उत्तरवर्ती तीर्थंकरों से भिन्न था।

जैन परम्परा के मूल स्रोत प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभ थे। उनके पश्चात् एक के बाद एक तीर्थंकर होते हुए रामायण काल में बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत और महाभारत काल में बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि हुए। इन सभी का काल प्रागैतिहासिक है। कई अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक मानते हैं। तेइसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्व और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर ऐतिहासिक पुरुष हैं। वर्तमान जैन शासन की परम्परा भगवान् महावीर से सम्बन्धित है। जैन ग्रन्थों में प्रत्येक तीर्थंकर का इतिहास सविस्तर उपलब्ध है।

गणाधिपति पूज्य गुरुदेव व आचार्य श्री महाप्रज्ञ के विद्वान् शिष्य मुनि श्री सुमेरुमलजी (लाडनूँ) ने “तीर्थंकर चरित्र” पुस्तक के माध्यम से चौबीस तीर्थंकरों के जीवन-तथ्यों को सरल एवं सहज भाषा में प्रस्तुत कर प्रत्येक पाठक को तीर्थंकरों के जीवनवृत्त की झलक प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है, वह अत्यन्त ही प्रशंसनीय एवं महत्त्वपूर्ण है। सीधी-सादी भाषा में कहानी के रूप में सृजित इस कृति के अध्ययन से जैन-अजैन सभी सुधी पाठक ज्ञानार्जन कर समान रूप से लाभान्वित होंगे, इसी शुभाशंसा के साथ पुस्तक का पंचम संस्करण प्रकाशित कर जैन विश्व भारती गौरव का अनुभव कर रही है।

दिनांक १६-४-१९९५

जैन विश्व भारती,

लाडनूँ (राजस्थान)

ताराचन्द रामपुरिया

‘मंत्री’

अनुक्रम

प्रवेश— १ से १३

जैन धर्म की प्राचीनता १, जैन धर्म की अवधारणा २, अध्यात्म को प्रमुखता २, अवतारवाद का निषेध २, कालचक्र ३, यौगलिक युग (अरण्य युग) ४, यौगलिक-जीवन के मुख्य तथ्य ४, कुलकर व्यवस्था ५, दण्ड व्यवस्था ६, तीर्थकर की महत्ता ७, 'तीर्थकर' की मीमांसा ८, तीर्थकर चौबीस ही क्यों ८, तीर्थकर गोत्र बंध के कारण ६, धर्मशासन की स्थापना १०, द्वादश गुण १०, चौतीस अतिशय ११, पैंतीस वचनातिशय १२.

१ भगवान् ऋषभदेव—१४ से ४२

पूर्व भव १४, ऋषभ का जन्म १६, नामकरण १७, वंश उत्पत्ति १८, विवाह १८, संतान १६, राज्याभिषेक २०, कृषि कर्म शिक्षा २१, छींकी लगाओ २२, अग्नि की उत्पत्ति २२, भोजन पकाना २३, असि-कर्म शिक्षा २३, मसि कर्म शिक्षा २४, सेवा व्यवस्था २४, वर्ण व्यवस्था २४, तीन रेखाएं (जनेऊ) २५, विवाह २५, ग्राम व्यवस्था २५, दंड विधि २६, कला-प्रशिक्षण (बहत्तर कला, अठारह लिपि, चौसठ कला,) २७, अभिनिष्क्रमण ३१, प्रथम दान ३३, विद्याधरों की उत्पत्ति ३४, सर्वज्ञता-प्राप्ति ३५, भरत का धर्म विवेक ३५, मरुदेवा सिद्धा ३७, तीर्थ स्थापना ३८, अठानवें भाइयों द्वारा दीक्षा ग्रहण ३८, भरत-बाहुबली युद्ध ३६, बाहुबली व भरत को केवल ज्ञान ४०, जैनेतर साहित्य में ऋषभ का वर्णन ४०, निर्वाण ४१, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक ४१.

२ भगवान् श्री अजितनाथ— ४३ से ४७

पूर्व भव ४३, दो रानियों को चौदह स्वप्न ४३, जन्म ४४, नामकरण ४४, विवाह और राज्य ४४, दीक्षा प्रतिबोध ४५, राज्य त्याग और वर्षीदान ४५, दीक्षा ४५, सगर को वैराग्य ४६, निर्वाण ४७, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक ४७.

३. भगवान् श्री संभवनाथ—४६ से ५३

पूर्व भव ४६, तीर्थकर गोत्र का बंध ५०, जन्म ५०, नामकरण ५१, विवाह और राज्य ५१, दीक्षा ५१, निर्वाण ५२, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक ५२.

४. **भगवान् श्री अभिनंदन-५४ से ५७**
जन्म ५४, नामकरण ५५, विवाह और राज्य ५५, दीक्षा ५५, निर्वाण ५६
प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक ५६.
५. **भगवान् श्री सुमतिनाथ-५८ से ६३**
पूर्व भव ५८, जन्म ५९, नामकरण ५९, विवाह और राज्य ६१, निर्वाण ६२,
प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक ६२.
६. **भगवान् श्री पद्मप्रभ-६४ से ६७**
पूर्व भव ६४, जन्म ६४, विवाह और राज्य ६५, दीक्षा ६५, निर्वाण ६६, प्रभु
का परिवार, झलक व कल्याणक ६६.
७. **भगवान् श्री सुपाश्वर्चनाथ-६८ से ७१**
तीर्थकर गोत्र का बंध ६८, जन्म ६८, विवाह और राज्य ६९, दीक्षा ६९,
निर्वाण ६९, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक ७०.
८. **भगवान् श्री चंद्रप्रभ-७२ से ७५**
तीर्थकर गोत्र का बंध ७२, जन्म ७२, विवाह और राज्य ७३, दीक्षा ७३,
निर्वाण ७४, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक ७४.
९. **भगवान् श्री सुविधिनाथ-७६ से ७९**
तीर्थकर गोत्र का बंध ७६, जन्म ७६, दीक्षा ७७, निर्वाण ७७, तीर्थ विच्छेद
७७, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक ७८.
१०. **भगवान् श्री शीतलनाथ-८० से ८३**
तीर्थकर गोत्र का बंध ८०, जन्म ८०, दीक्षा ८१, निर्वाण ८२, प्रभु का
परिवार, झलक व कल्याणक ८३.
११. **भगवान् श्री श्रेयांसनाथ-८४ से ८७**
तीर्थकर गोत्र का बंध ८४, जन्म ८४, दीक्षा ८५, आर्य जनपद में प्रभाव
८५, निर्वाण ८५, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक ८७.
१२. **भगवान् श्री वासुपूज्य-८८ से ९१**
तीर्थकर गोत्र का बंध ८८, जन्म ८८, दीक्षा ९०, एक छत्र प्रभाव ९०,
निर्वाण ९०. प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक ९०.
१३. **भगवान् श्री विमल नाथ-९२ से ९५**
तीर्थकर गोत्र का बंध ९२, जन्म ९२, विवाह और राज्य ९३, दीक्षा ९३,
अप्रतिहत प्रभाव ९४, निर्वाण ९४, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक
९४.
१४. **भगवान् श्री अनन्तनाथ-९६ से ९९**
तीर्थकर गोत्र का बंध ९६, जन्म ९६, विवाह और राज्य ९७, दीक्षा ९७,

अप्रतिहत प्रभाव ६८, निर्वाण ६८, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक ६८.

१५. **भगवान् श्री धर्मनाथ**—१०० से १०६

तीर्थकर गोत्र का बंध १००, जन्म १००, विवाह और राज्य १०१, दीक्षा १०१, केवलज्ञान १०१, तेजस्वी धर्मसंघ १०२, चार शलाकापुरुष १०२, निर्वाण १०५, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक १०५.

१६. **भगवान् श्री शांतिनाथ**—१०७ से १११

दसवां तथा ग्यारहवां भव १०७, जन्म १०६, विवाह और राज्य १०६, दीक्षा ११०, निर्वाण ११०, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक ११०.

१७. **भगवान् श्री कुंथुनाथ**—११२ से ११५

तीर्थकर गोत्र का बंध ११२, जन्म ११२, विवाह और राज्य ११३, दीक्षा ११४, निर्वाण ११४, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक ११५.

१८. **भगवान् श्री अरनाथ**—११६ से ११८

तीर्थकर गोत्र का बंध ११६, जन्म ११६, विवाह और राज्य ११७, दीक्षा ११७, निर्वाण ११७, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक ११७.

१९. **भगवान् श्री मल्लिनाथ**—११६ से १२४

तीर्थकर गोत्र का बंध ११६, जन्म १२०, मित्रों को प्रतिबोध १२०, दीक्षा १२१, निर्वाण १२३, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक १२३.

२०. **भगवान् श्री मुनिसुव्रत**—१२५ से १२७

तीर्थकर गोत्र का बंध १२५, जन्म १२५, दीक्षा १२६, निर्वाण १२६, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक १२६.

२१. **भगवान् श्री नमिनाथ**—१२८ से १३१

तीर्थकर गोत्र का बंध १२८, जन्म १२८, विवाह और राज्य १२६, दीक्षा १२६, केवलज्ञान १३०, निर्वाण १३०, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक १३०.

२२. **भगवान् श्री अरिष्टनेमि**—१३२ से १५३

पहला व दूसरा भव १३२, तीसरा व चौथा भव १३२, पांचवां व छठा भव १३३, सातवां व आठवां भव १३३, जन्म १३५, हरिवंश की उत्पत्ति १३६, नेमि का पैतृक कुल १३७, बाल्यकाल १३७, जरासंध के युद्ध में १३७, अपरिमित बल १३८, रुक्मिणी आदि का नेमि के साथ बसंतोत्सव १४०, अभिनिष्क्रमण १४१, केवल ज्ञान १४२, राजीमती की विरक्ति १४२, देवकी का छह पुत्रों से मिलन १४४, गजसुकुमाल की मुक्ति १४६, उत्कृष्ट तपस्वी ढंढण १४७, द्वारिका-दहन की घोषणा १४८, मदिरा-निषेध १४६, दीक्षा की दलाली १४६, दीपायन का निदान १५०, तीर्थकरत्व की भविष्यवाणी १५०, बलराम की दीक्षा १५१, पांडवों की मुक्ति

१५२, निर्वाण १५२, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक १५३.

२३. भगवान् श्री पार्श्वनाथ—१५५ से १६६

प्रथम व द्वितीय भव १५५, तृतीय भव १५५, चौथा व पांचवां भव १५६, छठा व सातवां भव १५६, तीर्थंकर गोत्र का बंध १५७, जन्म १५८, विवाह १५६, नाग का उद्धार १६०, दीक्षा १६१, उपसर्ग १६३, केवल ज्ञान १६३, चातुर्याम धर्म १६४, अप्रतिहत प्रभाव १६४, निर्वाण १६४, प्रभु का परिवार, झलक व कल्याणक १६५.

२४. भगवान् श्री महावीर—१६७ से २२१

पहला भव	—	मनुष्य (नयसार)	१६७
दूसरा भव	—	स्वर्ग	१६८
तीसरा भव	—	मनुष्य (मरीचि)	१६८
चौथा भव	—	स्वर्ग	१६९
पांचवां भव	—	मनुष्य	१७०
छठा भव	—	मनुष्य	१७०
सातवां भव	—	स्वर्ग	१७०
आठवां भव	—	मनुष्य	१७०
नौवां भव	—	स्वर्ग	१७०
दसवां भव	—	मनुष्य	१७०
ग्यारहवां भव	—	स्वर्ग	१७०
बारहवां भव	—	मनुष्य	१७०
तेरहवां भव	—	स्वर्ग	१७०
चौदहवां भव	—	मनुष्य	१७०
पन्द्रहवां भव	—	स्वर्ग	१७०
सोलहवां भव	—	मनुष्य (विश्वभूति)	१७१
सतरहवां भव	—	स्वर्ग	१७३
अठारहवां भव	—	मनुष्य (वासुदेव)	१७३
उन्नीसवां भव	—	नरक	१७५
बीसवां भव	—	तिर्यच	१७५
इक्कीसवां भव	—	नरक	१७५
बाइसवां भव	—	मनुष्य	१७५
तेइसवां भव	—	मनुष्य (चक्रवर्ती)	१७६
चौबीसवां भव	—	स्वर्ग	१७६
पचीसवां भव	—	मनुष्य	१७६
छबीसवां भव	—	स्वर्ग	१७६

वैशाली का वैभव १७७, अवतरण १७८, गर्भ साहरण १७८, गर्भ में प्रतिज्ञा १७९, महावीर का जन्म १७९, इन्द्र की आशंका १७९, नगर में उत्सव १८०, बाल क्रीड़ा १८१, पाठशाला में १८१, विवाह १८२, दीक्षा १८२, प्रथम उपसर्ग १८४, उपसर्ग व कष्ट प्रधान साधना १८५, साधना का पहला वर्ष १८६, शूलपाणि यक्ष का उपद्रव १८७, स्वप्न-दर्शन १८७, साधना का दूसरा वर्ष १८८, चण्डकौशिक का उद्धार १८९, भगवान् का नौकारोहण १९०, धर्म चक्रवर्ती १९०, साधना का तीसरा वर्ष १९१, साधना का चौथा वर्ष १९१, साधना का पांचवां वर्ष १९१, साधना का छठा वर्ष १९२, साधना का सातवां वर्ष १९३, साधना का आठवां वर्ष १९३, साधना का नौवां वर्ष १९४, साधना का दसवां वर्ष १९४, साधना का ग्यारहवां वर्ष १९५, संगम के उपसर्ग १९५, जीर्ण सेठ की उत्कट भावना १९८, साधना का बारहवां वर्ष : चमरेन्द्र की शरण १९८, चंदना का उद्धार १९९, साधना का तेरहवां वर्ष : अंतिम भीषण उपसर्ग २००, केवल ज्ञान की प्राप्ति २०१, छद्मस्थ काल की साधना २०१, प्रथम देशना २०१, गणधरों की दीक्षा २०२, तीर्थ स्थापना २०४, सर्वज्ञता का दूसरा वर्ष : ऋषभदत्त व देवानंदा की दीक्षा २०४, सर्वज्ञता का तीसरा वर्ष २०४, सर्वज्ञता का चौथा वर्ष २०५, सर्वज्ञता का पांचवां वर्ष २०५, सर्वज्ञता का छठा वर्ष २०५, सर्वज्ञता का सातवां वर्ष २०६, सर्वज्ञता का आठवां वर्ष २०६, सर्वज्ञता का नौवां वर्ष २०७, सर्वज्ञता का दसवां वर्ष २०७, सर्वज्ञता का ग्यारहवां वर्ष २०७, सर्वज्ञता का बारहवां वर्ष २०७, सर्वज्ञता का तेरहवां वर्ष २०७, सर्वज्ञता का चौदहवां वर्ष २०८, सर्वज्ञता का पन्द्रहवां वर्ष २०८, गोशालक का मिथ्या प्रलाप २०८, भगवान् पर तेजोलेश्या का प्रयोग २१०, सिंह अणगार का रुदन २११, सर्वज्ञता का सोलहवां वर्ष २१२, सर्वज्ञता का सतरहवां वर्ष २१२, सर्वज्ञता का अठारहवां वर्ष २१२, सर्वज्ञता का उन्नीसवां वर्ष २१३, सर्वज्ञता का बीसवां वर्ष २१३, सर्वज्ञता का इक्कीसवां वर्ष २१३, सर्वज्ञता का बाइसवां वर्ष २१३, सर्वज्ञता का तेईसवां वर्ष २१३, सर्वज्ञता का चौबीसवां वर्ष २१३, सर्वज्ञता का पचीसवां वर्ष २१३, सर्वज्ञता का छब्बीसवां वर्ष २१४, सर्वज्ञता का सताइसवां वर्ष २१४, सर्वज्ञता का अट्ठाइसवां वर्ष २१४, सर्वज्ञता का उनतीसवां वर्ष २१४, सर्वज्ञता का तीसवां व अंतिम वर्ष २१४, अंतिम प्रवचन २१४, इन्द्र द्वारा आयु-वृद्धि की प्रार्थना २१५, निर्दाण २१५, गौतम स्वामी को केवल ज्ञान २१६, शरीर का संस्कार २१६, तीर्थ के बारे में प्रश्न २१६, महावीर का अप्रतिहत प्रभाव २१७, महावीर के प्रमुख सिद्धांत २१७, जातिवाद का विरोध २१७, महावीर की आयु एवं चातुर्मास २१६, प्रभु का परिवार. अलक व कल्याणक २२०-२२१.

चउवीसत्थव (चतुर्विंशतिस्तव)

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली ॥१॥
उसभमजियं च वंदे, संभवमभिनंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल सिज्जंस वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमि जिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥
एवं मए अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥५॥
कित्ति य वंदिय मए, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरोग्गबोहि लाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥६॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

प्रवेश

भारतीय संस्कृति एक प्राणवान् संस्कृति है। यह त्यागमय भावनाओं से अनुप्राणित है। इस उज्ज्वल संस्कृति में तीन धाराओं का मूल्यवान् योग रहा है—१ जैन, २ बौद्ध, ३ वैदिक।

ये तीनों धाराएं इसी भारत भूमि पर प्रसूत हुईं, पल्लवित व पुष्पित हुईं। इन तीनों ने भारतीय जन मानस को प्रभावित किया है और उसमें अपना स्थान बनाया है। आज भी भारतीय संस्कृति में त्याग, सहिष्णुता, धैर्य जैसे गुण समाये हुये हैं जो इन तीनों के मूल में हैं।

जैन धर्म की प्राचीनता

जैन धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है। 'जैन धर्म' नाम नया है। यह नाम भगवान् महावीर के बाद जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने प्रयुक्त किया है। यह नाम उनके विरचित ग्रंथ विशेषावश्यक भाष्य में उल्लिखित है। उसके बाद तो उत्तरवर्ती साहित्य में 'जैन' शब्द प्रचुर रूप में व्यवहृत हुआ है। इससे पूर्व भगवान् ऋषभ से भगवान् महावीर तक विभिन्न नामों से अभिहित होता रहा है। प्रारंभ में उसका नाम श्रमण धर्म था, फिर आर्हत धर्म हुआ। महावीर के युग में उसे निर्ग्रन्थ धर्म कहा जाता था।

सत्य की उपलब्धि में प्राचीन और नवीन का कोई महत्त्व नहीं होता। जिससे आत्म-साक्षात्कार हो सके, वही उपयोगी है। इतिहास की दृष्टि से पहले-पीछे का बड़ा महत्त्व है। यह प्राप्त प्रमाणों के आधार पर निःसंदेह कहा जा सकता है कि जैन धर्म प्राग्वैदिक है और बौद्ध अर्वाचीन है।

कई इतिहासवेत्ताओं में एक भ्रम पलने लगा है। कई जैन धर्म को वैदिक धर्म की शाखा मानते हैं तो कई बौद्ध धर्म की। यह भ्रम भगवान् महावीर को जैन धर्म का प्रवर्तक मानने से हुई है। जैन धर्म के प्रथम प्रवर्तक भगवान् ऋषभ थे। और महावीर अंतिम प्रवर्तक थे। उन्होंने प्राचीन परंपराओं को आगे बढ़ाया और समसामयिक विचारों को जनता के सामने प्रस्तुत किया। महात्मा बुद्ध महावीर के समकालीन थे, इसलिए यह अर्वाचीन सिद्ध हो जाता है। वैदिक मत में सबसे प्राचीन वेद है। विद्वान् लोग वेदों को पांच हजार साल पुराना मानते हैं। तिलक आठ हजार साल प्राचीन बताते हैं। वेदों में भगवान् ऋषभ, अरिष्टनेमि व श्रमणों का उल्लेख मिलता है, 'मुनयो वातरशनाः' अर्थात् उग्रतपस्वी मुनि के रूप में श्रमणों

को दर्शाया है। वेदों के बाद उपनिषदों, आरण्यकों, पुराणों में स्थान-स्थान पर इनका वर्णन उपलब्ध होता है। इन ग्रंथों की रचना से पूर्व जैन धर्म नहीं होता, भगवान् ऋषभ नहीं होते तो इनका उल्लेख कैसे होता?

जैन धर्म की अवधारणा

जैन धर्म में पुरुषार्थ को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। यह धर्म भौतिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति हटाकर व्यक्ति को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करता है। स्वार्थ को नहीं परमार्थ की भावना को उजागर करता है। प्रवृत्ति के स्थान पर निवृत्ति का राजपथ दिखाता है। भोग की जगह त्याग की भावना पर बल देता है। जैन दर्शन आत्म कर्तृत्ववाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, प्रत्येक आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करता है और पुनर्जन्म में विश्वास रखता है। हर आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति की बात कहता है। हर छोटे-बड़े जीव को समान दृष्टि से देखता है। जातिवाद को अतात्त्विक मानता है। जैन धर्म में सिद्धान्तों की स्पष्टता के साथ साधना के प्रचुर प्रयोगों का उल्लेख है। यहां ज्ञान, दर्शन व चारित्र मूलक प्रवृत्तियों को उपयोगी माना है।

अध्यात्म को प्रमुखता

जिस प्रकार शिव के नाम पर शैव धर्म, विष्णु के नाम पर वैष्णव धर्म व बुद्ध के नाम पर बौद्ध धर्म प्रचलित हुआ, वैसे ही जिन के नाम पर जैन धर्म प्रचलित हुआ। पर शिव, विष्णु व बुद्ध के विपरीत 'जिन' शब्द किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। यह उस आध्यात्मिक शक्ति का संबोधक शब्द है जिसमें व्यक्ति ने राग-द्वेष या प्रियता-अप्रियता की स्थिति से अपने आपको उपरत कर लिया है। जैन धर्म का प्रमुख मंत्र है-'नमस्कार-महामंत्र'। इसमें किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार नहीं किया गया है। मात्र आत्म-संपदा से संपन्न उन्हीं विभूतियों को नमस्कार किया जाता है जो वर्ण, लिंग, जाति की सीमा से ऊपर है। जैन धर्म की यह सुस्पष्ट अवधारणा है कि कोई व्यक्ति अपनी आत्मा के उत्कर्ष से महापुरुष बन सकता है, अर्हत् या तीर्थकर बन सकता है।

देश, काल आदि के अनुसार शब्द बदलते रहे हैं, पर शब्दों के बदलते रहने से जैन-धर्म अर्वाचीन नहीं हो सकता। काल की दृष्टि से इस अवसर्पिणी में उसका संबंध भगवान् ऋषभदेव से है।

अवतारवाद का निषेध

जैन धर्म अवतारवाद में विश्वास नहीं करता। उसकी यह स्पष्ट अवधारणा है कि तीर्थकर भी एक सामान्य बच्चे की तरह ही जन्म लेते हैं किंतु अपने पुरुषार्थ व आध्यात्मिक बल पर वे तीर्थकर के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। वैदिक परंपरा अवतारवाद में विश्वास रखती है। अवतारवाद का सीधा अर्थ है-ईश्वर का मानव

के रूप में अवतरित होना या जन्म लेना। गीता की दृष्टि में अवतार लेने का एक मात्र उद्देश्य है कि इस सृष्टि में चहुं ओर जब अधर्म का साम्राज्य फैल जाता है, उसे छिन्न-भिन्न कर साधुओं का परित्राण व दुष्टों का नाश कर धर्म की स्थापना करना। वैदिकों के ईश्वर को स्वयं राग-द्वेष से मुक्त रहकर भी भक्तों के लिए राग व द्वेष जन्य कार्य करना पड़ता है। जन-हित के लिए संहार का कार्य भी करना पड़ता है। ईश्वर को मानव बनकर पुण्य-पाप करने पड़ते हैं। इसे वे लोग भगवान् की लीला के रूप में चित्रित करते हैं। जैन धर्म का इस अवतारवाद में विश्वास नहीं है। सिद्धत्व या ईश्वरत्व प्राप्त आत्मा पुनः कभी भी सकर्मा नहीं बनती। ऐसी स्थिति में वह न जन्म लेती है न ही राग-द्वेष मूलक प्रवृत्तियों में संलग्न होती है। यह सुनिश्चित है कि प्रत्येक व्यक्ति साधना के द्वारा आंतरिक शक्तियों का विकास कर तीर्थकर या केवली बन सकता है।

कालचक्र

जैन धर्म के अनुसार सृष्टि अनादि काल से गतिशील है। इसकी न ही आदि है और न ही अंत। वैदिक परंपरा इसे ईश्वरकृत मानती है। जैन धर्म की यह स्पष्ट अवधारणा है कि यह दृश्यमान जगत् परिणामी नित्य है। द्रव्य की अपेक्षा से यह नित्य और ध्रुव है, पर पर्याय की अपेक्षा से यह प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। जिस प्रकार दिवस के बाद रात्रि व रात्रि के बाद दिवस आता है। वर्ष में छह ऋतुएं होती हैं और वे एक निश्चित समय-सीमा के साथ परिवर्तित होती रहती हैं। काल (Time) का क्रम भी निरंतर बदलता रहता है। दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, युग आदि के रूप में जीवों के कभी सुख व कभी दुःख का दौर चलता है। वह कभी उत्कर्ष का वरदान प्राप्त करता है तो कभी अपकर्ष का अभिशाप भी। ये सब अनादिकालीन है, इनकी संतति निरंतर चल रही है। संसार के अपकर्ष व उत्कर्षमय काल को जैन धर्म में क्रमशः अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी कहा गया है। जो काल क्रमशः ह्रास की ओर उन्मुख होता है वह अवसर्पिणी तथा जो विकास की ओर अग्रसर होता है वह उत्सर्पिणी काल कहा जाता है।

अवसर्पिणी काल के छह विभाग हैं जिन्हें अर कहा गया है। सर्प के मुंह से पूंछ तक क्रमशः पतलापन रहता है उसी तरह इन विभागों का काल क्रमशः संकुचित होता चला जाता है। छह विभाग इस प्रकार हैं—

- | | |
|--------------|--|
| १. सुषमसुषमा | चार करोड़ा करोड़ सागर |
| २. सुषमा | तीन करोड़ा करोड़ सागर |
| ३. सुषमदुषमा | दो करोड़ा करोड़ सागर |
| ४. दुषमसुषमा | बयालीस हजार वर्ष कम एक करोड़ा करोड़ सागर |
| ५. दुषम | इक्कीस हजार वर्ष |

६. दुषमदुषमा

इक्कीस हजार वर्ष

उत्सर्पिणी काल में ये ही छह विभाग उल्टे क्रम से होते हैं। सर्प की पूंछ से मुंह तक क्रमशः मोटापन रहता है उसी तरह इन विभागों का काल क्रमशः वृद्धिगत होता चला जाता है। अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी इन दोनों को कालचक्र कहते हैं। कालचक्र की अवधि बीस करोड़ करोड़ सागर की होती है।

यौगलिक युग (अरण्य युग)

यौगलिक युग में मनुष्य श्रम के आदी नहीं थे। उस समय पृथ्वी उत्कृष्ट रूप, रस, गंध, स्पर्श से युक्त थी। यौगलिक युग के मनुष्य को यौगलिक कहा जाता था क्योंकि वे युगल रूप में उत्पन्न होते थे। उनको श्रम करने की जरूरत नहीं रहती थी। बिना श्रम किए खाने, पीने, रहने आदि की समस्त अपेक्षाएं कल्पवृक्षों से पूरी हो जाती थी। कल्पवृक्ष भी इतने थे कि किसी को उन्हें अपने अधिकार में करने की इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती थी। जिस किसी को भूख लगी, वृक्ष से फल तोड़े और खाये। पत्ते तोड़े और पहने। फूल तोड़े और श्रृंगार सजा। कहीं कोई बाधा नहीं थी। उन्हें किसी वस्तु का संग्रह करने की जरूरत नहीं थी।

कल्पवृक्ष दस प्रकार के होते थे जो उन यौगलिकों के काम आते थे। वे इस प्रकार हैं—

- | | |
|---------------|---------------------------------------|
| १. मत्तंग | —मद्य सदृश रस को देने वाले |
| २. भृगांग | —पात्र-भाजन देने वाले |
| ३. त्रुटितांग | —आमोद-प्रमोद के लिए वाद्य देने वाले |
| ४. दीपांग | —प्रकाश देने वाले |
| ५. ज्योति | —उष्णता प्रदान करने वाले |
| ६. चित्रांग | —विविधवर्णी पुष्प देने वाले |
| ७. चित्तरस | —अनेक रस देने वाले |
| ८. माणियंग | —चमकदार आभूषणों की संपूर्ति करने वाले |
| ९. गेहागार | —गृह आकार वाले |
| १०. अनग्न | —वस्त्र आपूर्ति करने वाले |

यौगलिक-जीवन के मुख्य तथ्य

- ० यौगलिक पुरुष एवं स्त्री का एक साथ जन्म होता और एक साथ ही मृत्यु को प्राप्त होते।
- ० भाई-बहिन, पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री के अतिरिक्त कोई पारिवारिक संबंध नहीं था।
- ० राजा-प्रजा की कोई व्यवस्था नहीं थी।
- ० समाज नहीं था।

- ० घर, गांव, कस्बे व शहर नहीं थे।
- ० संग्रह व विग्रह का कहीं स्थान नहीं था।
- ० अस्त्र-शस्त्र नहीं थे।
- ० स्थूल अग्नि नहीं थी।
- ० अपक्वभोजी थे।
- ० रोग व बुढ़ापा नहीं सताता था।
- ० उपघात (अकाल मृत्यु) नहीं थी।
- ० गाय, भैंस, अश्व आदि पालतु पशु नहीं थे।
- ० क्रियात्मक शिक्षा नहीं थी।
- ० सामायिक, पौषध आदि क्रियात्मक धर्म नहीं था।
- ० करोड़ पूर्व से अधिक आयुष्य होता था।
- ० असि, मषि व कृषि कर्म नहीं था।

यौगलिकों का जीवन स्तर समान था, अतः किसी में ईर्ष्या नहीं थी। ऊंच-नीच की भावना नहीं थी। सभी समान रूप से प्रकृति की गोद में पलने वाले थे। जनसंख्या सीमित थी। हर युगल-दम्पति के एक ही युगल पुत्र-पुत्री के रूप में उत्पन्न होता था। बचपन में वे भाई-बहिन के रूप में रहते। जीवन के संध्याकाल में वे एक युगल (पुत्र-पुत्री) को जन्म देते और कुछ ही समय में वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते। यह क्रम पूरे यौगलिक काल में चलता रहा था।

कुलकर व्यवस्था

अवसर्पिणी के पहले, दूसरे व तीसरे अर के आधे से अधिक समय तक उपरोक्त व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रही। उसके बाद इस व्यवस्था में ह्रास शुरू हो गया। पृथ्वी के रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि का पूर्वापेक्षया ह्रास हो गया। कल्पवृक्षों के क्रमिक विलोप होने से खाने-पीने, रहने तथा अन्य जीवनोपयोगी सामग्री अपेक्षा से कम उपलब्ध होने लगी। जब कभी व्यक्ति के जीवनोपयोगी वस्तुओं का अभाव होता है तो भयावह स्थिति पैदा हो जाती है। इससे जन मानस आंदोलित हो जाता है।

यौगलिकों के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। वे अभाव की पीड़ा से अपरिचित थे। उन्हें सुखद व्यवस्था का छिन्न-भिन्न होना अस्वाभाविक लगा। ज्योंही उनके सामने अभाव की स्थिति आई, सब चिंतित हो गये। 'संग्रह' शब्द उनके शब्दकोष में नहीं था, अतः फलों का प्रबंध करना उनके लिए कठिन हो रहा था। वृक्ष सूखने लगे, फलों की मात्रा कम हो गई अंततः फलों को हथियाने की भावना पनप उठी। उन्होंने अधिकाधिक संख्या में वृक्षों पर अधिकार करना शुरू कर दिया, छीना-झपटी चलने लगी। पूरे यौगलिक क्षेत्र में आतंक व्याप गया। घनघोर अव्यवस्था छा गई।

अव्यवस्था से व्यवस्था का जन्म होता है। अराजकता से पीड़ित यौगलिक एकत्रित हुए। उन्होंने मिलकर छोटे-छोटे कुलों के रूप में अपनी व्यवस्था बनाई और कुलों की व्यवस्था को करने वाले 'कुलकर' कहकर पुकारे जाने लगे। कुलकर की हर बात को मानने के लिए वे संकल्पबद्ध बने।

मुख्य कुलकरों के नाम इस प्रकार हैं—

- | | |
|--------------|---------------|
| १. विमलवाहन | २. चक्षुष्मान |
| ३. यशस्वी | ४. अभिचन्द्र |
| ५. प्रसेनजित | ६. मरुदेव |
| ७. नाभि | |

कुलकरों की संख्या के बारे में ग्रंथकारों के बीच मतभेद हैं। स्थानांग, समवायांग एवं भगवती सूत्र में सात कुलकरों के नाम आए हैं। जंबू द्वीप प्रज्ञप्ति में पन्द्रह कुलकरों का उल्लेख है।

तीसरे अर का जब पत्न्योपम का आठवां भाग शेष रहा, तब सात कुलकर उत्पन्न हुए। प्रथम कुलकर विमलवाहन हुए। आवश्यक निर्युक्ति में वर्णन आता है कि वन में एक श्वेत हाथी ने एक मानव युगल को देखा। देखते ही पूर्व जन्म के स्नेह से उसने उस युगल को अपनी पीठ पर बैठा लिया। उसे इस तरह गजारूढ़ देख यौगलिकों ने सोचा—'यह मनुष्य हमसे अधिक शक्तिशाली है।' उज्ज्वल वाहन वाला होने के कारण उसे विमलवाहन कहने लगे।

दंड व्यवस्था

कल्पवृक्षों की कमी से जो शांति भंग हो गई थी, अव्यवस्था हो गई थी उसे सुव्यवस्थित करने के लिए यौगलिकों ने विमलवाहन को अपना नेता बना लिया। यही प्रथम कुलकर के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने सबके लिए एक निश्चित संविधान बनाया और उसका उल्लंघन करने वालों के लिए दंड देने की घोषणा की। इसके लिए विमलवाहन ने 'हाकार' दंड की स्थापना की। जब कोई यौगलिक मान्य मर्यादा का अतिक्रमण करता तो उसे इतना मात्र कहा जाता —'हा! तूने यह काम किया है' बस इतना कहना ही उनके लिए कठोर दंड होता था। वह इससे अपने आपको लांछित मानता था। इस दंड का काफी समय तक असर रहा।

पहले व दूसरे कुलकर तक यह 'हाकार' दंड विधि प्रभावी रही। जब अपराधी को 'हा' कहने से काम नहीं चला, तब कुछ उच्च स्वर में कहा जाता 'मा' अर्थात् मत करो और इससे लोग अपराध करना छोड़ देते। यह 'माकार' दंड व्यवस्था तीसरे व चौथे कुलकर तक चली। हाकार और माकार के निष्प्रभावी होने से 'धिककार' दंड व्यवस्था का आविर्भाव हुआ। यह व्यवस्था पांचवें से सातवें कुलकर तक चलती रही।

यौगलिकों की समस्याओं को इन तीन दंड विधियों से कुलकर समय-समय पर सुलझाते रहे। यौगलिकों के सामने खाद्य-समस्या थी। कल्पवृक्षों की कमी और उस कारण फलों की अल्पता का जो दौर चल रहा था उसका कोई सार्थक उपाय नहीं सोचा गया। इसी कारण ये दंड विधियां सातवें कुलकर नाभि के समय निस्तेज हो गई जिससे नियंत्रण ढीला हो गया। छीना-झपटी में यकायक बढ़ोतरी हो गई। नाभि कुलकर के पास आए दिन यौगलिकों की ये समस्याएं आने लगीं। इनका निराकरण न कर पाने के कारण नाभि खिन्न मना हो गए। उस समय ऋषभ का अवतरण हुआ।

तीर्थकर की महत्ता

जैन धर्म में सर्वथा कर्ममुक्त आत्म-शक्ति संपन्न विभूति सिद्ध है। वह शरीर, जन्म-मरण, भौतिक सुख-दुःख से मुक्त है। जैन साधना पद्धति का चरम लक्ष्य सिद्धत्व प्राप्ति ही है। अर्हत् जैन धर्म के मुख्य धुरी होते हैं। वे चार कर्म का क्षय कर सर्वज्ञ की भूमिका पा लेते हैं। अर्हत् जन-कल्याण के महनीय उपक्रम के मुख्य संवाहक होते हैं। उनके द्वारा बोले गए हर बोल छद्मस्थ मुनियों व धर्म शासन के लिए पथ-दर्शक बन जाते हैं। इसी वजह से नमस्कार महामंत्र में अर्हतों को सिद्धों की अपेक्षा (संपूर्ण आत्म-उज्ज्वलता होने पर भी) पहले नमस्कार किया गया है। अर्हत्, जिन, तीर्थकर आदि पर्यायवाची शब्द हैं।

सर्वज्ञ व तीर्थकर में आत्म-उपलब्धि की दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। दोनों केवल-ज्ञान व केवल-दर्शन को संप्राप्त हैं। फिर भी दोनों में कुछ मौलिक अंतर हैं—

तीर्थकर

- पहले पद में होते हैं।
- नाम कर्म का उदय
- नरक व देवगति से आये हुए ही बनते हैं।
- वेदनीय कर्म शुभ-अशुभ दोनों अवशिष्ट तीन अघाति कर्म एकांत शुभ होते हैं।
- १, २, ३, ५, ११ वां गुणस्थान स्पर्श नहीं होता।
- केवली समुद्घात नहीं होता।
- संस्थान-समचतुरस्त्र
- १५ कर्म भूमि में होते हैं उसमें भी आर्य क्षेत्र में ही होते हैं।

सर्वज्ञ

- पांचों पद में होते हैं।
- क्षायिक भाव से प्राप्त
- चारों गतियों से आकर बन सकते हैं।
- आयुष्य एकान्त शुभ, शेष शुभ-अशुभ दोनों होते हैं।
- केवल ११ वां गुणस्थान स्पर्श नहीं करते।
- हो सकता है।
- छह में से कोई भी
- साहरण की अपेक्षा अढ़ाई द्वीप में कहीं भी

- | | |
|---|--|
| ० दो का मिलन नहीं होता | मिलन हो सकता है। |
| ० स्वयंबुद्ध होते हैं। | स्वयंबुद्ध के साथ बुद्ध बोधित भी होते हैं। |
| ० इनके गणधर होते हैं। | नहीं होते हैं। |
| ० संख्या में जघन्य २० उत्कृष्ट १७० होते हैं। | जघन्य २ करोड़ उत्कृष्ट ९ करोड़ होते हैं। |
| ० अवगाहना-जघन्य ७ हाथ उत्कृष्ट ५०० धनुष्य होती है। | जघन्य २ हाथ उत्कृष्ट ५०० धनुष्य हाती है। |
| ० आयुमान-जघन्य ७२ वर्ष उत्कृष्ट ८४ लाख पूर्व | जघन्य ९ वर्ष, उत्कृष्ट १ करोड़ पूर्व |
| ० उपसर्ग नहीं आते। | आ सकते हैं। |
| ० चौतीस अतिशय होते हैं। | नहीं होते |
| ० पैंतीस वचनातिशय होते हैं। | नहीं होते |
| ० अमूक होते हैं। | मूक-अमूक दोनों होते हैं। |
| ० चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं। | नहीं करते |
| ० पांच कल्याणक होते हैं। | नहीं होते |
| ० दीक्षा स्वीकारते ही मनः पर्यव ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। | कोई नियम नहीं |
| ० गर्भ में भी अवधि ज्ञानी | कोई नियम नहीं |
| ० चौदह महास्वप्न से जन्म लेते हैं | कोई नियम नहीं |
| ० पूर्व जन्म में दो भव से नियमतः सम्यग् दृष्टि होते हैं। | कोई नियम नहीं |

‘तीर्थकर’ की मीमांसा

‘तीर्थकर’ शब्द जैन साहित्य का पारिभाषिक शब्द है। आगमों व आगमेतर ग्रंथों में इसका प्रचुर मात्रा में उल्लेख हुआ है। जो तीर्थ का कर्ता होता है उसे तीर्थकर कहते हैं। जो संसार—समुद्र से तिरने में योगभूत बनता है वह तीर्थ अर्थात् प्रवचन होता है। उस प्रवचन को साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका धारण करते हैं। उपचार से इस चतुर्विध संघ को भी तीर्थ कहा गया है। इनके निर्माता को तीर्थकर कहा जाता है जिनके तीर्थकर नामकर्म का उदय होता है वे तीर्थकर बनते हैं।

तीर्थकर चौबीस ही क्यों

जैन भूगोल में अढ़ाई द्वीप क्षेत्र का वर्णन आता है (१) जंबू द्वीप (२) धातकी खंड (३) अर्धपुष्कर द्वीप। इन अढ़ाई द्वीप क्षेत्रों में पन्द्रह कर्म भूमि है—

पांच भरत, पांच एरावत व पांच महाविदेह। इनके १७० भूभाग ऐसे हैं जहां

तीर्थकर हो सकते हैं। एक समय में न्यूनतम २० व अधिकतम १७० तीर्थकर हो सकते हैं। किंतु सर्वज्ञों की संख्या नौ करोड़ मानी गई है। इनमें मात्र दस भूभाग (पाँच भरत पाँच एरावत) ऐसे हैं जहाँ अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी रूप काल चक्र चलता है। एक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी में २४-२४ तीर्थकर होते हैं। महाविदेह क्षेत्रों में काल का यह रूप नहीं है। वहाँ एक सदृश (अवसर्पिणी के चौथे अर के समान) काल रहता है। वहाँ तीर्थकर की निरन्तर विद्यमानता है। वहाँ धर्म का स्थायी रूप रहता है पर भरत एवं एरावत में ऐसा नहीं होता। इसका कारण है-एक तीर्थकर होने के बाद दूसरे तीर्थकर उत्पन्न होने के बीच का समय स्वभावतः निर्धारित है। उस अन्तराल को जोड़ने से तीर्थकरों के उत्पन्न होने का समय ही समाप्त हो जाता है। हर उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में एक करोड़ा करोड़ सागरोपम का समय माना गया है इसलिए चौबीस तीर्थकरों के ही होने का अवकाश है, ज्यादा नहीं। शेष एक सौ साठ क्षेत्र महाविदेह में आ जाते हैं, वहाँ अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल नहीं है। एक तीर्थकर के बाद दूसरे तीर्थकर का अभ्युदय हो जाता है।

अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में धर्म की सर्वप्रथम देशना देने वाले भगवान् ऋषभ हैं इसलिए वे इस अवसर्पिणी काल के प्रथम धर्म प्रवर्तक हैं। तीर्थकर सर्वज्ञ ही होते हैं। सर्वज्ञ कभी दूसरे का अनुकरण नहीं करते। वे जिस सत्य का उद्घाटन करते हैं उसी का नाम तीर्थ प्रवर्तन है। परंपरा का वहन तो छद्मस्थ करते हैं। उनके लिए यह जरूरी भी है और उपयोगी भी। सभी तीर्थकर अपने ढंग से तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं इसलिये वे सभी प्रवर्तक हैं संवाहक नहीं। संवाहक आचार्य होते हैं।

तीर्थकर गोत्र बंध के कारण

तीर्थकर वे ही बनते हैं जिन्होंने पूर्व भव में तीर्थकर नाम कर्म की प्रकृति का उपार्जन किया हो। यह कर्म प्रकृति बंधकारक है तदपि यह विशिष्ट साधना, तपस्या आदि से कर्म-क्षय के साथ स्वयमेव बंधने वाली कर्म प्रकृति है। यह पुण्य की उत्कृष्ट प्रकृति है। जैन आगम ज्ञाताधर्मकथा में तीर्थकर गोत्र कर्म बंध के बीस कारण बताए गये हैं। वे इस प्रकार हैं-

१. अर्हत् के प्रति भक्ति
२. सिद्ध के प्रति भक्ति
३. प्रवचन के प्रति भक्ति
४. गुरु की उपासना-सेवा करना
५. स्थविर की उपासना-सेवा करना
६. बहुश्रुत की उपासना-सेवा करना
७. तपस्वी मुनि की उपासना-सेवा करना

८. ज्ञान में निरंतर उपयोग रखना
९. दोष रहित सम्यक्त्व की अनुपालना करना
१०. गुणीजनों का विनय करना
११. विधिपूर्वक आवश्यक (प्रतिक्रमण आदि) करना
१२. शील और व्रत का निरतिचार पालन करना
१३. वैराग्य भाव में वृद्धि करना
१४. तप व त्याग में संलग्न होना
१५. अग्लान भाव से वैयावृत्य करना
१६. समाधि उत्पन्न करना
१७. अपूर्व ज्ञान का अभ्यास करना।
१८. वीतराग-वचनों पर गहन आस्था रखना
१९. सुपात्र दान देना
२०. जिन-शासन की प्रभावना करना

यह आवश्यक नहीं है कि उपरोक्त बीस ही कारणों के सेवन से तीर्थकर नाम कर्म का बंध होता है कोई एक, दो कारण के साथ उत्कृष्ट साधना व भावों की उच्चता से भी तीर्थकर नाम कर्म की प्रकृति का उपार्जन कर सकता है।

धर्मशासन की स्थापना

तीर्थकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह रूप धर्म की प्ररूपणा करते हैं। वे इसके महाव्रत स्वरूप की व्याख्या करते हैं। जो इसके महाव्रत स्वरूप (संपूर्णतः) को अंगीकार करते हैं वे साधु-साध्वी की कोटि में आते हैं। जो इसके अनुव्रत स्वरूप (अंशतः) को स्वीकार करते हैं वे श्रावक-श्राविका की भूमिका में आते हैं। तीर्थकर एक ऐसी धर्मशासना की स्थापना कर देते हैं जिसका अवलंबन लेकर लाखों भव्यात्माएं अपने आत्म-कल्याण का पथ प्रशस्त कर लेती हैं।

द्वादश गुण

तीर्थकरों के क्षायिक भाव के साथ-साथ पुण्य प्रकृतियों का भी भारी उदय होता है। उनके बारह विशेष गुणों में प्रथम चार क्षायिक भाव हैं और अवशिष्ट आठ उदय जन्य है। बारह गुणों के नाम इस प्रकार हैं—

- | | |
|-------------------|-----------------|
| १. अनन्त ज्ञान | २. अनन्त दर्शन |
| ३. अनन्त चारित्र | ४. अनन्त बल |
| ५. अशोक वृक्ष | ६. पुष्प वृष्टि |
| ७. दिव्य ध्वनि | ८. देव दुंदुभि |
| ९. स्फटिक सिंहासन | १०. भामंडल |
| ११. छत्र | १२. चामर |

इसी प्रकार तीर्थकरों को चौतीस अतिशय (विशेषताएं), पैंतीस वचनातिशय (वाणी की विशेषताएं) सहज प्राप्त होती हैं। दूसरे सर्वज्ञों में इनका होना आवश्यक नहीं है। ये विशेषताएं उनमें मिलती भी नहीं है। किसी में दो, किसी में चार विशेषताएं मिल जाये तो लोगों में उसका भी आश्चर्य जनक प्रभाव रहता है। तीर्थकर तो पूर्ण अतिशयों के धारक होते हैं।

चौतीस अतिशय

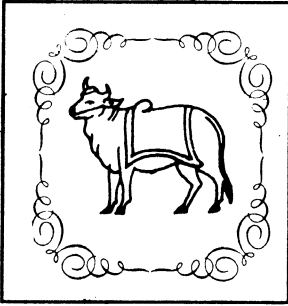
१. देह— अद्भुत रूप व गंध वाला, निरोग, पसीना व मल रहित।
२. श्वास—कमल जैसी सुगंध।
३. रुधिर मांस— गाय के दूध की भांति सफेद।
४. आहार-नीहार विधि- यह अदृश्य होती है।
ये चार तीर्थकर के जन्म से ही प्राप्त होते हैं।
५. एक योजन प्रमाण क्षेत्र में भी बहुत बड़ी संख्या में मनुष्य, देव और तिर्यंच रह सकते हैं।
६. वाणी—अर्धमागधी भाषा में दिया हुआ प्रवचन सभी मनुष्य एवं पशु-पक्षी भी समझ लेते हैं।
७. भामंडल— मस्तक के पीछे अति देदीप्यमान सुंदर प्रभामंडल होता है।
८. रुजा— तीर्थकर जहां प्रवासित होते हैं वहां से एक सौ पचीस योजन तक रोग नहीं होता।
९. वैर —एक सौ पचीस योजन तक परस्पर वैर भाव नहीं होता।
१०. ईति— धान्य आदि को नुकसान पहुंचाने वाले चूहे, कीट आदि की उत्पत्ति एक सौ पचीस योजन तक नहीं होती।
११. मारी— एक सौ पचीस योजन तक महामारी नहीं होती या अकाल मौत नहीं होती।
१२. अतिवृष्टि— एक सौ पचीस योजन तक अतिवृष्टि नहीं होती।
१३. अनावृष्टि— एक सौ पचीस योजन तक बरसात न हो ऐसा नहीं होता।
१४. दुर्भिक्ष— एक सौ पचीस योजन तक दुष्काल नहीं पड़ता।
१५. भय— एक सौ पचीस योजन तक किसी प्रकार का भय नहीं होता।
ये ११ अतिशय कर्म क्षय से प्राप्त होते हैं।
१६. आकाश में धर्मचक्र चलता है
१७. आकाश में चमर वीजन होता है।
१८. पादपीठिका सहित उज्ज्वल स्फटिक मय सिंहासन होता है।
१९. आकाश में तीन छत्र होते हैं।
२०. आकाश में रत्नमय ध्वजा फहराती है।

२१. स्वर्ण कमल पर पैर धर कर चलते हैं।
२२. स्वर्ण, रजत व रत्नमय समवसरण की रचना होती है। किला (गढ़) होता है।
२३. समवसरण में चारों दिशाओं में चार मुख दिखाई देते हैं।
२४. जहां ठहरते हैं या बैठते हैं वहां अशोक वृक्ष प्रकट होता है।
२५. कांटे औंधे हो जाते हैं।
२६. वृक्ष नम/झुक जाते हैं।
२७. दुंदुभि नाद होता है।
२८. अनुकूल हवा चलती है।
२९. पक्षी प्रदक्षिणा करते हैं।
३०. सुगंधित पानी की वर्षा होती है।
३१. उत्तम जाति व रंगों के फूलों की वृष्टि होती है।
३२. केश, दाढ़ी, मूँछ व नख नहीं बढ़ते।
३३. चारों ही प्रकारों के देवों में (व्यन्तर, भवनपति, ज्योतिषी व वैमानिक) कम से कम एक करोड़ देवता सेवा करते हैं।
३४. ऋतुओं की अनुकूलता रहती है तथा मनोज्ञ शब्द, रूप गंध, रस व स्पर्श रूप इंद्रिय विषय अनुकूल रहते हैं।
- ये उन्नीस अतिशय देवकृत होते हैं।
- इस तरह जन्म के साथ चार, कर्म क्षय से ग्यारह व देवकृत उन्नीस (४+११+१९=३४) कुल चौतीस अतिशय होते हैं।

पैंतीस वचनातिशय

१. संस्कारवत्त्व — सुसंस्कृत वाणी अर्थात् भाषा व व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष होना।
२. औदात्य — उदात्त स्वर अर्थात् स्वर का ऊंचा होना।
३. उपचारपरीतता — ग्राम्य-दोष से रहित होना।
४. मेघगंभीर घोष — आवाज में मेघवत् गंभीरता होना।
५. प्रतिनाद — वाणी का प्रतिध्वनि सहित होना।
६. दक्षिणत्व — भाषा का सरल होना।
७. उपनीत रागत्व — मालकोश रागयुक्त होना।
८. महार्थता — विशाल अर्थ वाली, थोड़े में अधिक कहना।
९. अव्याहतत्व — वाणी में पूर्वापर विरोध न होना।
१०. शिष्टत्व — शिष्ट भाषा का होना।

११. असंदिग्धत्व — संदेह रहित भाषा ।
 १२. निराकृतान्योत्तरत्व — वचन का दूषण रहित होना ।
 १३. हृदयंगमता — आकर्षक व मनोहर वाणी ।
 १४. मिथः साकांक्षता — देश, काल की अनुसारिणी वाणी ।
 १५. देशकालाव्यतीतत्व — देश, काल के अनुरूप अर्थ कहना ।
 १६. तत्त्वनिष्ठता — विवक्षित वस्तु का जो स्वरूप हो उसी के अनुसार उसका व्याख्यान करना ।
 १७. अप्रकीर्णप्रसृतत्व — अति विस्तार रहित संबद्ध भाषा का प्रयोग ।
 १८. अस्वश्लाघान्यनिन्दिता — स्व प्रशंसा व पर निन्दा रहित वचन ।
 १९. आभिजात्य — वक्ता व प्रतिपाद्य भाव का उचित होना ।
 २०. अतिस्निग्ध मधुरत्व — अति स्नेह व माधुर्य से परिपूर्ण वाणी ।
 २१. प्रशस्यता — प्रशंसा योग्य भाषा ।
 २२. अमर्मवेधिता — दूसरों के मर्म का प्रकाशन न करने वाली भाषा ।
 २३. औदार्य — उदार वाणी ।
 २४. धर्मार्थप्रतिबद्धता — श्रुत चारित्र्य रूप धर्म व मोक्ष रूप अर्थ से संबद्ध होना ।
 २५. कारकाद्यविपर्यास — कारक, काल, वचन, लिंग आदि के विपर्यास रूप दोष से रहित ।
 २६. विभ्रमादिवियुक्तता — भ्रांति, विक्षेप रहित वाणी ।
 २७. चित्रकृत्व — निरन्तर आश्चर्य उत्पन्न करने वाली वाणी ।
 २८. अद्भुतत्व — अद्भुत-विस्मयकारी वाणी ।
 २९. अनतिविलम्बिता — विलंब रहित-धारा प्रवाह वाणी ।
 ३०. अनेकजाति वैचित्र्य — प्रतिपाद्य की विविधता होने से वाणी में विचित्रता होना ।
 ३१. आरोपितविशेषता — विशेषण-उपमा से यथावत् व्यक्त करना ।
 ३२. सत्त्वप्रधानता — ओजस्वी-साहसिक वाणी ।
 ३३. वर्णपदवाक्यविविक्तता — वर्ण, पद और वाक्यों का अलग-अलग होना ।
 ३४. अव्युच्छित्ति — व्यक्ति के पूर्ण रूप से समझने तक उसका व्याख्यान करते रहना ।
 ३५. अखेदित्व — उपदेश देते हुए थकावट अनुभव न करना ।
 ये पैंतीस उनके प्रवचन-व्याख्यान-उपदेश की अतिशय-विशेषताएं होती हैं ।



(१)

भगवान् श्री ऋषभदेव

भगवान् ऋषभ का जन्म यौगलिक (अरण्य) संस्कृति के अंत में हुआ था। यौगलिक व्यवस्था उस समय छिन्न-भिन्न हो रही थी। समुचित व्यवस्था देने वाला कोई नहीं था। कुलकरों ने जो व्यवस्था की, वह कुछ समय के बाद प्रभावहीन व निस्तेज होती गई। नित नई उलझनें बढ़ती जा रही थी। स्वयं नाभि कुलकर भी किसी तरह इस दागित्वपूर्ण पद से छुटकारा पाना चाहते थे। कहीं कोई समाधान नजर नहीं आ रहा था। उस समय भगवान् ऋषभ का जन्म हुआ।

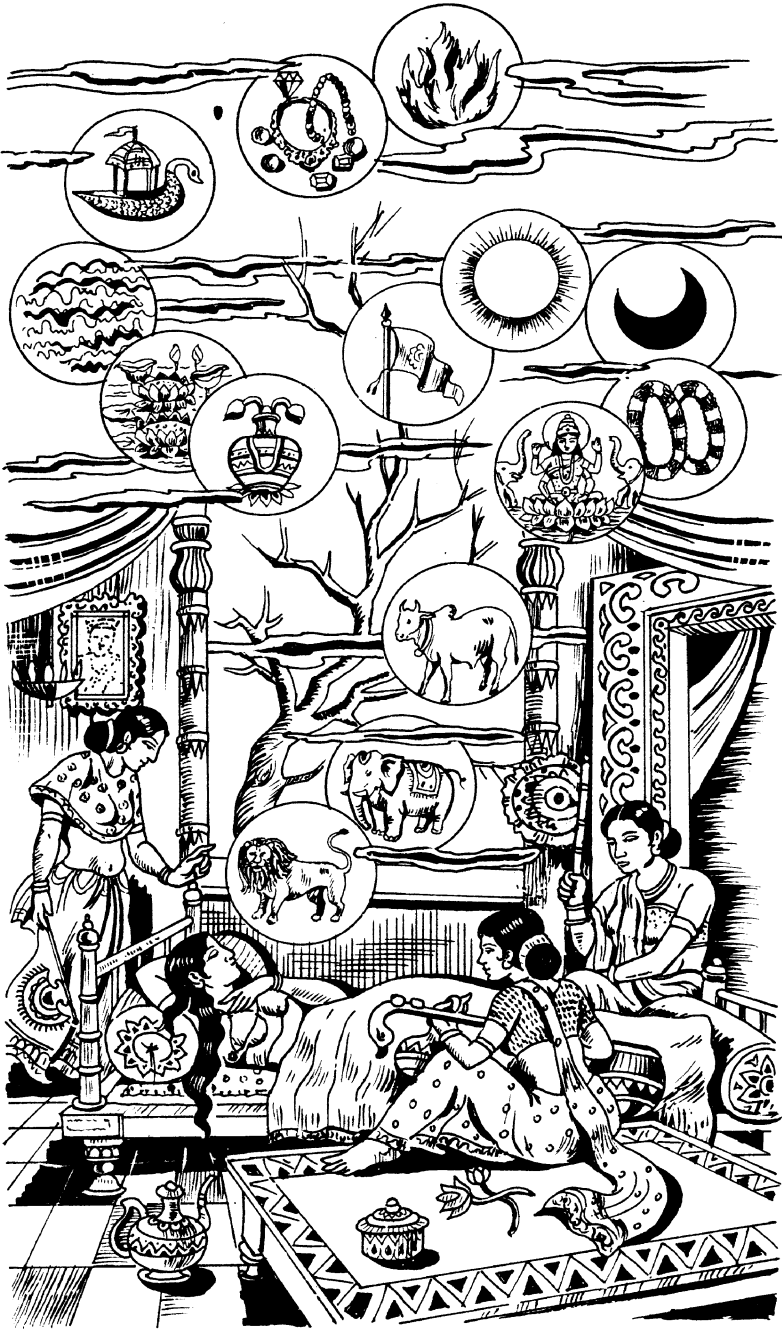
पूर्व भव

भगवान् ऋषभदेव का जीव मुक्ति से पूर्व तेरहवें भव में महाविदेह क्षेत्र के क्षितिप्रतिष्ठ नगर में धन्ना सार्थवाह के रूप में उत्पन्न हुआ। वह एक धनाढ्य व्यापारी था। दूर-दूर तक उसका व्यापार फैला हुआ था। एक बार अर्थोपार्जन हेतु वह विदेश जाने के लिए उद्यत हुआ। उसने यह घोषणा करवाई कि मेरे साथ जो भी चलेगा, मैं उसे सभी प्रकार की सुविधाएं दूंगा। यह घोषणा सुनकर सैंकड़ों व्यक्ति उसके साथ व्यापारार्थ चल दिये।

आचार्य धर्मघोष को भी बसंतपुर जाना था। निर्जन अटवी पार करने के लिये वे अपने शिष्य समुदाय के साथ धन्ना सार्थवाह के साथ हो गए। सेठ को जब ऐसे त्यागी मुनियों का परिचय मिला तो वह अत्यधिक प्रसन्न हुआ। मार्ग में सेठ ने आचार्य सहित पूरे शिष्य समुदाय की उपासना का अच्छा लाभ लिया, प्रासुक आहार, पानी आदि का दान दिया, जिससे वहां ऋषभदेव के जीव धन्ना सार्थवाह को प्रथम बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई।

धन्ना सार्थवाह के भव से देव व मनुष्य के सात भव करने के बाद नौवें जन्म में ऋषभ का जीव जीवानंद वैद्य के रूप में उत्पन्न हुआ। उसके चार अभिन्न मित्र थे-राजपुत्र, श्रेष्ठीपुत्र, मंत्री पुत्र, सार्थवाह पुत्र। इन पांचों ने एक कोढ़ जैसी भयंकर व्याधि से ग्रस्त एक मुनि की परिचर्या की। उनकी प्रेरणा पाकर वे श्रावक बने। जीवन पर्यंत श्रावक धर्म का पालन कर पांचों बारहवें देवलोक में देव बने।

ग्यारहवें भव में ऋषभ का जीव महाविदेह की पुष्कलावती विजय में राजकुमार



वज्रनाभ के रूप में उत्पन्न हुआ। उसके पिता महाराजा वज्रसेन व माता महारानी धारिणी थी। गर्भ-काल में माता ने चौदह महास्वप्न देखे। आगे जाकर वज्रनाभ छह खंड का स्वामी चक्रवर्ती बना। उसके पूर्वभव के चार मित्र बाहु, सुबाहु, पीठ, महापीठ नाम से सहोदर रूप में पैदा हुए। अपने पिता राजर्षि वज्रसेन के उपदेश से प्रभावित होकर वज्रनाभ ने अपने सहोदरों के साथ दीक्षा व्रत स्वीकार किया। संयमी बनकर लंबे समय तक तपस्या व साधना की और उत्कृष्ट अध्यवसाय में तीर्थकर नामकर्म का उपार्जन किया। वहां से बारहवें भव में वे सर्वार्थसिद्ध महाविमान में उत्पन्न हुए। वहां से च्यवकर वज्रनाभ भगवान् ऋषभ बने। बाहु व सुबाहु भरत व बाहुबली बने। पीठ व महापीठ ब्राह्मी व सुंदरी के रूप में उत्पन्न हुए।

ऋषभ का जन्म

ऋषभ का जीव सर्वार्थसिद्ध देवलोक से च्यवकर नाभि कुलकर की जीवनसंगिनी मरुदेवा की पवित्र कुक्षि में अवतरित हुआ। उसी रात्रि में माता मरुदेवी ने चौदह महास्वप्न देखे। वे इस प्रकार हैं :-

१- वृषभ २- हाथी ३-सिंह ४- लक्ष्मी ५- पुष्पमाला ६- चन्द्र ७- सूर्य ८- महेन्द्र ध्वज ९- कुंभ १०- पद्म सरोवर ११- क्षीर समुद्र १२- देव-विमान १३- रत्नराशि १४- निर्धूम-अग्नि।

स्वप्न-दर्शन का भी अपना महत्व है। गर्भ के प्रारम्भ में स्वप्न-दर्शन गर्भगत प्राणी के शुभाशुभ भविष्य की सूचना मानी जाती है। स्वप्न शास्त्र में वैसे बहत्तर शुभ स्वप्नों का विवेचन है, उनमें तीस महास्वप्न माने गये हैं। उन तीस महास्वप्नों में चौदह महास्वप्न तीर्थकर और चक्रवर्ती की माता देखती है। दिगम्बर ग्रन्थों में तीर्थकर की माता के सोलह स्वप्न देखने का उल्लेख है। पूर्वोक्त चौदह के अतिरिक्त मत्स्य युगल तथा सिंहासन ये दो स्वप्न और बताये गये हैं। वासुदेव की माता सात तथा चार स्वप्न बलदेव की माता देखती है। मांडलिक राजा (जन नेता) या भावितात्म-अणगाार की माता एक स्वप्न देखती है। इन स्वप्नों के आधार पर गर्भगत आत्मा के पुण्य प्रभाव का अनुमान स्वप्न-शास्त्री लगा लेते थे।

माता मरुदेवा चौदह स्वप्नों को देखकर हर्ष विभोर हो गई। अज्ञात खुशी से उनका मानस उछलने लगा। रोम-रोम पुलकित हो उठा। मरुदेवा ने अपने पति नाभि कुलकर से कहा- आज मैंने चौदह स्वप्न देखे हैं। प्राणनाथ! इन स्वप्नों को देखने के बाद मेरा मन- मानस हर्ष विभोर हो उठा है। प्रसन्नता हृदय में नहीं समा रही है। विस्मित नाभि कुलकर ने पूछा- प्रिये! वे कौन से स्वप्न थे जिनसे तुम हर्षविभोर हुई हो, बताओ तो? मरुदेवा ने एक-एक कर स्वप्नों में देखे दृश्य गिनाये।

स्वप्नों को सुनकर नाभि कुलकर चकित हो उठे। नाभि कोई स्वप्नवेत्ता नहीं

थे, पर प्रत्युत्पन्न मति से उन्होंने कहा— 'स्वप्न क्या हैं! प्राणिमात्र के उज्ज्वल भविष्य की सूचना है। लगता है जल्दी ही हमारी चिन्ता समाप्त होगी। जनपद की समस्याएं सुलझेगी। कोई ऐसा भुवनभास्कर तुम्हारे गर्भ में आया है, जिससे सारा विश्व आलोकित हो उठेगा।

गर्भ काल पूरा होने पर चैत्र कृष्णा अष्टमी की मध्य रात्रि में माता मरुदेवा ने एक पुत्र तथा एक पुत्री को युगल रूप में जन्म दिया। भगवान् के जन्म पर समूचा विश्व पुलकित हो उठा, अज्ञात शांति का अनुभव करने लगा। नरकगत जीवों को भी क्षणभर के लिए शान्ति मिली। चौसठ इन्द्र व सहस्रों देवों ने धरती पर आकर भगवान् का जन्मोत्सव मनाया। इतनी बड़ी संख्या में देवों को देखकर आस-पास के यौगलिक इकट्ठे हो गये। उत्सव विधि से अपरिचित होते हुए भी देखा-देखी सभी ने मिलकर जन्मोत्सव मनाया। इस अवसर्पिणी काल में सबसे पहले जन्मोत्सव भगवान् ऋषभ देव का ही मनाया गया था। जन्मोत्सव मनाने की विधि वहीं से प्रारम्भ हुई थी।

नामकरण

भगवान् ऋषभ के नामकरण के उत्सव पर बड़ी संख्या में यौगलिक इकट्ठे हुए। उस युग की यह पहली घटना थी कि किसी के नामकरण पर इतने लोग इकट्ठे हुए हों। बालक का क्या नाम रखा जाय, इस संबंध में बोलते हुए नाभि कुलकर ने कहा— जब यह गर्भ में आया था तब इसकी माता को चौदह स्वप्न दिखाई दिये थे। उनमें पहला स्वप्न वृषभ का था। बच्चे के उरु प्रदेश में भी वृषभ का चिन्ह है, अतः मेरी दृष्टि में बालक का नाम वृषभ कुमार रखा जाये। उपस्थित सभी युगलों को यह नाम उचित लगा, सभी ने बालक को इसी नाम से पुकारा। पुत्री का नाम दिया सुनंदा।

दिगम्बर आम्नाय में नामकरण के बारे में भिन्न मत है। महापुराण के अनुसार ग्यारहवें दिन इन्द्र ने स्वयं आकर नामकरण विधि लोगों को बताई। इन्द्र को आया देखकर काफी युगल इकट्ठे हो गए। इन्द्र ने लोगों से कहा— यह बालक आगे चलकर धर्मरूपी अमृत की वर्षा करेगा, अतः बालक का नाम वृषभ कुमार रखता हूँ। इन्द्र की बात का समर्थन करते हुए सभी युगलों ने बालक को वृषभ कुमार कह कर पुकारा।

वैदिक ग्रंथ भागवत के रचियता ने लिखा है— 'बालक का सुन्दर व सुदृढ़ शरीर, तेजस्वी ललाट देखकर नाभि राजा ने उसका नाम "ऋषभ" रखा। जैन इतिहासविदों ने जैन धर्म के आद्यप्रवर्तक होने से 'आदिनाथ' के रूप में उनका उल्लेख किया है।

भगवान् का सबसे पहले नाम 'वृषभदेव' हुआ। संभवतः उच्चारण सरलता से

वही 'ऋषभ' हो गया। वैसे कल्पसूत्र की टीका में उनके पांच गुण निष्पन्न नाम बतलाए हैं— १ वृषभ, २ प्रथम राजा, ३ प्रथम भिक्षाचर, ४ प्रथम जिन, ५ प्रथम तीर्थकर— इनके अतिरिक्त आदिनाथ, आदिम बाबा नाम भी ग्रन्थों में आए हैं।

वंश-उत्पत्ति

भगवान् ऋषभ के समय कोई वंश (जाति) नहीं था। ऋषभ कुमार जब एक वर्ष के हुए, तब एक दिन अपने पिता की गोद में बाल क्रीड़ा कर रहे थे। इतने में इन्द्र एक थाल में विभिन्न खाद्य वस्तुएं आदि सजाकर बालक ऋषभ के समक्ष उपस्थित हुए। नाभि कुलकर ने ढेर सारी वस्तुएँ देखकर अपने पुत्र से कहा— 'जो कुछ खाना हो उसे हाथ से उठाओ।' ऋषभ कुमार ने सर्वप्रथम गन्ने का टुकड़ा उठाकर चूसने का यत्न किया।

बालक ऋषभ के इस प्रयत्न को ध्यान में रखकर इन्द्र ने घोषणा की— 'बालक ऋषभ कुमार को इक्षु प्रिय है, अतः आगे इस वंश का नाम इक्ष्वाकु वंश होगा।' इक्ष्वाकु वंश की स्थापना के साथ ही वंश परम्परा स्थापित हुई।

विवाह

ऋषभ ने जब तारुण्य में प्रवेश किया तो उनका विवाह दो लड़कियों के साथ कर दिया गया। एक लड़की सहजन्मा थी, दूसरी अनाथ थी।

शादी का यह क्रम लोगों के लिए अजीब था। लोग शादी से अपरिचित थे। उससे पहले साथ में जन्मे भाई-बहिन ही आगे चलकर पति-पत्नी बन जाते थे। शादी नाम की कोई रस्म नहीं होती थी। दूसरों के प्रति विकार उत्पन्न होना जघन्य कार्य माना जाता था। उस समय साथ में जन्मे हुए परस्पर एक दूसरे पर अधिकार समझते थे। यह पहला प्रसंग था कि जब किसी ने अपने साथ जन्म न लेने वाली लड़की को पत्नी बनाया और इस रूप में शादी की। धीरे-धीरे लोगों के दिमाग में शादी की उपयोगिता समझ में आने लगी।

ऋषभ की दो पत्नियों में एक उनके साथ जन्मी हुई सुनंदा थी। दूसरी लड़की के माता-पिता पहले ही मर चुके थे। माता-पिता के मरने से तो उस समय कोई फर्क नहीं पड़ता था। संतानोत्पत्ति यौगलिक काल में जीवन के अन्त में ही होती थी। कुछ समय तक संतान का लालन-पालन करने के बाद माता-पिता जल्दी ही मर जाते थे। पीछे से वे भाई-बहिन खान-पान की व्यवस्था बिना किसी कठिनाई के स्वयं कर लेते थे, किन्तु इस लड़की का तो जीवन-साथी लड़का भी मर गया था। यौगलिक जगत् में संभवतः यह पहली घटना थी। किन्तु सामूहिक जीवन के अभाव में इस घटना की सबको जानकारी भी नहीं हुई। आस-पास के कुछ लोगों को जब इसका पता लगा तो उन्हें इसका बड़ा आश्चर्य हुआ। लड़की बेचारी वहीं फल-फूल खाकर दिन बिताने लगी।

एक बार उधर से मरुदेवा माता घूमने को निकली। उन्होंने लड़की को अकेली देखकर पूछा— 'तुम्हारा साथी कहाँ गया?' लड़की ने सारी आपबीती सुनाई।

मरुदेवा ने सोचा— अकेली लड़की कैसे जीवन बितायेगी? अच्छा हो, इसे मैं घर ले जाऊँ। ऋषभ के साथ यह भी खेलती रहेगी। बड़ी होने पर ऋषभ के दो पत्नियाँ हो जाएगी। इस भावना से अभिप्रेरित मरुदेवा लड़की को अपने घर ले आई। आगे चलकर यही लड़की सुमंगला के नाम से ऋषभ की दूसरी पत्नी बनी।

सन्तान

यौगलिक काल में सीमित सन्तान का नियम अटल था। हर युगल के जीवन में एक ही बार संतानोत्पत्ति होती थी और वह भी युगल के रूप में। उसमें भी एक लड़का व दूसरी लड़की होती थी। सर्वप्रथम ऋषभ के घर में यह क्रम टूटा। ऋषभ की पत्नी सुनंदा के तो एक ही युगल उत्पन्न हुआ बाहुबलि और सुन्दरी। सुमंगला के पचास युगल जन्मे, जिनमें प्रथम युगल में भरत और ब्राम्ही का जन्म हुआ, शेष उनपचास युगलों में केवल पुत्र ही पुत्र पैदा हुए। इस प्रकार अट्ठानवें पुत्र तो ये हुए और भरत बाहुबलि दोनों दो बहिनों के साथ जन्में। कुल मिलाकर ऋषभ के सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ थी। सबसे बड़ा पुत्र भरत था। इसके बाद तो अन्य युगल दम्पतियों के भी अनेक पुत्र-पुत्रियाँ होने लगी। तभी आगे चलकर इन सबकी शादियाँ अनेक कन्याओं से होने का उल्लेख है। जनसंख्या भी बहुत तेजी से बढ़ने लगी। भगवान् के पुत्र-पुत्रियों के नाम इस प्रकार हैं :—

१-भरत	२-बाहुबली	३-शङ्ख
४-विश्वकर्मा	५-विमल	६-सुलक्षण
७-अमल	८-चित्रांग	९-ख्यातकीर्ति
१०-वरदत्त	११-दत्त	१२-सागर
१३-यशोधर	१४-अवर	१५-थवर
१६-कामदेव	१७-ध्रुव	१८-वत्स
१९-नन्द	२०-सूर	२१-सुनन्द
२२-कुरु	२३-अंग	२४-बंग
२५-कौशल	२६-वीर	२७-कलिंग
२८-मागध	२९-विदेह	३०-संगम
३१-दशार्ण	३२-गम्भीर	३३-वसुवर्मा
३४-सुवर्मा	३५-राष्ट्र	३६-सुराष्ट्र
३७-बुद्धिकर	३८-विविधकर	३९-सुयश
४०-यशःकीर्ति	४१-यशस्कर	४२-कीर्तिकर
४३-सुषेण	४४-बह्मसेण	४५-विक्रान्त

४६-नरोत्तम	४७-चन्द्रसेन	४८-महसेन
४९-सुसेण	५०-भानु	५१-कान्त
५२-पुष्पयुत	५३-श्रीधर	५४-दुर्द्धर्ष
५५-सुसुमार	५६-दुर्जय	५७-अजयमान
५८-सुधर्मा	५९-धर्मसेन	६०-आनन्दन
६१-आनन्द	६२-नन्द	६३-अपराजित
६४-विश्वसेन	६५-हरिषेण	६६-जय
६७-विजय	६८-विजयन्त	६९-प्रभाकर
७०-अरिदमन	७१-मान	७२-महाबाहु
७३-दीर्घबाहु	७४-मेघ	७५-सुघोष
७६-विश्व	७७-वराह	७८-वसु
७९-सेन	८०-कपिल	८१-शैलविचारी
८२-अरिजय	८३-कुंजरबल	८४-जयदेव
८५-नागदत्त	८६-काश्यप	८७-बल
८८-वीर	८९-शुभमति	९०-सुमति
९१-पद्मनाभ	९२-सिंह	९३-सुजाति
९४-संजय	९५-सुनाम	९६-नरदेव
९७-चित्तहर	९८-सुखर	९९-दृढरथ
१००-प्रभञ्जन		

दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने भगवान ऋषभदेव के १०१ पुत्र माने हैं। एक नाम वृषभसेन अधिक दिया है।

भगवान् ऋषभदेव की दो पुत्रियों के नाम हैं— १-ब्राह्मी, २-सुन्दरी।

राज्याभिषेक

कुलकर नाभि के पास प्रतिदिन यौगलिकों की बहुत अधिक शिकायतें आने लगी थी। दण्ड-संहिता निस्तेज होती जा रही थी। प्रतिदिन अभाव बढ़ता जा रहा था। कुलकर नाभि के पास इनका कोई समाधान नहीं था। शिकायत आने पर किसी को कुछ कहते तो जबाब मिलता— 'भूखा था, आप पेट भरने का प्रबंध कर दीजिये, फिर ऐसी गलती नहीं होगी। पेट भरने का उपाय कुलकर नाभि के पास भी नहीं था अतः सिर्फ दण्ड-संहिता से काम नहीं चल पा रहा था। जहाँ कहीं फल वाले वृक्ष होते वहीं छीना-झपटी प्रारंभ हो जाती थी। फिर वे ही युगल शिकायतें लेकर नाभि कुलकर के पास आते थे। कुलकर नाभि समस्याओं से अत्यन्त परेशान थे। वे चाहते थे कि किसी प्रकार इस दायित्व से छुटकारा मिले।

एक दिन कुछ युगल ऋषभ कुमार के पास बैठे बात कर रहे थे। अभाव के बारे में जिक्र चल पड़ा। सभी दुःखी थे, आतंकित थे। ऋषभदेव से पूछ बैठे— “इसका सही समाधान भी होगा या यों ही लड़-झगड़कर सबको मरना पड़ेगा ? जीना दूभर हो रहा है।”

ऋषभ ने मुस्कराकर कहा—समय के साथ व्यवस्था बदलनी पड़ती है, अपनी आदतों में परिवर्तन करना पड़ता है। ऐसा करने पर समस्या स्वतः समाप्त हो जाती है। अब कुलकर व्यवस्था से काम नहीं चलेगा। अब तो एक विधिवत् राजा होना चाहिए, उसके अनुशासन से ही समस्या सुलझ सकती है। राजा की सूझ-बूझ से ही अभाव समाप्त हो सकता है।’

उपस्थित युगल जनों ने कहा— ‘हम तो जानते नहीं, राजा क्या होता है?’ तब ऋषभ ने राजा का दायित्व बताया। युगलों ने कहा— ‘ऐसी क्षमता तो सिर्फ आप में है, औरों में नहीं। आप ही यह दायित्व संभाले।’ ऋषभ ने कहा— ‘तुम कुलकर नाभि से निवेदन करो, वे शायद आपकी बात मान ले।’

युगल मिलकर कुलकर नाभि के पास आए। उनसे राजा बनने की प्रार्थना की। कुलकर नाभि पहले से ही ऊबे हुए थे और निराश थे। अपनी व्यवस्था से स्वयं असंतुष्ट थे। निःश्वास छोड़ते हुये वे बोले— ‘मेरे वश का रोग नहीं है। जमाना बहुत खराब आ चुका है। इसमें मेरी बुद्धि काम नहीं करती, सचमुच हम अभागे हैं, तभी ऐसा अभाव देखना पड़ रहा है। पेट के लिये तकरार, कितने शर्म की बात है! अपने पूर्वज बड़े सुखी थे। उनके जीवन में ऐसा कुछ नहीं हुआ। जाओ, तुम ऋषभ के पास ही जाओ। वही राजा बनेगा और समस्याओं को सुलझायेगा। अब कल से तुम्हारी समस्याएं और शिकायतें ऋषभ के पास किया करो, वही तुम्हें समाधान देगा। मुझे अब छुटकारा दो।’

अब युगल अपनी कल्पना से ऋषभ के राज्याभिषेक की तैयारियां करने लगे। कई तरह के फूलों से ऋषभ के शरीर को अलंकृत किया। ऋषभ को उच्च आसन पर बिठाकर पैरों में जलाभिषेक करने लगे। अभिषेक के क्रम में सर्वप्रथम पदाभिषेक हुआ था। इन्द्र ने अपने अवधिदर्शन से यह दृश्य देखा तो गदगद हो उठा। तुरन्त मृत्यु-लोक में आया। लोगों के विनय की प्रशंसा करते हुये उस स्थान का नाम उसने विनीता रखा। आगे चलकर वहीं पर विनीता नाम की नगरी बसी।

कृषि कर्म शिक्षा

ऋषभ के समक्ष सबसे पहला काम था— खाद्य-संकट मिटाने का। शेष समस्याएं उसी से जुड़ी हुई थीं। वे जानते थे-भर पेट भोजन मिलने पर ये सभी अनुशासित बन जाएंगे।

ऋषभ ने सबसे कहा—‘समय बदल गया है, अतः अपने को बदलो। आज तक

हमें वृक्षों से बारह ही महीने फल मिला करते थे, अब उनमें परिवर्तन आ रहा है। समय के साथ वृक्षों ने भी फल देना बंद कर दिया है। क्या हम फलों के अभाव में भूखे रहेंगे ? नहीं, कभी नहीं। हमें भरपेट भोजन मिलेगा, खूब अच्छा भोजन मिलेगा। शर्त एक ही है कि अब हमें श्रम करना होगा, खेतों में अनाज बोना होगा, हर चीज उत्पन्न करनी होगी। अतः सब श्रम करो, सुख से जीओ।'

ऋषभ के इस आह्वान से हजारों-हजारों नौजवान खड़े होकर श्रम करने के लिए संकल्पबद्ध हो गये। सर्वत्र ऐसा वातावरण बन गया कि श्रम ही सुख का रास्ता है। श्रम के बिना जीने का समय बीत गया। अब उस पुरानी लकीर को पकड़े रखना नासमझी है। सभी के मुंह पर एक ही नारा गूंजने लगा— 'श्रम करो, सुख से जीओ।'

ऋषभ ने कृषि के साथ-साथ अन्य सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के अन्य उपाय भी सिखाये। प्रत्येक कार्य की विधि उन्हें स्वयं ही सिखानी पड़ी थी।

छींकी लगाओ

लोगों का बौद्धिक विकास नहीं के बराबर था। जितना बताया जाता था वे उतना ही समझते थे। आस-पास की बात उनके चिन्तन से बाहर थी। खेती पकने के बाद उसे काटकर अनाज निकालने की विधि स्वयं ऋषभ ने उन्हें बतलाई। लोग अनाज निकालने लगे। अनाज पर बैलों को घुमा-घुमा कर अनाज और भूसे को अलग-अलग करते, पर बैलों को भूख लगने पर वे उसी अनाज को खाने लगे। लोग घबराए और सोचने लगे कि ये अनाज खा जाएंगे तो हम क्या खाएंगे ? शाम को ऋषभ के पास आए। वे ऋषभ को 'बाबा' के नाम से पुकारते थे। कहने लगे— बाबा! अनाज तो बैल खा जाएंगे, फिर हमारे लिए क्या बचेगा ? बाबा ने घास की रसियों की छींकी बनाकर कहा— ऐसी छींकी लगा दो, फिर नहीं खाएंगे।

दूसरे दिन सभी लोगों ने छींकी लगा दी। बैलों के मुंह छींकी से बन्द हो गए। दिन-भर कुछ भी नहीं खा सके। किसान खुश थे। आज एक दाना भी अनाज फालतू नहीं गया। शाम को उन बैलों के आगे चारा आदि रख दिया, फिर भी उन्होंने नहीं खाया। अब क्या होगा ? सब बाबा के पास पहुंचे, अपनी चिन्ता प्रगट करते हुए बोले— 'बाबा! बैल तो मर जाएंगे, उन्होंने खाना-पीना छोड़ दिया है।' बाबा ने पूछा—अरे ! छींकी तो तुमने खोल दी होगी? सबने कहा— खोलने का आपने कब कहा था ? बाबा ने कहा—जाओ, जल्दी खोलो। लोगों ने छींकी खोली, तब जाकर बैलों की जान बची।

अग्नि की उत्पत्ति

एक दिन कुछ लोग उद्भ्रांत होकर भागे-भागे ऋषभ के पास आए। अपने हाथ दिखाते हुए बोले— ये फफोले हो गए, अब क्या करें ? बाबा ने पूछा— यह

कैसे हुआ ? उन्होंने कहा—बाबा ! जंगल में लाल-लाल 'रत्न' पैदा हुआ है। दीखने में बड़ा आकर्षक है। प्रारम्भ में काला-काला निकलता है, फिर लाल हो जाता है, ऊंचा उठता है उसमें से लाल-लाल कण भी निकलते हैं। हमने सोचा— इसे बाबा के पास ले चलें, वे ही बतायेंगे— इसका नाम क्या है और क्या उपयोग है। हमने हाथ डाला तो बड़ी पीड़ा हुई, देखा तो ये फफोले हो गए। बाबा ! यह क्या चीज है ? हमें तो अब डर लगने लगा है।

मुस्कराते हुए बाबा ने कहा— 'अरे ! तुम्हारे भाग्य से अग्नि पैदा हो गई है। इससे डरने की जरूरत नहीं, इसे समझने की जरूरत है आने वाले युग में यह मानवीय सम्यता तथा समृद्धि की आधार मानी जाएगी। यह बहुत लाभप्रद है। इसका उपयोग करना सीखो।

भोजन पकाना

कई लोगों ने बाबा से एक दिन शिकायत की— 'बाबा ! पेट भरते हैं किन्तु पहले वाली बात नहीं। पहले खाने के बाद पेट पर कभी भार नहीं होता था। आजकल पेट भारी-भारी रहता है, कभी-कभी पेट दर्द भी करता है। भूख सताती है, अतः खाना तो पड़ता है, किन्तु यह समस्या है। बाबा ने कहा— तुम लोग अब तक कच्चा भोजन करते रहे हो, इसलिए यह दुष्पाच्य और भारी रहता है, कल से तुम भोजन अग्नि में पका कर खाया करो।

दूसरे दिन लोगों ने अग्नि में अनाज डाल दिया। अग्नि शांत होने पर देखा तो कुछ नहीं मिला, अनाज जल कर राख हो चुका था। निराश होकर सभी बाबा के पास पहुंचे और शिकायत के स्वर में बोले— बाबा! अनाज तो अग्नि खा गई, हम क्या खाएंगे ? बाबा ! आप ही बताओ, अब अन्न पकाएं तो कैसे पकाएं। बाबा ने इस समस्या को सुलझाने के लिए मिट्टी के पात्र बनाए। कुम्हार बने, सब तरह की आवश्यकताओं के अनुसार छोटे-बड़े बर्तन बनाकर सबको उनका उपयोग किस रूप में करना है, बतलाया, खाना कैसे पकाया जाता है, संपूर्ण पाक विद्या लोगों को सिखलाई। लोग तब से खाना पका कर खाने लगे। उससे पहले कच्चा भोजन ही खाया जाता था।

असि-कर्म शिक्षा

ऋषभ ने एक वर्ग ऐसा भी तैयार किया जो लोगों की सुरक्षा का दायित्व संभालने में दक्ष हो। उसे तलवार, भाला, बरछी आदि शस्त्र चलाने सिखलाए। साथ में कब, किस पर इन शस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए, इस बारे में भी पूरे निर्देश दिए। वे लोग सुरक्षा के लिए सदा तत्पर रहते थे। उन्हें खेती करने की जरूरत नहीं थी। लोग उनकी आवश्यकता की पूर्ति सहर्ष कर देते थे। इस वर्ग को सभी "क्षत्रिय" कहकर पुकारते थे।

मसि-कर्म शिक्षा

ऋषभ कृषि कला, शिल्प कला की विभिन्न प्रक्रियाओं को सिखाकर अब विनिमय का माध्यम बनाने की सोचने लगे। उत्पादन की वे शिक्षा दे चुके थे। अब उत्पादित वस्तुएं एक दूसरे के पास कैसे पहुंचें इसी चिन्तन में उन्होंने मसि कर्म की शिक्षा का आविष्कार किया। मसि-कर्म अर्थात् लिखा-पढ़ी से वस्तु का विनिमय करना। प्रारंभ में मुद्रा नहीं थी, वस्तु से वस्तु का विनिमय होता था। उनका हिसाब रखना जरूरी था। कौन-सी वस्तु का विनिमय किस मात्रा में होना है जानना जरूरी था। यह निर्धारित करने के लिए कुछ लोगों को प्रशिक्षित किया। लोग बेचारे भोले-भाले थे। इतना हिसाब रखना उनके लिए कठिन था। इस वर्ग ने इस कठिनाई को हल किया। लोगों ने सहर्ष इस कार्य के लिए पारिश्रमिक की व्यवस्था की। उत्पादक से उपभोक्ता तक पहुंचने में कुछ प्रतिशत मुनाफा लेने की छूट दी। इस विनिमय प्रक्रिया को 'व्यापार' तथा इसे करने वाले वर्ग को 'व्यापारी' (वैश्य) कहकर पुकारने लगे।

सेवा व्यवस्था

कृषि, असि, मसि कर्म की समुचित शिक्षा लोगों ने बाबा से सीखी। एक ऐसा वातावरण बना कि कोई व्यक्ति निष्क्रिय न रहे। लोगों को लगा कि निकम्मा रहना समाज पर भार है। मानवीय संस्कृति में निष्क्रियता को स्थान नहीं है। श्रम से कोई छोटा नहीं होता, श्रम करना ही सामूहिक जीवन की सार्थकता है। जो लोग खेती आदि किसी कार्य में दक्ष नहीं बने, वे लोग सेवा और सफाई के कार्य में लग गए। इसमें ज्यादा दिमाग लगाना नहीं पड़ता था। काम किया, पारिश्रमिक पाया। कोई झंझट नहीं, अधिक जिम्मेदारी भी नहीं थी, किन्तु कोई कैसा ही कार्य करने वाला हो, समाज में सब समान थे। ऊंच-नीच की भावना तनिक भी नहीं थी। ऋषभ ने श्रम का ऐसा प्रवाह प्रवाहित किया कि कोई भी व्यक्ति उससे अछूता नहीं रहा। सबको अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कार्य-चयन का अवसर मिला।

वर्ण-व्यवस्था

कार्य की अपेक्षा से अलग-अलग वर्ण (वर्ग) बन चुके थे। उनका अलग-अलग कार्य था। भारतीय ग्रन्थों में उपलब्ध चार वर्णों में से तीन वर्णों की उत्पत्ति भगवान् ऋषभ के समय में हो चुकी थी। सुरक्षा का दायित्व संभालने वाला वर्ग क्षत्रिय कहलाता था। कृषि तथा मसि कर्म करने वाले लोग वैश्य कहलाते थे। उत्पादन तथा विनिमय की समुचित व्यवस्था उनके जिम्मे थी। लोगों के दैनिक जीवन की आवश्यकता-पूर्ति इन्हीं दो वर्गों से होती थी। इन दोनों वर्गों को 'वैश्य' शब्द से पुकारा जाता था। कृषि और मसि कर्म के अतिरिक्त अन्य कार्य करने वाले लोग शूद्र कहलाते थे। इनके जिम्मे सेवा तथा सफाई का कार्य था।

ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति सम्राट् भरत के शासनकाल में हुई। सम्राट् भरत ने धर्म के सतत जागरण के लिए कुछ बुद्धिजीवी व्यक्तियों को चुना जो वक्तृत्व कला में निपुण थे। ब्रह्मचारी रहकर समय-समय पर राज्य सभा में तथा अन्य स्थानों में प्रवचन देना, लोगों को धार्मिक प्रेरणा देना उनका काम था। सम्राट् भरत ने उन्हें आजीविका की चिन्ता से मुक्त कर दिया। उन्हें महलों से भोजन मिल जाता करता था। गांवों में लोग उन्हें अपने घरों पर भोजन करवा देते थे या भोजन सामग्री दे देते थे। ब्रह्मचर्य का पालन करने से या ब्रह्म (आत्मा) की चर्चा में लीन रहने के कारण उन्हें ब्राह्मण कहा जाता था। इनकी संख्या सीमित थी और भरत द्वारा निर्धारित थी।

तीन रेखाएं (जनेऊ)

चालू व्यवस्था का कोई अनुचित लाभ न उठा ले, इसलिए भरत समुचित परीक्षण के बाद ब्राह्मणों की छाती पर अपने कांगणी रत्न से तीन रेखाएं खींच देते थे। ये रेखाएं उनकी पहचान थी। लोग इसे देखकर ही निमंत्रण आदि दिया करते थे। भरत के बाद जब आदित्यजश राजा बना तो हर ब्राह्मण को पहचानने के लिए विशेष प्रकार से बना स्वर्ण-सूत्र देना प्रारम्भ किया। आगे चलकर यही धागे की "जनेऊ" बन गई थी। प्रारम्भ में ये लोग ब्रह्मचारी थे। साधु और गृहस्थ के बीच की भूमिका निभाते थे। यह क्रम लम्बे समय तक चला।

इस प्रकार चारों वर्ग (वर्ण) की उत्पत्ति ऋषभ और सम्राट् भरत के समय में हो गई थी, किन्तु हीनता और उच्चता की भावना उस समय बिल्कुल नहीं थी। सभी अपने-अपने कार्य से सन्तुष्ट थे। वर्ण के नाम पर हीन-उच्च या स्पृश्यास्पृश्य आदि भाव नहीं थे। ये सब बाद के विकार हैं, निहित स्वार्थों के द्वारा मानव समाज पर थोपी गई कुत्सित अहंकार की भावनाएं हैं।

विवाह

ऋषभ ने काम-भावना पर नियंत्रण रखने की दृष्टि से शादी की व्यवस्था प्रचलित की। शादी से पहले का जीवन सर्वथा निर्विकार बनाये रखना अनिवार्य घोषित किया उन्होंने ऐसा करके वासनाजन्य उन्माद को नियन्त्रित कर दिया। लोग पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी के साथ निर्विकार सम्बन्ध रखने के आदी हो गये। इसके अतिरिक्त बहिन के साथ शादी भी वर्जित कर दी गयी। भाई-बहिन का पवित्र सम्बन्ध जो हम आज देख रहे हैं वह भगवान् ऋषभ की देन है।

ग्राम व्यवस्था

ऋषभ ने सामूहिक जीवन का सूत्रपात करते हुए सबसे पहले ग्राम व्यवस्था की रूपरेखा लोगों को समझाई। उन्होंने बताया— अब समय बदल चुका है, रहन-सहन में परिवर्तन करो। अब तक वृक्षों के नीचे रहा करते, ऋतुएं अनुकूल

रहती। न ज्यादा सर्दी थी न ज्यादा गर्मी थी। बरसात भी ज्यादा नहीं होती थी। अब ऋतुएं कभी अनुकूल तो कभी प्रतिकूल हुआ करेंगी। सर्दी-गर्मी की मात्रा भी बढ़ेंगी। शारीरिक सहन-शक्ति क्रमशः घटती जाएगी अतः घर बनाकर रहना अधिक सुरक्षित होगा।

घर की उपयोगिता समझाने के साथ ही ऋषभ ने सामूहिक जीवन की उपयोगिता समझाई। समूह के साथ रहने वाला एक दूसरे का सहयोगी बन सकता है। हर विपत्ति का सामना मिलकर ही सरलता से किया जा सकता है। गृहस्थ की सारी आवश्यकताएं अलग-अलग लोगों द्वारा पूरी होती थी। एक दूसरे के निकट रहने पर ही एक दूसरे के उत्पादन का पूरा-पूरा लाभ मिल सकता है। बात लोगों के समझ में आ गई, बड़ी संख्या में युगल जंगलों को छोड़कर ग्रामों में बस गये। सर्वप्रथम जो बस्ती बनी उसका नाम विनीता रखा गया। ऋषभ ने अपना निवास स्थान वहीं बनाया। भारत की प्रथम राजधानी होने का गौरव भी उसे ही प्राप्त हुआ। उसे ही आगे चल कर 'अयोध्या' के नाम से पुकारा जाने लगा।

दण्ड विधि

तात्कालिक अभाव की परिस्थिति को समाप्त करने के बाद ऋषभ ने यौगलिकों में बढ़ती हुई अपराध-वृत्ति पर ध्यान दिया। चालू दण्ड-विधि असफल हो चुकी थी। सर्वोपरि 'धिक्कार' दण्ड को पाने वाले अनेक लोग हो चुके थे। किसी के मन में संकोच नहीं रहा। उन्होंने सबको बुलाकर अपराध न करने की चेतावनी दी। साथ में घोषणा की कि अगर किसी ने अब कोई गलत काम किया तो उनके लिए 'हाकार' 'मकार' तथा 'धिक्कार' दण्ड से काम नहीं चलेगा, उनके लिए चार दण्ड और घोषित करता हूँ :-

- (१) परिभाषण — अपराधी को कठोर शब्दों से प्रताड़ित करना।
- (२) मंडली-बंध — अपराधी को सीमा विशेष में रोके रखना।
- (३) चारक-बंध — अपराधी को विशेष स्थान में रोके रखना—कैद करना।
- (४) छविच्छेद — अपराधी के अंग विशेष का छेदन या लांछित करना।

उपरोक्त चारों दण्ड बड़े प्रभावक रहे। इनसे विश्रृंखलित मनोवृत्ति सर्वथा नियंत्रित हो गई थी। लोग नई सामाजिक पद्धति में ढल चुके थे, सभी सन्तुष्ट थे। खाद्य वस्तुओं का अभाव मिट जाने के बाद सभी क्रमशः अनुशासित जीवन बिताने के आदी बन गये थे। ऋषभ के प्रति लोगों में गहरा विश्वास था। सारी व्यवस्था स्वतः संचालित होने लगी थी। नवीन परिस्थितियों में सभी प्रसन्न थे।

उपरोक्त चारों दंडों के संबंध में कुछ आचार्यों का अभिमत है कि अंतिम दो नीतियां भरत के समय प्रचलित हुई थीं, परन्तु कई आचार्य मानते हैं कि ये सारे दंड ऋषभ के समय में ही लागू हो गये थे।

कला-प्रशिक्षण

राजा ऋषभ ने लोगों को स्वावलंबी व कर्मशील बनाने के लिए विविध प्रकार की शिक्षा दी, कला का प्रशिक्षण दिया। उन्होंने सौ शिल्प और असि, मसि, कृषि रूप कर्मों का सक्रिय ज्ञान कराया। शिल्प ज्ञान में कुंभकार कर्म, पटाकार कर्म, वर्धकी कर्म आदि सिखाये।

इसके साथ ही ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को निम्नांकित बहत्तर कलाएं सिखाई—

- | | |
|----------------|--|
| १. लेख | — लिपि कला और लेख विषयक कला |
| २. गणित | — संख्या कला। |
| ३. रूप | — निर्माण कला। |
| ४. नाट्य | — नृत्य कला। |
| ५. गीत | — गायन विज्ञान। |
| ६. वाद्य | — वाद्य विज्ञान। |
| ७. स्वरगत | — स्वर विज्ञान। |
| ८. पुष्करगत | — मृदंग आदि का विज्ञान। |
| ९. समताल | — ताल विज्ञान। |
| १०. द्यूत | — द्यूत कला। |
| ११. जनवाद | — विशेष प्रकार की द्यूत कला। |
| १२. पुरः काव्य | — शीघ्र कवित्व। |
| १३. अष्टापद | — शतरंज खेलने की कला |
| १४. दकमृत्तिका | — जल शोधन की कला। |
| १५. अन्नविधि | — अन्न-संस्कार कला। |
| १६. पानविधि | — जल-संस्कार कला। |
| १७. लयनविधि | — गृह-निर्माण कला |
| १८. शयनविधि | — शय्या-विज्ञान या शयन विज्ञान। |
| १९. आर्या | — आर्या-छन्द। |
| २०. प्रहेलिका | — पहेली रचने की कला। |
| २१. मागधिका | — मागधिका छन्द। |
| २२. गाथा | — संस्कृत से इतर भाषाओं में निबद्ध आर्या छन्द। |
| २३. श्लोक | — अनुष्टुप् छन्द। |
| २४. गंधयुक्ति | — पदार्थ को सुगंधित करने की कला। |
| २५. मधुसिक्थ | — मोम के प्रयोग की कला। |
| २६. आभरणविधि | — अलंकरण बनाने या पहनने की कला। |

- | | |
|--------------------|---|
| २७. तरुणीप्रतिकर्म | — तरुणी की प्रसाधन कला । |
| २८. स्त्रीलक्षण | — सामुद्रशास्त्रोक्त स्त्री लक्षण-विज्ञान । |
| २९. पुरुषलक्षण | — सामुद्रशास्त्रोक्त पुरुष लक्षण-विज्ञान । |
| ३०. हयलक्षण | — सामुद्रशास्त्रोक्त अश्वलक्षण-विज्ञान । |
| ३१. गजलक्षण | — सामुद्रशास्त्रोक्त गज-लक्षण-विज्ञान । |
| ३२. गोलक्षण | — सामुद्रशास्त्रोक्त गोलक्षण विज्ञान । |
| ३३. कुक्कुटलक्षण | — सामुद्रशास्त्रोक्त कुक्कुटलक्षण विज्ञान । |
| ३४. मेषलक्षण | — सामुद्रशास्त्रोक्त मेषलक्षण विज्ञान । |
| ३५. चक्रलक्षण | — ज्योतिषशास्त्रोक्त चक्रलक्षण । |
| ३६. छत्र-लक्षण | — ज्योतिषशास्त्रोक्त छत्रलक्षण विज्ञान । |
| ३७. दंडलक्षण | — ज्योतिषशास्त्रोक्त दंडलक्षण विज्ञान । |
| ३८. असिलक्षण | — ज्योतिषशास्त्रोक्त असिलक्षण विज्ञान । |
| ३९. मणिलक्षण | — ज्योतिषशास्त्रोक्त मणिलक्षण विज्ञान । |
| ४०. काकिणीलक्षण | — ज्योतिषशास्त्रोक्त काकिणीलक्षण विज्ञान । |
| ४१. चर्मलक्षण | — ज्योतिषशास्त्रोक्त चर्मलक्षण विज्ञान । |
| ४२. चन्द्रचरित | — चन्द्रगति विज्ञान । |
| ४३. सूर्यचरित | — सूर्यचरित विज्ञान । |
| ४४. राहुचरित | — राहुचरित विज्ञान । |
| ४५. ग्रहचरित | — ग्रहचरित विज्ञान । |
| ४६. सोभाकर | — सौभाग्य को जानने की कला । |
| ४७. दुर्भाकर | — दुर्भाग्य को जानने की कला । |
| ४८. विद्यागत | — रोहिणी-प्रज्ञप्ति आदि विद्या-विज्ञान । |
| ४९. मंत्रगत | — मंत्र-विज्ञान । |
| ५०. रहस्यगत | — गुप्त वस्तुओं को जानने की कला । |
| ५१. सभास | — वस्तुओं को प्रत्यक्ष जानने की कला । |
| ५२. चार | — ज्योतिष-चक्र का गतिविज्ञान । |
| ५३. प्रतिचार | — ग्रहों के प्रतिकूल गति का विज्ञान अथवा चिकित्सा-विज्ञान । |
| ५४. व्यूह | — व्यूह रचने की कला । |
| ५५. प्रतिव्यूह | — व्यूह के प्रतिव्यूह रचने की कला । |
| ५६. स्कन्धावारमान | — सैन्यसंस्थान-शास्त्र । |
| ५७. नगरमान | — नगर शास्त्र । |
| ५८. वस्तुमान | — वास्तुशास्त्र । |

- | | |
|---------------------|-----------------------------------|
| ५९. स्कन्धावारनिवेश | — सैन्यसंस्थान-रचना की कला। |
| ६०. नगरनिवेश | — नगर-निर्माण कला। |
| ६१. वस्तुनिवेश | — गृह-निर्माण कला। |
| ६२. इषुअस्त्र | — दिव्य अस्त्र संबंधी शास्त्र |
| ६३. शस्त्र शिक्षा | — खड्गशास्त्र। |
| ६४. अश्वशिक्षा | — घोड़े को प्रशिक्षण देने की कला। |



- | | |
|---|----------------------------------|
| ६५. हस्तिशिक्षा | — हाथी को प्रशिक्षण देने की कला। |
| ६६. धनुर्वेद | — धनुष-विद्या। |
| ६७. हिरण्यपाक | — रजत-सिद्धि की कला। |
| सुवर्णपाक | — स्वर्ण-सिद्धि की कला। |
| मणिपाक | — रत्न-सिद्धि की कला। |
| धातुपाक | — धातुसिद्धि की कला। |
| ६८. बाहुयुद्ध, दंडयुद्ध, मुष्टियुद्ध, अस्थियुद्ध, युद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध | |
| ६९. सूत्रखेट | — सूत्रक्रीड़ा |

नलिकाखेट	— नली के द्वारा पाशा डाल कर खेला जाने वाला जुआ
वृत्तखेल	— वृत्तक्रीड़ा
७०. पत्रच्छेद्य	— निशानेबाजी, पत्रवेध
कटकच्छेद्य	— क्रमपूर्वक छेदने की कला
पत्रकच्छेद्य	— पुस्तक के पत्रों-ताड़पत्र आदि को छेदने की कला
७१. सजीवकरण	— मृत धातु को सजीव करना-उसको अपने मौलिक रूप में ला देना।
७२. शकुनरुत	— शकुन शास्त्र

यह विवरण समवायांग सूत्र के अनुसार है। ज्ञाता धर्मकथा, औपपातिक, राजप्रशनीय व जंबूद्वीप प्रज्ञाति की वृत्ति भी बहत्तर कलाओं का कुछ नाम और क्रम भेद के साथ उल्लेख मिलता है।

बाहुबली को प्राणी लक्षण का ज्ञान कराया। ज्येष्ठ पुत्री को दाहिने हाथ से अठारह प्रकार की लिपियां सिखाई, वे इस प्रकार हैं—

१. ब्राह्मी	२. यवनानी
३. दोसउरिया	४. खरोष्ट्रिका
५. खरशाहिका (खरशापिता)	६. प्रभाराजिका
७. उच्चतरिका	८. अक्षरपृष्टिका
९. भोगवतिका	१०. वैनतिकी
११. निन्हविका	१२. अंकलिपि
१३. गणितलिपि	१४. गंधर्वलिपि
१५. आदर्शलपि	१६. माहेश्वरी
१७. द्राविड़ी	१८. पोलिंदी।

दूसरी पुत्री सुंदरी को बायें हाथ से गणित का ज्ञान करवाया, साथ ही राजा हृषभ ने स्त्रियों की चौसठ कलाओं का भी ज्ञान दिया, वे इस प्रकार हैं—

१. नृत्य-कला	२. औचित्य	३. चित्र-कला
४. वाद्य-कला	५. मंत्र	६. तन्त्र
७. ज्ञान	८. विज्ञान	९. दम्भ
१०. जलस्तम्भ	११. गीतमान	१२. तालमान
१३. मेघवृष्टि	१४. फलाकृष्टि	१५. आराम-रोपण
१६. आकार गोपन	१७. धर्म विचार	१८. शकुनसार
१९. क्रियाकल्प	२०. संस्कृत जल्प	२१. प्रसादनीति

२२. धर्मनीति	२३. वर्णिकावृद्धि	२४. सुवर्णसिद्धि
२५. सुरभितैलक	२६. लीलासंचरण	२७. हय-गजपरीक्षण
२८. पुरुष-स्त्रीलक्षण	२९. हेमरत्न भेद	३०. अष्टादश लिपिपरीच्छेद
३१. तत्काल बुद्धि	३२. वस्तु सिद्धि	३३. काम विक्रिया
३४. वैद्यक क्रिया	३५. कुम्भ भ्रम	३६. सारिश्रम
३७. अंजनयोग	३८. चूर्णयोग	३९. हस्तलाघव
४०. वचन-पाटव	४१. भोज्य विधि	४२. वाणिज्य विधि
४३. मुखमण्डन	४४. शालि खण्डन	४५. कथाकथन
४६. पुष्प ग्रंथन	४७. वक्रोक्ति	४८. काव्यशक्ति
४९. स्फारविधिवेष	५०. सर्वभाषा विशेष	५१. अभिधान ज्ञान
५२. भूषण-परिधान	५३. भृत्योपचार	५४. गृहाचार
५५. व्याकरण	५६. परनिराकरण	५७. रन्धन
५८. केशबन्धन	५९. वीणानाद	६०. वितण्डावाद
६१. अंक विचा	६२. लोक व्यवहार	६३. अन्त्याक्षरिका
६४. प्रश्न प्रहेलिका		

अभिनिष्क्रमण

भगवान् ऋषभ का जीवन चौरासी लाख पूर्व का था। उसमें तिरासी लाख पूर्व समय उन्होंने सामाजिक और राजनैतिक मूल्यों की स्थापना में बिताया। लोक-जीवन के परिमार्जन में उनका अथक परिश्रम रहा। लोगों ने उनसे सहअस्तित्व तथा परस्पर सहयोग का महत्व समझा। तात्कालिक व्यावहारिक जीवन की कठिनाइयों का समाधान करने के बाद भगवान् ऋषभ ने धर्म-नीति का प्रवर्तन करने का निश्चय किया।

उस समय पांचवें देवलोक के नौ लोकान्तिक देव-सारस्वत, आदित्य, वहनी वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, आग्नेय और रिष्ट ऋषभ के उपपात में पहुंचे और उन्हें वंदन कर निवेदन करने लगे 'भगवन् ! लोक व्यवहार की संपूर्ण व्यवस्था आपने पूरी कर ली है, अब आप धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कीजिए। इस तरह निवेदन कर देव अपने-अपने विमान में चले गये।

इस संदर्भ में पूर्ण विनिश्चय करके राजा ऋषभ ने पूरे भूमंडल को सौ हिस्सों में विभक्त करके भरत को विनीता व निन्नानवें पुत्रों को अन्य क्षेत्रों की सार-संभाल का भार सौंपा। सब प्रकार से पूर्णतः निवृत्त होकर वे वर्षादान देने लगे। वर्षादान से सब लोगों को पता लग गया कि बाबा अब घर छोड़ कर जाने वाले हैं। भोले-भाले लोग इस बात से बड़े बेचैन हुये कि बाबा हमको छोड़कर जा रहे हैं, अब क्या करेंगे? हम लोगों की उलझनों को कौन सुलझायेगा? यद्यपि भरत आदि सौ भाइयों

को हमारी देखभाल का काम सौंपा है, किन्तु बाबा जैसी क्षमता उनमें कहाँ? ऐसी प्रतिभा औरों में मिलनी असंभव है! अच्छा हो, हम लोग बाबा का अनुगमन करने वाले बन जायें, फिर कोई संकट नहीं है। हर समस्या का समाधान बाबा स्वयं करेंगे।



इसी धुन में निष्क्रमण की तिथि चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन एक, दो नहीं पूरे चार हजार व्यक्ति ऋषभ के पास एकत्रित हो गये। ठीक समय पर ऋषभ ने अभिनिष्क्रमण किया। अभिनिष्क्रमण देखने के लिये दूर-दूर के लोग पहुँच गये थे। भविष्य के प्रति सभी सशंक थे। साधना के प्रति सभी को अज्ञात विस्मय हो रहा था। चौसठ इन्द्रों के साथ हजारों देव भी उत्सव में सम्मिलित हुए। शहर के बाहर एक उपवन में पहुँच कर ऋषभ ने अपने वस्त्राभूषण उतार कर इन्द्र को सौंप दिए।

अब ऋषभ ने केश-लुंचन प्रारम्भ किया। पहले आगे के केश उखाड़े, फिर दायें-बायें भाग का लुंचन किया व उसके बाद पीछे के केशों का लुंचन किया। अन्त में मध्य भाग में रहे केशों का लुंचन प्रारम्भ किया तब इन्द्र ने प्रार्थना की-‘प्रभो! इन्हें रहने दीजिये, बहुत सुन्दर लगते हैं। इन्द्र की प्रार्थना पर भगवान् ऋषभ ने उन केशों को वैसे ही छोड़ दिया। भगवान् ऋषभ का अनुकरण अन्य लोगों ने

भी करना प्रारम्भ कर दिया। संभवतः चोटी की परम्परा वहीं से चल पड़ी। कुछ आचार्य ऋषभ का पंच-मुष्टि लुंचन भी मानते हैं।

ऋषभ की दीक्षा के साथ चार हजार व्यक्ति दीक्षित हुए, किन्तु ऋषभ की छद्मस्थ अवस्था के मौन से सब निराश हो गए थे। कुछ समय तक प्रतीक्षा भी की, किन्तु ऋषभ के सर्वथा न बोलने से उन साधुओं ने सोचा-जीवन भर ऐसे ही निराहार और मौन रहना पड़ेगा और वे घबरा उठे, साधुत्व छोड़कर जंगल की ओर चल पड़े। सब वन-विहारी हो गए। उनमें कोई कंदाहारी बन गया, कोई मूलाहारी, कोई फलाहारी।

प्रथम दान

दीक्षा के साथ ही ऋषभ के पूर्वार्जित अन्तराय कर्म का विपाकोदय हो गया था। लोग भिक्षा विधि से अपरिचित थे। ऋषभ के प्रति अपार श्रद्धा रखते हुए भी आहार-पानी के लिये किसी ने नहीं कहा। किसी ने हाथी, किसी ने घोड़ा, किसी ने रथ के लिए आग्रह किया। प्रभु को नंगे पैर देखकर किसी ने रत्न-जड़ित जूते लाकर पहन लेने का आग्रह किया। किसी ने नंगे सिर देखकर मुकुट धारण करने का आग्रह किया। ऋषभ के शरीर पर आभूषण न देख कर नाना प्रकार के आभूषणों के लिए आग्रह किया, किन्तु खाद्य-पदार्थों के लिए किसी ने नहीं कहा।

शुद्ध आहार के अभाव में ऋषभ को बिना खाये-पीये बारह मास बीत गये। भिक्षा के समय वे भिक्षा की गवेषणा करते, शेष समय में ध्यानस्थ बने रहते। विचरते-विचरते वे हस्तिनापुर पधारे।

वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था। प्रभु भिक्षा के लिए घर-घर गवेषणा कर रहे थे। उधर ऋषभ के प्रपौत्र श्रेयांस कुमार को पिछली रात्रि में एक स्वप्न दिखाई दिया कि श्यामल बने हुए मेरु गिरि को मेरे द्वारा दूध से सींचने पर वह पुनः क्रांतिमान बन गया है। प्रातःकाल अपने महल के गवाक्ष में बैठा हुआ श्रेयांसकुमार रात्रि में आये अपने स्वप्न पर विचार कर रहा था। अकस्मात् राज-पथ पर घूमते हुए अपने परदादा भगवान् ऋषभ उन्हें नजर आये। जातिस्मरण ज्ञान से श्रेयांसकुमार ने जाना कि प्रभु प्रासुक (निर्दोष) आहार की गवेषणा कर रहे हैं और लोग उनकी भिक्षा-विधि से अनजान हैं। वे उनको अग्राह्य वस्तुओं को ग्रहण करने का आग्रह कर रहे हैं।

तत्काल श्रेयांसकुमार नीचे उतरा। ऋषभ के चरणों में उन्होंने विधिवत् वन्दना कर आहार के लिए प्रार्थना की। भगवान् ने राजमहल में प्रवेश किया। श्रेयांसकुमार तत्काल भीतर गये और देखा, क्या चीज शुद्ध है? उन्हें वहां सिर्फ इक्षु-रस ही शुद्ध मिला। इक्षु रस के मौसम का अंतिम दिन होने के कारण किसान लोग इक्षु-रस के घड़े भेंट में लाये थे, जो एक स्थान पर यथावत् रखे हुये थे।

श्रेयांसकुमार ने निवेदन किया, “भंते! इक्षु-रस के १०८ घड़े प्रासुक हैं, आप ग्रहण करें।” ऋषभ ने वहां स्थिर होकर दोनों हथेलियों को सटाकर मुख से लगा लिया। राजकुमार श्रेयांस ने उल्लसित भावना से इक्षु-रस का दान दिया। इस प्रकार इक्षु-रस से भगवान् का पारणा हुआ। देवों ने पंच द्रव्य प्रकट किये। ‘अहोदान’ की ध्वनि से आकाश गूंज उठा। दान की महिमा व विधि से लोग परिचित हुए। प्रथम भिक्षुक ऋषभ और प्रथम दाता श्रेयांसकुमार कहलाये। ऋषभ के एक संवत्सर की तपस्या के बाद दान-धर्म की स्थापना हुई। इसके बाद ही लोग धीरे-धीरे दान-धर्म के आदी बने। इक्षु-रस के दान से वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन ‘अक्षय’ हो गया। इसे इक्षु-तीज ‘आखा तीज’ या ‘अक्षय-तृतीया’ के नाम से जाना जाने लगा। ऋषभ के वर्षीतप के पारणे का इतिहास इसके साथ जुड़ जाने से यह वर्ष का स्तंभ-दिन माना जाने लगा। आगे चलकर और घटनाएं भी इसके साथ जुड़ती गईं। आज भी अक्षय-तृतीया का दिन अनेक घटनाओं, परम्पराओं का संगम-स्थल बना हुआ है।

विद्याधरों की उत्पत्ति

ऋषभ के सौ पुत्रों के अतिरिक्त दो कुंवर और ऐसे थे, जिनको उन्होंने पुत्र की तरह ही वात्सल्य दिया। वे महलों में ही रहते थे पता नहीं उनके माता-पिता जीवित थे या उनके जन्मते ही मर गये थे। वे ऋषभ के यहां ही बड़े हुए थे। उनके नाम थे नमि और विनमि। दोनों भाई भगवान् के द्वारा सुझाये गये प्रत्येक अभियान को जनता तक पहुंचाने में बड़े सिद्धहस्त थे। संयोगवश दोनों ही किसी कार्य को लेकर सुदूर प्रदेशों में गये हुए थे। पीछे से ऋषभ ने अभिनिष्क्रमण कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी।

जब वे दोनों वापिस आये तो पता चला कि बाबा सब कुछ छोड़कर जा चुके हैं। भरत आदि से उन्होंने पूछा-‘हमारे लिए बाबा ने क्या कहा है? कौन-सा प्रदेश दिया है?’ भरत ने कहा-‘बाबा ने तो कुछ नहीं दिया, लो मैं दे देता हूं, ताकि तुम्हारी व्यवस्था ठीक से चल सके।’ दोनों ने तमककर कहा-‘तुम देने वाले कौन हो? लेंगे तो बाबा से ही लेंगे, तुम्हारे से नहीं।’ भरत ने कहा- बाबा ने तो बोलना ही बन्द कर दिया है, देंगे क्या’, दोनों ने कहा-‘देखो, हम जाते हैं, कभी न कभी तो मौन खोलेंगे ही, कुछ न कुछ तो लेकर ही लौटेंगे।’

दोनों भाई बाबा के पास आये और मीठे उपालम्भों के साथ कुछ न कुछ देने की मांग की। प्रभु मौन थे। वे भी साथ में रहने लगे और सुबह, शाम मध्याह्न में जोर-जोर से बोलकर अपनी मांग को दुहराने लगे।

कई दिनों के बाद सुरपति इन्द्र भगवान् के दर्शनार्थ आये। इन दोनों भाइयों की हठपूर्वक मांग उन्होंने सुनी। सोचने लगे-‘प्रभु निवृत्त हो चुके हैं, ये दोनों कुछ

पाने की आशा से पीछे-पीछे फिर रहे हैं। 'इन्द्र ने समझाते हुए कहा-भाई! बाबा संयमी बन चुके हैं। अब कुछ नहीं देंगे।' इस पर दोनों गिड़गिड़ाए—'हम तो बेघरबार ही रह गये।' इन्द्र ने कहा-लो, तुम्हें ऐसा राज्य देता हूँ, जो बिना दिया हुआ है। वैताद्वयगिरि पर्वत पर जाओ। दोनों भाई वहां दक्षिण और उत्तर दोनों ओर नगर बसाओ। दोनों ने निवेदन किया-इतनी ऊंचाई पर चढ़ पाना असम्भव है। चढ़ भी जायेंगे तो नगर कैसे बसेगा? जनता क्यों आयेगी वहां? इन्द्र ने कहा-चिन्ता क्यों करते हो? लो, मैं तुम्हें अड़तालीस हजार विद्याएं देता हूँ जिनसे तुम पक्षी की भांति आकाश में उड़ सकते हो। इसके अतिरिक्त दिन को रात और रात को दिन बना सकते हो। नागरिक जीवन की सारी भौतिक सुविधाएं इन विद्याओं से तुम प्राप्त कर सकते हो।

दोनों भाई उन विद्याओं को सिद्ध कर वैताद्वय पर्वत पर गये। उन्होंने दक्षिण की ओर साठ नगर और उत्तर की ओर पचास नगर बसाये। विद्या-बल और इन्द्र सहयोग से सामान्य जीवन की सभी सुविधाएं वहां उपलब्ध कर दी गई। अत्यधिक सुविधाएं देखकर अनेक लोग वहां बसने को आतुर हो उठे। कुछ ही समय में काफी लोग वहां आ बसे। उनकी संतान ही आगे चलकर विद्याधर कहलाई।

सर्वज्ञता-प्राप्ति

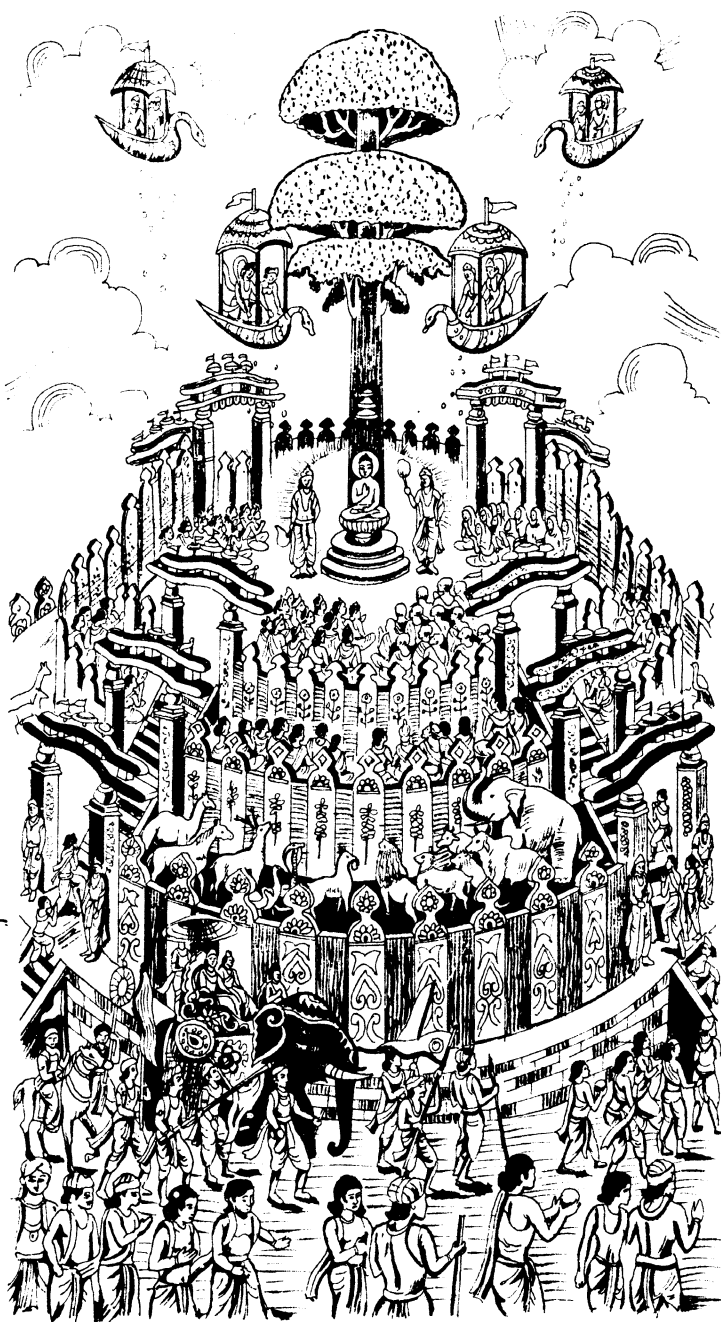
एक हजार वर्ष तक ऋषि ऋषभ ने छद्मस्थ अवस्था में साधना की। अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों को सहन करते हुए वे दूर-दूर तक आर्य जनपदों में विचरते रहे। विचरते-विचरते वे पुरिमतालपुर पधारे। वहां उद्यान में वट-वृक्ष के नीचे तेले (तीन दिन का तप) की तपस्या में फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन प्रातः काल प्रभु सर्वज्ञ बने। भगवान् के केवल ज्ञान-प्राप्ति महोत्सव पर चौसठ इन्द्र एकत्रित हुए।

देवताओं ने देव-दुंदुभि की। लोगों को ज्ञात हुआ कि अब भगवान् जीवन की आन्तरिक समस्याओं का समाधान देंगे। लोग बहुत प्रसन्न हुए। सर्वत्र एक ही बात होने लगी-अब बाबा बोलेंगे, लोगों की दुविधाओं को मिटायेंगे। वे पिछले एक हजार वर्षों से मौन थे, अब पुनः बोलने वाले हैं।

उद्घोषणा सुनकर लोग दूर-दूर से चलकर भगवान् के चरणों में उपस्थित हो गए। देवों ने समवसरण की रचना की। लोगों ने पहली बार भगवान् से अध्यात्म के बारे में सुना। वे धार्मिक उपासना की विधि से परिचित हुए। अनेक व्यक्तियों ने अपने आपको धर्म की उपासना में समर्पित किया।

भरत का धर्म-विवेक

उस समय सम्राट् भरत को एक साथ तीन बधाइयां प्राप्त हुईं। आयुधशाला में अनायास ही चक्र-रत्न पैदा होने का उन्हें संवाद मिला। दूसरी बधाई पुत्र-रत्न



के उत्पन्न होने की थी तथा तीसरी बधाई भगवान् ऋषभ को केवल-ज्ञान प्राप्ति की थी। ये तीनों बधाइयां साथ में प्राप्त हुई थीं। सम्राट् सोचने लगे-मैं पहले किसका महोत्सव करूं? क्षण-भर में वे इस निर्णय पर पहुंचे कि पिताजी ने जिस लक्ष्य को लेकर अभिनिष्क्रमण किया था, मौन व्रत स्वीकार किया था, वह उन्हें प्राप्त हो चुका है, अतः मुझे पहले पिताजी की सफलता की अभ्यर्थना करनी चाहिए। इसी में मेरा विनय है। भरत ने तत्काल घोषणा की- पहले केवल- महोत्सव होगा, चक्र-रत्न और पुत्र-रत्न के महोत्सव बाद में होंगे।



इस घोषणा के साथ ही सम्राट् भरत राजकीय सवारी में भगवान् के केवल महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए चल पड़े। उनकी राजकीय सवारी में भरत की दादी मरुदेवा माता भी थी। पुरिमतालपुर विनीता का ही समीपवर्ती नगर था।

मरुदेवा सिद्धा

ऋषभ अब बोलेंगे, लोगों से मिलेंगे, शिक्षा देंगे, ऐसा जब से मरुदेवा ने सुना, तभी से वे पुलकित हो रही थी। ऋषभ से मिलूंगी, सुखःदुख की बात पूछूंगी, इसी उमंग में उतावली होकर हाथी की सवारी से चल पड़ी। उपवन के निकट पहुंचते ही उन्हें भगवान् ऋषभदेव दृष्टिगत हुए। समवसरण में देव तथा मनुष्यों की बड़ी

भीड़ से घिरे हुए ऋषभ को देखकर मरुदेवा विस्मितमना सोचने लगी-ओह! ऋषभ के पास तो भीड़ लग रही है। मैं तो सोच रही थी कि ऋषभ अकेला है, उसे भोजन-पानी कैसे मिलता होगा? उसकी देखभाल कौन करता होगा? मैं व्यर्थ ही चिंतातुर थी, यहां तो आनन्द ही आनन्द है। ऋषभ दुःखी नहीं, अत्यन्त सुखी है। देखो, ऋषभ सब कुछ छोड़कर सुखी हो गया है। लगता है, सुख इन सबको छोड़ने में है। इसी ऊहापोह में उनका चिंतन त्याग की तरफ हो गया। धर्म- ध्यान में बढ़ती हुई मरुदेवा माता ने भावों में चारित्र्य पा लिया और तुरन्त क्षपक- श्रेणी पर जा पहुँची। हाथी पर बैठी-बैठी ही वे तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त कर सर्वज्ञ बन गई। आयुष्य अत्यधिक कम होने से हाथी से नीचे उतरने का अवकाश भी उन्हें नहीं मिला। वहीं पर योग-निरोध होकर शैलेशी बन गई और चौदहवें गुणस्थान में रहे अघाती कर्मों का भी क्षय करके उन्होंने सिद्धत्व प्राप्त कर लिया।

भरत भगवान् के निकट पहुँचकर वंदना करने लगे। भगवान् ने तभी फरमाया—‘मरुदेवा सिद्धा’। भरत ने तत्काल मुड़कर देखा तो हाथी पर परमश्रद्धेया दादीजी का शरीर भद्रासन के सहारे लुढ़का हुआ पड़ा है। भरत को बहुत आश्चर्य हुआ। भगवान् ने कहा— इस अवसर्पिणी में सर्वप्रथम मोक्ष जाने वाली मरुदेवा माता ही है।

तीर्थ स्थापना

भगवान् के प्रथम प्रवचन में ही साधु- साध्वी, श्रावक तथा श्राविकाएं बन गई थीं। चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के बाद भगवान् तीर्थंकर कहलाए। क्रमशः काफी लोग यथाशक्ति साधना में रत हुये। भगवान् के पांच महाव्रत रूप अणगार धर्म के साधक भी काफी बन गए थे। भगवान् ऋषभ के साधुओं का शरीर शक्तिशाली था, किन्तु बौद्धिक विकास न्यूनतम था। ज्ञान की दृष्टि से वे मन्द थे। कोई भी बात समझाने में पूरा परिश्रम करना पड़ता था, किन्तु समझने के बाद पालन करने में बड़े सुदृढ़ थे, उस समय आचरण क्षमता पूरी थी। तभी उस समय के युग को ऋजु {सरल} जड़ कहा जाता था।

अठानवें भाइयों द्वारा दीक्षा-ग्रहण

सम्राट् भरत पूरे क्षेत्र में एक छत्र साम्राज्य स्थापित करने के लिए चक्र रत्न के साथ विजय यात्रा के लिए निकल पड़े। सर्वत्र विजय प्राप्त करने के बाद अपने भाइयों को दूत भेजकर यह संदेश दिया कि वे उनकी अधीनता स्वीकार करें। भाइयों को यह उपयुक्त नहीं लगा। अठानवें भाइयों ने सोचा-पिताजी के पास जाकर इस समस्या का समाधान करना चाहिए।

सभी भाई पिता भगवान् ऋषभ के पास आये और अपनी व्यथा व्यक्त करते

हुए बोले-‘पिताजी! आपने हमें स्वतंत्र राज्यभार सौंपा था, पर ज्येष्ठ भ्राता भरत आपका दिया राज्य हड़पना चाहता है। यह बहुत गलत बात है। आप हमारा पथ प्रदर्शन करें।’

भगवान् ऋषभ ने अठानवें भाइयों को समझाया- ‘देखो, ये राज्य तो कभी स्थायी नहीं होते हैं! ये सारे समय के साथ छूटने वाले हैं! मैं तुम्हें ऐसे राज्य का अधिपति होने का उपाय बताता हूँ जो प्राप्त होने के बाद कभी जाता नहीं! भगवान् की युक्ति पुरस्सर वाणी से भाइयों को अवबोध मिला और उस शाश्वत राज्य के अधिपति होने की दिशा में पादन्यास कर दिया।

भरत- बाहुबली युद्ध

अठानवें भाइयों ने प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार कर ली। बाहुबली के पास जब दूत संदेश लेकर पहुंचा तो राजा बाहुबली ने कहा – दूत ! जा अपने सम्राट् भरत से कह दे कि बाहुबली अपने उन भाइयों की तरह नहीं है जिन्होंने दीक्षित होकर अपने राज्यों को समर्पित कर दिया। पूज्य पिताजी ने सब भाइयों को स्वतंत्र राज्य दिया था। तदपि भरत बलात् चेष्टा करेगा राज्य हड़पने की तो मेरे पास बाहुबल हैं, मैं अपने राज्य की रक्षा करना भली भांति जानता हूँ। मैं किसी के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता न ही कोई मेरे कार्यों में दखल दे यह पसंद करता हूँ, इसलिए मैं राजा भरत की अधीनता स्वीकार नहीं करूंगा। हां, छोटा भाई होने के नाते ज्येष्ठ भ्राता के चरणों में कभी भी, कहीं भी प्रणाम करने लिए सदैव तत्पर हूँ।’

आखिर सम्राट् भरत ने बाहुबली के राज्य तक्षशिला पर चढ़ाई कर दी। दोनों पक्षों की सेनाओं में भीषण संग्राम छिड़ गया। कभी भरत की सेना बाहुबली की सेना पर भारी पड़ रही थी तो कभी बाहुबली की फौज भरत की फौज को पछाड़ रही थी। युद्ध में भारी जनहानि को देखते हुए यह निर्णय हुआ कि मुख्यतः युद्ध भरत व बाहुबली के बीच है तो क्यों नहीं इन दोनों के बीच ही अंतिम युद्ध हो। जो जीते वही विजेता हो।

युद्ध की जो योजना बनाई गई वह इस प्रकार थी-

१. दृष्टि युद्ध
२. वाक् युद्ध
३. मुष्टि युद्ध
४. दंड युद्ध

इन सभी युद्धों में बाहुबली के हाथों भरत को जबरदस्त पराजय मिली। इस पराजय से उत्तेजित होकर भरत ने अपने अचूक व अंतिम अस्त्र “चक्र” को प्रक्षेपित किया। चारों ओर सन्नाटा छा गया, हाहाकार मच गया। सभी यह जानते थे कि इसका वार कभी खाली नहीं जाता। बाहुबली के पक्षधरों ने चक्र को रोकने की

पूरी कोशिश की पर असफल रहे। चक्र आगे बढ़ता गया पर भरत के ही परिवार के सदस्य एवं चरम शरीरी होने के कारण चक्र रत्न भी बाहुबली की प्रदक्षिणा करके लौट गया।

बाहुबली की इस विजय से गगन विजय घोषों से गूँज उठा। बाहुबली ने रूष्ट होकर जब भरत पर प्रहार करने के लिए मुष्टि उठाई तब सबके दिल कांप गये। सबने एक स्वर में प्रार्थना की- क्षमा कीजिए! सामर्थ्यवान् होकर जो क्षमा करता है वह बड़ा होता है। आप भूल को भूल जायें।

बाहुबली के उठे हुए हाथ खाली कैसे जा सकते थे। उन्होंने अपने उठे हुए हाथों को अपने ही सिर पर रखा, बालों का लोच किया और श्रमण-निर्ग्रन्थ बन गये।

बाहुबली व भरत को केवल ज्ञान

‘छोटे भाइयों को वंदन कैसे करूँ’ इस अहं भावना से प्रेरित होकर बाहुबली भगवान् ऋषभदेव की सेवा में उपस्थित नहीं हुए। वहीं पर उत्कट साधना में लग गये। एक वर्ष बीत गया अडोल ध्यानावस्था में। न भोजन, न पानी, फिर भी केवल ज्ञान की प्राप्ति से दूर थे।

भगवान् ने यह स्थिति समझ दोनों पुत्रियों- साध्वी ब्राम्ही व साध्वी सुंदरी को भेजा। दोनों की युक्ति युक्त बात से बाहुबली समझे और वंदन हेतु प्रस्थित होते ही उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

सम्राट् भरत को एक छत्र साम्राज्य मिल जाने के बाद भी भीतर में शांति नहीं थी। उन्हें इस बात का दुःख था कि राज्य सुख के लिए मैंने अपने सभी भाइयों को खो दिया। शासन करते हुए भी भरत के मन में अब कोई आसक्ति नहीं थी।

एक दिन आरिसा भवन (Glass house) में अनित्य अनुप्रेक्षा में उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

जैनतर साहित्य में ऋषभ का वर्णन

जैन साहित्य में भगवान् ऋषभ का सविस्तर वर्णन स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता है उसी प्रकार वैदिक व बौद्ध साहित्य में भी उनका कई स्थलों पर उल्लेख मिलता है। पुराणों में ऋषभ की वंश परम्परा को इस तरह बताया है- ब्रह्माजी ने अपने समान प्रथम मनु को बनाया। फिर मनु से प्रियव्रत और प्रियव्रत से आग्नीध्र आदि दस पुत्र हुए। आग्नीध्र से नाभि व नाभि से ऋषभ हुए।

ऋषभ के परिचय के बारे में पुराण कहते हैं- नाभि की प्रिया मरुदेवा की कुक्षि से अतिशय क्रांति वाले बालक ऋषभ का जन्म हुआ। राजा ऋषभ ने धर्मपूर्वक राज्य का शासन किया तथा विविध यज्ञों का अनुष्ठान किया। अपने वीर पुत्र भरत को उत्तराधिकार सौंप कर तपस्या के लिए पुलहाश्रम की ओर प्रस्थित हो गये।

ऋषभ ने अपना राज्य भरत को दिया। तब से यह हिम वर्ष भारत वर्ष के रूप में प्रसिद्ध हुआ। वैदिक ग्रंथों में ऋषभ की साधना का सुंदर विवेचन मिलता है-ऋषभ देव ने कठोर चर्या व साधना का मार्ग स्वीकार किया। उनकी लंबी तपस्या से शरीर कांटे की तरह सूख गया। उनकी शिराएं व धमनियां स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगी। आखिर नग्नावस्था में उन्होंने महाप्रस्थान किया।

ऋग्वेद में भगवान् ऋषभ को पूर्व ज्ञान का प्रतिपादक व दुखों का नाश करने वाला बताया है। वेद के मंत्रों, पुराणों व उपनिषदों में उनका प्रचुर उल्लेख हुआ है। इस देश का नाम भी भरत चक्रवर्ती के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है। यह विवेचन मार्कण्डेय पुराण, कूर्म पुराण, अग्नि पुराण, वायु महापुराण, विष्णु पुराण आदि ग्रंथों में आता है। भारत के आदि सम्राटों में नाभि पुत्र ऋषभ और ऋषभ पुत्र भरत की गणना की गई है। वे व्रत पालन में दृढ़ थे। वे ही निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभ जैनों के आप्त देव थे। धम्मपद में ऋषभ को सर्वश्रेष्ठ वीर कहा है।

निर्वाण

सर्वज्ञता के बाद भगवान् का जनपद विहार काफी लम्बा हुआ था। कहां अयोध्या और कहां वहली! कहां यूनान और कहां स्वर्णभूमि! अनार्य मानी जाने वाली भूमि का भी काफी हिस्सा भगवान् के चरणों से स्पृष्ट हुआ था। लाखों सरल आत्मज्ञ व्यक्ति भगवान् की शरण में आकर कल्याण के पथ पर अग्रसर बने थे।

भगवान् अपने जीवन का अवसान निकट समझकर दस हजार साधुओं के साथ अष्टापद पर्वत (कैलाश) पर चढ़े। अवसर्पिणी के तीसरे आरे के तीन वर्ष साढ़े आठ मास जब शेष रहे, तब छह दिनों के अनशन (निराहार) तप में अयोगी अवस्था पाकर, शेष अघाती कर्मों का क्षय करके वे परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान् ऋषभ ने पर्यकासन में सिद्धत्व को प्राप्त किया था। भगवान् के निर्वाण का दिन माघ कृष्ण त्रयोदशी का था। भगवान् का समग्र आयुष्य ८४ लाख पूर्व का था।

प्रभु का परिवार

भगवान् ने जब दीक्षा ली तब चार हजार शिष्य उनके साथ थे, किन्तु प्रभु की मौन व कठोर साधना की अज्ञानकारी से सब छिन्न-भिन्न हो गए थे। केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद उनका धार्मिक परिवार पुनः बढ़ने लगा। उनके परिवार में चौरासी हजार श्रमणों का होना अद्भुत धर्मक्रांति का ही परिणाम था। उनकी व्यवस्था के लिए भगवान् ने चौरासी गण बनाए। प्रत्येक गण का एक-एक मुखिया स्थापित किया, जिसे गणधर कहा जाने लगा। भगवान् के प्रथम गणधर ऋषभसेन थे।

० गणधर	—	८४
० केवलज्ञानी	—	२०,०००
० मनःपर्यवज्ञानी	—	१२,७५०

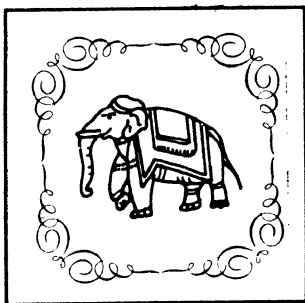
० अवधिज्ञानी	—	९,०००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	२०,६००
० चतुर्दश पूर्वी	—	४,७५०
० चर्चावादी	—	१२,६५०
० साधु	—	८४,००० (ऋषभसेन प्रमुख)
० साध्वी	—	३,००,००० (ब्राम्ही प्रमुख)
० श्रावक	—	३,०५,०००
० श्राविका	—	५,५४,०००

एक झलक—

० माता	—	मरुदेवा
० पिता	—	नाभि
० नगरी	—	विनीता (अयोध्या)
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	कश्यप
० चिन्ह	—	वृषभ
० वर्ण	—	स्वर्ण
० शरीर की ऊंचाई	—	५०० धनुष्य
० यक्ष	—	गोमुख
० यक्षिणी	—	चक्रेश्वरी
० कुमार काल	—	२० लाख पूर्व
० राज्य काल	—	६३ लाख पूर्व
० छद्मस्थ काल	—	१००० वर्ष
० कुल दीक्षा पर्याय	—	१ लाख पूर्व
० आयुष्य	—	८४ लाख पूर्व

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	—	आषाढ़ कृष्णा ४	सर्वार्थसिद्ध से
० जन्म	—	चैत्र कृष्णा ८	अयोध्या का अरण्य
० दीक्षा	—	चैत्र कृष्णा ८	अयोध्या
० केवलज्ञान	—	फाल्गुन कृष्णा ११	पुरिमतालपुर
० निर्वाण	—	माघ कृष्णा १३	अष्टापद पर्वत
			अभिजित



(२)

भगवान् श्री अजितनाथ

जैन दर्शन का विश्वास आत्मवाद में है। जितने भी तीर्थकर होते हैं, वे सब साधना के माध्यम से ही तीर्थकरत्व की भूमिका को प्राप्त करते हैं। आत्मा अपनी सजगता और सक्रियता से कर्म-मुक्त होकर परमात्मा बनती है। परमात्मा कभी सकर्मा आत्मा नहीं बनती। अणु से पूर्ण की ओर तो गति होती है, किन्तु पूर्ण से अणु की ओर गति नहीं होती।

पूर्व भव

दूसरे तीर्थकर भगवान् अजितनाथ ने भी अपने पूर्व जन्म में घोर तपस्या की थी। जंबू द्वीप के महाविदेह क्षेत्र की सीता नदी के तट पर वत्स नामक देश में सुसीमा नगरी थी। वहां के सम्राट् विमलवाहन के भय में उन्होंने बहुत ही विरक्ति का जीवन बिताया था। विपुल भोगसामग्री के बावजूद इनका जीवन वासना से उपरत था। आचार्य अरिदमन का सम्पर्क पाने के बाद वे साधना के लिए और भी कृत संकल्प हो गए। पुत्र का राज्याभिषेक कर स्वयं गुरु चरणों में प्रद्वजित हो गए।

दीक्षित होने के बाद विमलवाहन मुनि तप में लीन हो गये। एकावली, रत्नावली, लघुसिंह, महासिंह विक्रीडित जैसी कठोरतम तपस्याएं कीं। तपस्या के साथ ध्यान, स्वाध्याय, सेवा आदि कर्म-निर्जरा के अनेक साधन अपनाए। महान् कर्म-निर्जरा करके तीर्थकर नाम-कर्म का बंध किया। अन्त में अनशनपूर्वक प्राण छोड़कर विजय नामक अनुत्तर विमान में गये।

दो रानियों को चौदह स्वप्न

जितशत्रु का राजप्रासाद उस समय दुनिया में अद्वितीय था। इसका एक कारण और भी था कि जिस रात्रि में महारानी विजयादेवी को चौदह महास्वप्न आए, उसी रात्रि में राजा जितशत्रु के छोटे भाई युवराज सुमित्र की धर्मपत्नी वैजयंती को भी चौदह महास्वप्न आए। देवत्व की तेतीस सागरोपम आयु भोगकर भरत-क्षेत्र की विनीता नगरी में राजा जितशत्रु के राजमहल में आकर महारानी विजयादेवी की कुक्षि में अवतरित हुए। उस रात्रि में महारानी विजयादेवी ने चौदह महास्वप्न

देखे। पुत्र-रत्न का घर में आना ही खुशी की बात होती है, उसमें भी जगत् त्राता का घर में अवतरित होना और भी आनंद मंगल की बात थी।

सवरे स्वप्नशास्त्रियों को बुलाकर दोनों रानियों के स्वप्नों के फल पूछे गये। स्वप्नशास्त्री चकित थे कि एक साथ दो रानियों को चौदह महास्वप्न कैसे आए? काफी विचार-विमर्श के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि एक तीर्थकर और एक चक्रवर्ती का जन्म होना चाहिए। समूचे परिवार में हर्ष का वातावरण छा गया। दोनों महारानियां सावधानी से गर्भ का पालन करने लगीं।

जन्म

माघ शुक्ला अष्टमी की मध्यरात्रि की मंगल बेला में गर्भकाल पूरा होने पर सुखपूर्वक भगवान् का जन्म हुआ। चौसठ इन्द्र एकत्रित हुए। राजा ने जन्मोत्सव मनाया। इस अवसर पर सब कैदियों को मुक्त कर दिया गया। घर-घर में आनन्द का वातावरण छा गया। ग्यारह दिनों तक राजकीय उत्सव मनाया गया।

नामकरण

नामकरण के दिन पारिवारिक प्रीतिभोज का आयोजन किया गया। समस्त पारिवारिक लोगों ने पुत्र को गोद में ले लेकर आशीर्वाद दिया। किस नाम से पुकारा जाए, इस परिचर्चा में महारानी विजयादेवी ने कहा-शादी के बाद कई बार महाराजा के साथ द्यूत-क्रीड़ा का अवसर आया, किन्तु प्रत्येक बार हार खानी पड़ी थी। मेरे मन में आकांक्षा थी कि कम से कम एक बार तो मैं भी इनको जीतूं। यह मनोकामना इस बच्चे के गर्भ में आने बाद पूरी हुई। उन दिनों मैंने जितनी बार जूआ खेला, विजय मेरी हुई। उस समय मैं अजेय बन गई।

सम्राट् जितशत्रु ने कहा- आसपास के राज्यों से जो सूचना तथा शत्रु राज्यों से गुप्तचरों की जो रिपोर्ट मिली है, वह बहुत ही आश्चर्यजनक है। इन महीनों में शत्रु राज्यों के दिलों में भी यह भावना उत्पन्न हुई है कि महाराजा जितशत्रु अजेय हैं। इन्हें जीतना असम्भव है। इनके साथ शत्रुता प्राणघातिनी सिद्ध हो सकती है, ऐसी एक भावना बन गई है। यद्यपि मैंने युद्ध की तैयारी नहीं की है, तथापि इन शुभ-संकेतों का उत्पन्न होना मैं तो इस बालक का प्रभाव ही मानता हूं। अतः मेरे चिन्तन में बालक का नाम अजितनाथ रखा जाए।' गुण-निष्पन्न इस नाम पर तुरन्त सबकी सहमति मिल गई। छोटे भाई सुमित्र के पुत्र का नाम 'सगर' रखा गया।

विवाह और राज्य

क्रमशः दोनों बालक बड़े हुए। युवावस्था में प्रवेश करने पर वंश परम्परा के अनुसार अनेक राजकन्याओं से दोनों की शादी कर दी गई। दोनों भाई महलों में पंचेन्द्रिय सुखोपभोग करते हुए रहने लगे।

एक बार राजा जितशत्रु के मन में विचार उठा- पुत्र राज्य करने लायक हो गये हैं, फिर भी मैं राज्य कर रहा हूँ। यह मेरा प्रमाद है। मुझे अब शीघ्रातिशीघ्र राज्य छोड़कर साधना में लग जाना चाहिए। इसी निर्णय के साथ अपने छोटे भाई युवराज सुमित्र को बुलाकर राज्य का भार उन्हें देना चाहा, किन्तु सुमित्र इन्कार हो गए। तब उन्होंने अपने पुत्र अजितनाथ का राज्याभिषेक किया और स्वयं युवराज सुमित्र के साथ दीक्षित होकर उत्कृष्ट साधना में लग गए।

अजितनाथ के राज्य- संचालन से प्रजा बड़ी सुखी थी। राज्य में किसी भी वस्तु का अभाव नहीं था। जनता अत्यन्त चैन से जीवनयापन कर रही थी। सबके हृदय में अजितनाथ के प्रति गहरी एकात्मकता थी।

दीक्षा-प्रतिबोध

इकहत्तर लाख पूर्व वर्षों तक घर में रहने के बाद भोगावली कर्म शेष हुये और प्रभु का अन्तर्मन साधना के लिए उद्यत बना जानकर लोकांतिक देव आए, और रश्म के तौर पर अजितनाथ को प्रतिबोध दिया। प्रत्येक तीर्थंकर वैसे स्वयं बुद्ध होते हैं, किन्तु लोकान्तिक देव उन्हें दीक्षा से एक वर्ष पूर्व प्रतिबोध देने आते हैं। उनके आने के बाद ही तीर्थंकर अभिनिष्क्रमण की तैयारी करते हैं।

राज्य त्याग और वर्षीदान

अजितनाथ ने अपने चचेरे भाई 'सगर' को राज्य संचालन का भार सौंपा और वर्षीदान प्रारंभ किया। वर्षीदान की व्यवस्था सदैव देवता ही करते हैं। भरत- क्षेत्र में कहीं पर भी गडा हुआ स्वामी-विहीन स्वर्ण निकालकर उसे जौ के आकार का बनाकर रात्रि में भंडार भर देते हैं। इन स्वर्णयवों को 'सोनईया' कहा जाता है। सोनईया के एक तरफ तीर्थंकर की माता का नाम तथा दूसरी तरफ पिता का नाम अंकित रहता है। भगवान् दीक्षा से पूर्व उन सोनईयों का दान वर्ष भर प्रतिदिन एक प्रहर तक देते हैं। इस एक प्रहर में वे एक करोड़ अस्सी लाख सोनईयों का दान करने लगे। इसका उद्देश्य जन-साधारण में दीक्षा से पूर्व ही भगवान् का वैशिष्ट्य स्थापित करना होता है। इस बहाने अनेक परिचित- अपरिचित व्यक्तियों से साक्षात्कार हो जाता है। इस दान को अमीर- गरीब सभी ग्रहण करते हैं। इसकी सारी व्यवस्था देवों के हाथ में रहती है। तीर्थंकर तो सिर्फ परम्परा के निर्वाह के लिए नायक मात्र होते हैं। भगवान् अजितनाथ ने भी उस परम्परा का पालन किया और एक वर्ष तक वर्षीदान दिया। इस अवधि में कुल तीन अरब अठासी करोड़ अस्सी लाख सोनईयों का दान किया।

दीक्षा

वर्षीदान के बाद जब अजितनाथ दीक्षा के लिए तत्पर हुए तो राजा सगर ने भगवान् का दीक्षा महोत्सव किया। चौसठ इंद्र एकत्रित हुए। सुसज्जित

सुखपालिका में बिठाकर भगवान् को सहस्राम्र उद्यान में लाया गया। वहां भगवान् एक हजार अन्य राजा, राजकुमार व प्रजाजनों के साथ दीक्षित हुए। दीक्षा लेते समय भगवान् के बेले का तप था। दूसरे दिन अयोध्या नरेश ब्रह्मदत्त के यहां प्रथम पारणा हुआ।

दीक्षित होने के बाद भगवान् ने बारह वर्ष तक कठोर तपस्या व उत्कृष्ट साधना की। ग्रामानुग्राम विचरते हुए प्रभु पुनः अयोध्या पधारे। पौष शुक्ला एकादशी के दिन प्रभु ध्यानावस्था में क्षपक श्रेणी चढ़े। घातिक कर्मों को क्षय करके सर्वज्ञता प्राप्त की। देवों ने उत्सव किया, प्रभु ने तीर्थ-स्थापना की। प्रथम देशना में ही बड़ी संख्या में साधु- साध्वी, श्रावक और श्राविकायें हो गये।



सगर को वैराग्य

भगवान् चिरकाल तक धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते रहे। लाखों लोग अध्यात्म के आलोक से आलोकित हुए। उनके शासनकाल में ही उनके भाई सगर चक्रवर्ती बने और एक निमित्त के साथ सब कुछ छोड़कर वे आत्मस्थ बन गए। चक्रवर्ती सगर के साठ हजार पुत्र थे। अपने पिता के वे परम- भक्त थे। एक बार उन्होंने

सौचा- पूज्य पिताजी को प्रतिदिन नया कुआं खोद कर पानी पिलाना चाहिए। दूसरे दिन से यह क्रम चालू हो गया। चक्रवर्ती के मूशलरत्न का इस कार्य में प्रयोग किया जाने लगा। मूशलरत्न से कुआ तत्काल खुद जाता था। उस कुएं के पानी को अपने पिता के पीने के लिए प्रस्तुत करते थे।

एक दिन वे अनजान में किसी नागकुमार देवता के स्थान को खोदने लगे। नागदेव ने इनका विरोध किया, किन्तु सत्ता के उन्माद में किसी ने ध्यान नहीं दिया प्रत्युत उसकी मखौल उड़ाने लगे। क्षुब्ध नागदेव ने अपने अधिकारी देव के पास उनकी शिकायत की। अधिकारी देव ने उनको चेतावनी दी, फिर भी वे नहीं माने। अधिकारी देव ने क्रुद्ध होकर उस कुएं में से इतने वेग से पानी निकाला कि सब एक साथ पानी के प्रवाह में बहकर मर गये।

सम्राट् सगर की कुल देवी भी इस भवितव्यता को टाल नहीं सकी। वह सगर का समझाने की दृष्टि से बुढ़िया का रूप बनाकर सम्राट् जिधर घूमने गये थे, उधर चिल्ला- चिल्ला कर पुत्र- शोक में रोने लगी। सम्राट् ने उसे धैर्य देने का प्रयत्न किया। इस पर बुढ़िया ने दुःखी स्वर से कहा- जिस पर बीतती है उसे ही पता चलता है। सम्राट् ने कहा- यह तो ठीक ही हैं। किंतु मेरे पर अगर कभी ऐसी बीतेगी, तो मैं धैर्य रखूंगा। बुढ़िया ने तत्काल पूछा- क्या पक्की बात है?

सम्राट् ने कहा- मेरी वाणी कभी कच्ची नहीं होती। बुढ़िया ने तत्काल देवी के रूप में प्रकट होकर उस दुःखद संवादे को सुनाया।

सम्राट् को भारी आघात लगा, किन्तु वे उसे पी गये। संसार की नश्वरता उनके सामने साकार हो गई सम्राट् सगर तत्काल पौत्र भगीरथ को राज्य देकर दीक्षित हो गये। क्रमशः उत्कृष्ट साधना करके मुक्त बने।

निर्वाण

भगवान् अजितनाथ ने जब अपना निर्वाण निकट देखा तो एक हजार साधुओं के साथ सम्मेलन शिखर पर पहुंचे। एक मास के अनशन में उन्होंने समस्त कर्मों को क्षय करके सिद्धत्व को प्राप्त किया।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	— ९५
० केवलज्ञानी	— २२,०००
० मनः पर्यवज्ञानी	१२,५००
० अवधिज्ञानी	— ९,४००
० वैक्रिय लब्धिधारी	— २०,४००
० चतुर्दश पूर्वी	— ३,७२०
० चर्चावादी	— १२,४००

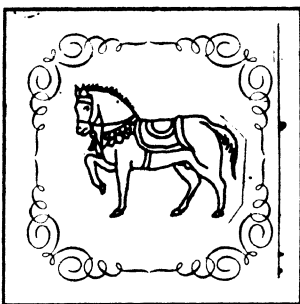
० साधु	— १,००,०००
० साध्वी	— ३,३०,०००
० श्रावक	— २,९८,०००
० श्राविका	— ५,४५,०००

एक झलक—

० माता	— विजया
० पिता	— जितशत्रु
० नगरी	— अयोध्या
० वंश	— इक्ष्वाकु
० गोत्र	— काश्यप
० चिन्ह	— हाथी
० वर्ण	— सुवर्ण
० शरीर की ऊंचाई	— ४५० धनुष्य
० यक्ष	— महायक्ष
० यक्षिणी	— अजितबला
० कुमार काल	— १८ लाख पूर्व
० राज्य काल	— एक पूर्वांग अधिक ५३ लाखपूर्व
० छद्मस्थ काल	— १२ वर्ष
० कुल दीक्षा पर्याय	— १ पूर्वांग कम १ लाख पूर्व
० आयुष्य	— ७२ लाख पूर्व

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	— बैसाख शुक्ला १३	विजय	रोहिणी
० जन्म	— माघ शुक्ला ८	अयोध्या	रोहिणी
० दीक्षा	— माघ शुक्ला ९	अयोध्या	रोहिणी
० केवलज्ञान	— पोष शुक्ला ११	अयोध्या	रोहिणी
० निर्वाण	— चैत्र शुक्ला ५	सम्मेद शिखर	मृगशीर्ष



(३)

भगवान् श्री संभवनाथ

महापुरुष कोई एक दिन में नहीं बन जाता। इसके लिए वर्षों नहीं, कई जन्मों तक साधना करनी पड़ती है। भगवान् श्री संभवनाथ के जीव ने भी अनेक भवों में साधना की थी, मानवीय गुणों का विकास किया था। उसी के परिणामस्वरूप वे तीर्थकर बने।

पूर्व भव

एक बार वे धातकीखंड द्वीप के ऐरावत क्षेत्र में क्षेमपुरी नगरी के विपुलवाहन नामक राजा थे। राज्य में भयंकर दुष्काल पड़ा। राजा के मन में दायित्व-भाव उमड़ पड़े। उसने अपने भंडार के द्वार खोल दिए। अधिकारियों को निर्देश दिया कि भंडार में भले ही कुछ न बचे, किन्तु राज्य का एक भी व्यक्ति भूखा नहीं रहना चाहिए। राजा ने बाहर से अन्न मंगाया, ग्राम-ग्राम में अन्न क्षेत्र बनाये। स्वयं देहाती क्षेत्रों का दौरा किया और अन्न वितरण की व्यवस्था देखी। राज्य में चल रहे विकास कार्यों की गतिविधि को देखा। राजा के इस आत्मीय व्यवहार से प्रजा में अद्भुत एकात्मकता आ गई।

दुष्काल के कारण अनेक साधु सुदूर जनपदों में चले गए, किन्तु कुछ शरीर से अस्वस्थ या अक्षम साधु और उनकी परिचर्या करने वाले मुनि अभी शहर में थे। उन्हें शुद्ध आहार कभी मिलता और कभी नहीं मिलता। जानकारी मिलते ही राजा तत्काल मुनियों के पास गया और भोजन के लिए निमंत्रण दिया। मुनि की चर्या से राजा अपरिचित था। मुनियों ने अपने कल्प-अकल्प की विधि बतलाई। राजा ने निवेदन किया- कोई बात नहीं, राजमहल में अनेक भोजनालयों में सात्विक भोजन बनता है। मेरे सहित सभी व्यक्ति कुछ न कुछ कम खाकर आपको देंगे, आप पधारिए। मुनि गए, राजमहल से यथोचित आहार ले आए। राजा ने शहर में अन्न संपन्न व्यक्तियों को भी समझाया, वे भी मुनियों को भक्ति से भिक्षा देने लगे। दुष्काल के दिनों में प्रतिदिन राजा संतों को आहार मिला या नहीं, इसकी जानकारी लेता और धर्म-दलाली करता। इस धर्म-दलाली और शुद्ध-दान से

राजा को विशिष्ट कर्म- निर्जरा हुई एवं अपूर्व पुण्य का बंध हुआ।

अगले वर्ष बारिस हुई। अच्छी फसल होने से सर्वत्र अमन छा गया। पूर्ववत् सारी व्यवस्थाएं चालू हो गई। राजकीय सहायता केन्द्र जरूरत के अभाव में बन्द कर दिए गए, किन्तु राजा के प्रति निष्ठा के भाव प्रजा में स्थायी रूप से जम गए।

तीर्थकर गोत्र का बन्ध

एक बार राजा विपुलवाहन ने बादलों की घनघोर घटा को हवा के साथ उमड़ते व बिखरते देखा। राजा को संसार व परिवार का स्वरूप भी ऐसे ही छिन्न- भिन्न होने वाला लगा। वे भौतिक जीवन से विरक्त हो गए, और स्वयंप्रभ आचार्य के पास दीक्षित होकर अध्यात्म में लीन हो गए। मुनि विपुलवाहन ने अपनी उदात्त भावना के द्वारा कर्म निर्जरा के बीस विशेष स्थानों की साधना की। अशुभ कर्मों की निर्जरा के साथ तीर्थकर नाम कर्म जैसी शुभ पुण्य-प्रकृति का बंध किया। अन्त में समाधिपूर्वक आराधक पद पाकर नौवे देवलोक में देव बने। तिलोयपन्नत्ति आदि ग्रंथों में विपुलवाहन ग्रैवेयक में गए, ऐसा उल्लेख है।

जन्म

सुखमय देवायु को पूर्णतः भोग लेने के बाद उनका वहां से च्यवन हुआ। भरत क्षेत्र में सावत्थी नगरी के राजा जितारि की पटरानी सेनादेवी की कुक्षि में वे अवतरित हुए। रात्रि में सेनादेवी को तीर्थकरत्व के सूचक चौदह महास्वप्न आए। रानी ने सम्राट् जितारि को जगाकर स्वप्न बतलाए। हर्षोन्मत्त राजा ने रानी से कहा- कोई भुवन- भास्कर अपने घर में आया है। ये स्वप्न उसी के सूचक हैं। अब तुम नींद मत लो, धर्म- जागरण करो। सवेरे मैं स्वप्नशास्त्रियों से पूछकर इसका विस्तृत ब्यौरा बताऊंगा।

सवेरे राजा ने स्वप्न- पाठकों को बुलाया। आसन आदि देकर उनका सम्मान किया। उन्हें रानी को आए हुए चौदह महास्वप्नों का विवरण सुनाया और उनके फलाफल के बारे में जिज्ञासा की। उन्होंने स्वप्न-शास्त्रों व अपने अध्ययन के आधार पर एक मत से यह निर्णय सुनाया कि रानीजी की कुक्षि से पुत्र रत्न पैदा होगा, लाखों व्यक्तियों को उनसे त्राण मिलेगा। राजन्! आपका नाम इस पुत्र के कारण अमर हो जाएगा। स्वप्न पाठकों की बात से राजमहल सहित सारे जनपद में खुशी की लहर फैल गई।

गर्भकाल पूरा होने पर महारानी सेनादेवी ने मिगसर शुक्ला चतुर्दशी की मध्य-रात्रि में बालक को जन्म दिया। सर्वप्रथम इन्द्रों ने जन्मोत्सव किया। बाद में राजा जितारि और सावत्थी जनपद के भावुक लोगों ने जन्मोत्सव मनाया। ग्यारह दिनों तक राजकीय उत्सव चला।

नामकरण

पुत्र के नामकरण के उत्सव में परिवार व राज्य के प्रतिष्ठित नागरिक एकत्रित हुए। उन्होंने बालक को आशीर्वाद दिया। नाम के संबंध में सम्राट् जितारि ने बताया कि इस बार राज्य की पैदावार अभूतपूर्व हुई है। इस वर्ष की फसल राज्य के इतिहास में कीर्तिमान है। मैं सोचता हूँ कि ऐसी फसल इस बालक के आने के उपलक्ष में ही संभव हो सकी है। अतः पुत्र का नाम संभवनाथ रखा जाना उपयुक्त होगा। यह नाम सबको उचित लगा और बिना किसी विकल्प के सबने बालक को संभवकुमार कहकर पुकारा।

विवाह और राज्य

अवस्था के साथ संभवकुमार ने यौवन में प्रवेश किया, तब राजा जितारि ने सुयोग्य कन्याओं से विवाह कर दिया। कुछ समय के बाद आग्रहपूर्वक संभवकुमार को सिंहासनारूढ़ करके स्वयं निवृत्त हो गए।

संभवकुमार का मन युवावस्था में भी राज्यसत्ता व अपार वैभव पाकर आसक्त नहीं बना। वे केवल कर्तव्यभाव से राज्य का संचालन करते रहे। उनके शासन-काल में राज्य में अद्भुत शांति रही। चारों ओर समृद्धि का वातावरण छाया रहा। वे ५९ लाख पूर्व तक घर में रहे।

दीक्षा

भोगावली कर्मों की परिसमाप्ति निकट समझकर भगवान् ने वर्षोदान दिया। भगवान् के अभिनिष्क्रमण की बात सुनकर अनेक राजा व राजकुमार विरक्त होकर राजा संभव के साथ घर छोड़ने को तैयार हो गए। निश्चित तिथि मिसर शुक्ला पूर्णिमा को एक हजार राजा व राजकुमारों के साथ राजा सम्भव सहस्राग्र वन में आए, पंचमुष्टि लुंचन किया, हजारों लोगों के देखते- देखते जीवन भर के लिए सावद्य योगों का प्रत्याख्यान किया। चारित्र के साथ ही उन्होंने सप्तम गुणस्थान का स्पर्श किया। उन्हें चौथे मनःपर्यव ज्ञान की प्राप्ति हुई। प्रत्येक तीर्थंकर को दीक्षा के साथ ही चौथा मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस ज्ञान का उपयोग कर वे चाहें तो अढाई द्वीप (जंबू द्वीप, धातकी खंड तथा अर्द्ध पुष्कर द्वीप) में समनस्क प्राणियों के मनोगत भावों को जान सकते हैं।

दीक्षा के दिन भगवान् के चौविहार बेले का तप था। दूसरे दिन सावत्थी नगरी के राजा सुरेन्द्र के यहां प्रथम पारणा हुआ।

भगवान् संभवनाथ चौदह वर्ष तक मुनि अवस्था में विचरण करते रहे। उन्होंने जितेन्द्रियता के साथ कर्म-बंधनों का पूर्णतः सफाया करना प्रारंभ कर दिया। विचरते- विचरते वे पुनः सावत्थी में पधारे। वहीं पर उन्होंने छद्मस्थ काल का अन्तिम चातुर्मास किया।

साधना करते-करते वहीं पर कार्तिक कृष्णा पंचमी को शुक्ल- ध्यान के साथ भगवान् उच्च- श्रेणी पर आरुढ़ हुए। मोह को क्षय करने के साथ क्षायिक चारित्रवान् बने। अन्तर्- मुहूर्त्त में ही शेष तीन घाती-कर्मों का क्षय करके उन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त की।

इन्द्रों ने भगवान् का केवल- महोत्सव किया। भगवान् के जन्म व दीक्षा- भूमि के लोगों ने जब भगवान् की सर्वज्ञता सुनी तो सुखद आश्चर्य के साथ उद्यान में दर्शनार्थ उमड़ पड़े। वंदन करके सुर- रचित समवसरण में सारे बैठ गए। भगवान् ने देशना दी। आगार व अणगार दोनों प्रकार की उपासना निरूपित की। प्रथम देशना में चतुर्विध (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) संघ की स्थापना हो गई।

निर्वाण

प्रभु ने आर्य जनपद में दीर्घकाल तक विचरण किया। लाखों भव्य जनों का उद्धार किया। अंत में अपना महाप्रयाण निकट समझ कर उन्होंने सम्मेद शिखर पर १००० साधुओं के साथ अनशन कर लिया। शुक्ल ध्यान के चतुर्थ चरण में पहुंच कर उन्होंने क्रिया मात्र का विच्छेद कर दिया। अयोगी अवस्था को पाकर उन्होंने शेष अघाति कर्मों को क्षय किया और सिद्धत्व को प्राप्त हुए।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	१०२
० केवलज्ञानी	—	१५,०००
० मनेः पर्यवज्ञानी	—	१२,१५०
० अवधिज्ञानी	—	९,६००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	१९,८००
० चतुर्दश पूर्वी	—	२,१५०
० चर्चावादी	—	१२,०००
० साधु	—	२,००,०००
० साध्वी	—	३,३६,०००
० श्रावक	—	२,९३,०००
० श्राविका	—	६,३६,०००

एक झलक—

० माता	—	सेना
० पिता	—	जितारि
० नगरी	—	श्रावस्ती
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप

० चिन्ह	—	अश्व
० वर्ण	—	सुवर्ण
० शरीर की ऊंचाई	—	४०० धनुष्य
० यक्ष	—	त्रिमुख
० यक्षिणी	—	दुरितारि
० कुमार काल	—	१५ लाख पूर्व
० राज्य काल	—	४ पूर्वांग अधिक ४४ लाख पूर्व
० छद्मस्थ काल	—	१४ वर्ष
० कुल दीक्षा पर्याय	—	४ पूर्वांग कम १ लाख पूर्व
० आयुष्य	—	६० लाख पूर्व

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	—	फाल्गुन शुक्ला-८	आनत मृगशीर्ष
० जन्म	—	मिगसर शुक्ला-१४	श्रावस्ती मृगशीर्ष
० दीक्षा	—	मिगसर शुक्ला-१५	श्रावस्ती मृगशीर्ष
० केवल ज्ञान	—	कार्तिक कृष्णा-५	श्रावस्ती मृगशीर्ष
० निर्वाण	—	चैत्र शुक्ला-५	सम्मेद शिखर मृगशीर्ष



(४)

भगवान् श्री अभिनन्दन

जंबू द्वीप के पूर्व महाविदेह की मंगलावती नामक विजय में रत्नसंचया नगरी थी। वहां 'महाबल' नाम का राजा राज्य करता था।

महाबल के भव में भगवान् अभिनन्दन का जीव भौतिकता के प्रति सर्वथा उदासीन रहता था। राज्य- सत्ता व युवावस्था का जोश भी उन्हें उन्मत्त नहीं बना सका। पिताजी का सौंपा हुआ दायित्व वे निर्लिप्त- भाव से निभाते थे और संयम के लिए अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करते रहते थे। अन्त में उनकी सन्तान गुरुकुल से बहत्तर कलाएं सीखकर ज्योंही राज्य चलाने योग्य बनी, महाबल राजा ने उसे राज्य सौंपकर स्वयं को आचार्य विमलचन्द्र के चरणों में संयमी बना लिया। साधना की चिर- अभिलाषा राजा के जीवन में साकार हो गई। राजकीय व पारिवारिक बंधनों से मुक्त होकर वे सर्वथा उन्मुक्तविहारी बन गये। साधना के विविध प्रयोगों के माध्यम से उन्होंने उत्कृष्ट कर्म निर्जरा की और तीर्थकर गोत्र के रूप में अत्युत्तम पुण्य- प्रकृति का बंध किया। सुदीर्घ साधना को सम्पन्न कर वहां से पंडितमरण प्राप्त कर वे विजय नामक अनुत्तर विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए।

जन्म

देवलोक की ३३ सागर की अवधि समाप्त होने के बाद स्वर्ग से उनका च्यवन हुआ। भरत क्षेत्र की समृद्ध नगरी अयोध्या में राजा संवर राज्य करते थे। महारानी सिद्धार्था की कुक्षि में वे अवतरित हुए। रात्रि में चौदह महास्वप्न देखकर सिद्धार्था जागृत हुई। सम्राट् संवर को जगाकर रानी ने अपने स्वप्न सुनाए। प्रसन्नचित्त राजा ने रानी की प्रशंसा करते हुए कहा- 'हम वास्तव में भाग्यशाली हैं। इन स्वप्नों से लगता है कि हमारा महान् वंश अब महानतम बनेगा, कोई पुण्यात्मा तुम्हारी कोख में अवतरित हुई है। निश्चय ही हम क्या, समूचा विश्व उससे उपकृत होगा।'।

सवेरे राजा संवर ने स्वप्न पाठकों को बुलाकर स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्न पाठकों ने अध्ययन बल व शास्त्रबल से यह घोषणा की कि कोई तीर्थकर देव महारानी की कुक्षि में अवतरित हुए हैं।

गर्भकाल की परिसमाप्ति पर महारानी सिद्धार्था ने माघ शुक्ला द्वितीया की मध्य रात्रि में एक पुत्र- रत्न को जन्म दिया। क्षण भर के लिए लोकत्रय में शांति छा गई। नारकी के जीव भी क्षण भर की शांति से स्तब्ध रह गए।

चौसठ इन्द्रों ने भगवान् का जन्मोत्सव किया। सम्राट् संवर ने जी भर उत्सव किया। बंदियों को मुक्त कर दिया गया। याचकों को दिल खोलकर दान दिया गया। एक पुण्यवान के जन्म लेने से न जाने कितने व्यक्तियों के भाग्योदय हो जाते हैं।

नामकरण

सम्राट् संवर ने नामकरण महोत्सव का भी विराट् आयोजन किया, जिसमें पारिवारिक लोगों के साथ बड़ी संख्या में नागरिक भी उपस्थित थे। बालक को देखकर सभी कृतकृत्य हो रहे थे। नामकरण के बारे में प्रसंग चलने पर सम्राट् संवर ने कहा- 'पिछले नौ महिनों में जितना आनंद राज्य में रहा, मेरे शासनकाल में मैंने ऐसा आनन्द पहले नहीं देखा। राज्य में अपराधों में स्वतः कमी आ गई। पारस्परिक विग्रह इन नौ महिनों में कभी सामने आये नहीं। न्यायालय मामलों के बिना विश्राम- स्थल बन रहे हैं। पारस्परिक प्रेम का ऐसा अनूठा उदाहरण अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता। राज्य के हर व्यक्ति में मानसिक प्रसन्नता छाई हुई है। गुप्तचरों की रिपोर्ट से भी यही प्रकट होता है अतः मेरी दृष्टि में आनंदकारी नंदन का नाम अभिनंदन कुमार रखना चाहिए।' सबको यह नाम तुरन्त जच गया। बालक को अभिनंदन कुमार कहकर पुकारा जाने लगा।

विवाह और राज्य

राजकुमार अभिनंदन ने जब किशोरावस्था पार की तब सम्राट् संवर ने अनेक सुयोग्य कन्याओं से उनका विवाह कर दिया। कुछ समय के बाद आग्रहपूर्वक राजकुमार अभिनंदन का राज्याभिषेक भी कर दिया गया। राजा संवर स्वयं संसार से विरक्त होकर मुनि बन गये।

सम्राट् अभिनंदन राज्य का संचालन कुशलता के साथ करने लगे। राज्य में व्याप्त अभूतपूर्व आनंद व अनुपमेय शांति से लोगों में अपार सात्विक आस्था पैदा हो गई थी। घर में रहते हुए भी उनका जीवन ऋषि- तुल्य बन गया था। इन्द्रियजन्य वासनाओं से वे सर्वथा ऊपर उठे हुये थे।

दीक्षा

सुदीर्घ राज्य संचालन तथा भोगावली कर्मों के निःशेष हो जाने के बाद उन्होंने अपने उत्तराधिकारी को राज्य सौंप दिया तथा विधि के अनुसार वर्षादान देने लगे। उनकी वैराग्य वृत्ति से अनेक राजा व राजकुमार प्रभावित हुए। वे भी उनके साथ संयमी होने को उद्यत हो गए। निश्चित तिथि माघ शुक्ला द्वादशी के दिन एक

हजार व्यक्तियों के साथ, पंचमुष्टि लोच करके सहस्राम्र उद्यान में प्रभु दीक्षित हुए। दीक्षा के दिन उनके बेले की तपस्या थी। 'तिलोयपन्नक्ति' में तैले के तप का उल्लेख मिलता है।

दूसरे दिन साकेतपुर में राजा इन्द्रदत्त के यहां भगवान् ने प्रथम पारणा किया। अठारह वर्षों तक अभिनंदन मुनि ने कठोर तपश्चर्या द्वारा अपूर्व कर्म- निर्जरा की। वर्धमान परिणामों में शुक्ल-ध्यानारूढ़ होकर उन्होंने क्षपक श्रेणी प्राप्त कर ली। घातिक कर्मों को क्रमशः क्षय करके उन्होंने कैवल्य प्राप्त कर लिया। जिस दिन वे सर्वज्ञ बने, उस दिन अयोध्या में विराजमान थे।

भगवान् के प्रथम प्रवचन के साथ ही 'तीर्थ' की स्थापना हो गई थी बड़ी संख्या में भव्य लोगों ने साधु व श्रावक- व्रत ग्रहण किए। तीर्थकर अभिनंदन जन्मे, तब लोगों में आनन्द छा गया। उनके राज्य काल में विग्रह समाप्त हो गया और उनके तीर्थकर काल में भव्य लोगों को भावतः आनन्द मिलने लगा।

निर्वाण

आर्य क्षेत्र में गंधहस्ती की भांति भगवान् दीर्घकाल तक विचरते रहे। बाद में अपना अंतकाल निकट जानकर उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ सम्मेल शिखर पर अनशन प्रारंभ कर दिया। एक मास के अनशन में शैलेशी पद पाकर, समस्त कर्मों को क्षय करके उन्होंने सिद्धत्व को प्राप्त किया। देवों और मनुष्यों ने मिलकर भगवान् के शरीर की निहरण क्रिया विधिपूर्वक सम्पन्न की।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	११६
० केवलज्ञानी	—	१४,०००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	११,६५०
० अवधिज्ञानी	—	९,८००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	१९,०००
० चतुर्दश पूर्वी	—	१,५००
० चर्चावादी	—	११,०००
० साधु	—	३,००,०००
० साध्वी	—	६,३०,०००
० श्रावक	—	२,८८,०००
० श्राविका	—	५,२७,०००

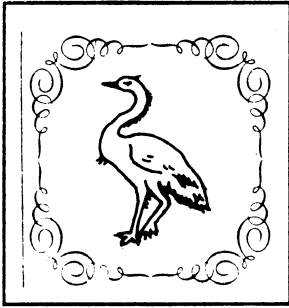
एक झलक—

० माता	—	सिद्धार्थ
० पिता	—	संवर

० नगरी	—	अयोध्या
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	वानर
० वर्ण	—	सुवर्ण
० शरीर की ऊंचाई	—	३५० धनुष्य
० यक्ष	—	यक्षेश
० यक्षिणी	—	काली
० कुमार काल	—	१२,५०,००० पूर्व
० राज्य काल	—	८ पूर्वांग अधिक ३६,५ लाख पूर्व
० छद्मस्थ काल	—	१८ वर्ष
० कुलदीक्षा पर्याय	—	८ पूर्वांग कम १ लाख पूर्व
० आयुष्य	—	५० लाख पूर्व

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	— बैसाख शुक्ला ४	विजय	अभिजीत
० जन्म	— माघ शुक्ला २	अयोध्या	अभिजीत
० दीक्षा	— माघ शुक्ला १२	अयोध्या	अभिजीत
० केवलज्ञान	— पोष शुक्ला १४	अयोध्या	अभिजीत
० निर्वाण	— बैसाख शुक्ला ८	सम्मद शिखर	पुष्य



(५)

भगवान् श्री सुमतिनाथ

पूर्व भव

तीर्थंकर सुमतिनाथ का जीव पूर्व- जन्म में जंबू द्वीप के पूर्व महाविदेह की पुष्कलावती विजय में सम्राट् विजयसेन के महल में चिर अभिलषित पुत्र के रूप में पैदा हुआ था। इनसे पहले सम्राट् के घर कोई संतान नहीं होने से महारानी सुदर्शना अत्यधिक चिंतित रहती थी। एक बार वह उपवन में घूमने गई। वहां उसने एक श्रेष्ठि-पत्नी के साथ आठ पुत्रवधुओं को देखा। उसे अपनी रिक्तता खलने लगी, दिल विषाद में डूब गया। वह महल में आकर सिसकियां भरने लगी। राजा के पूछने पर उसने सारा प्रकरण कह सुनाया। राजा ने कहा- तुम रोओ मत मैं तेले की तपस्या करके कुलदेवी से पूछ लेता हूं ताकि तुम्हारी जिज्ञासा शांत हो जाए। राजा ने पौषधशाला में अष्टम (तेला) तप सम्पन्न किया।

कुलदेवी उपस्थित हुई। राजा ने संतान प्राप्ति के विषय में जिज्ञासा की। देवी ने कहा- तुम्हारे एक पुत्र स्वर्ग से च्यवकर उत्पन्न होगा। राजा ने यह सुसंवाद रानी को सुनाया कि हमारे पुत्र रत्न होगा, चिंता मत करो। अब रानी पुत्र- प्राप्ति की प्रतीक्षा में दिन बिताने लगी।

क्रमशः रानी के गर्भ रहा तथा गर्भकाल पूरा होने पर एक तेजस्वी एवं अत्यधिक रूपवान बालक को उसने जन्म दिया। राजा ने बालक का नाम पुरुषसिंह रखा। बड़े लाड- प्यार से बालक का लालन- पालन हुआ।

एक दिन कुंवर पुरुषसिंह उद्यान में भ्रमण हेतु गया। वहां उसे विजय नंदन आचार्य के दर्शन हुए। आचार्य देव से तात्त्विक विवेचन सुना। कुछ क्षणों के सान्निध्य ने ही कुंवर के अन्तर् नेत्र खोल दिये। अपने हिताहित का भान उसे हो गया। भौतिक उपलब्धियों से कुंवर को विरक्ति हो गई।

उभरती युवावस्था में तीव्र विरक्ति से गुरु-चरणों में कुंवर दीक्षित हो गया। पुरुषसिंह मुनि अणगार बनने के बाद उत्कृष्ट तप और ध्यान में लगे। कर्म- निर्जरा के बीस स्थानकों की उन्होंने विशेष साधना की, उत्कृष्ट कर्म- निर्जरा के द्वारा तीर्थंकर पद की कर्म- प्रकृति का बंध किया। आराधनापूर्वक आयुष्य पूर्ण कर वे

स्वर्ग में वैजयंत नामक विमान में देव रूप में पैदा हुए।

जन्म

वैजयंत विमान की भव-स्थिति पूर्ण कर भगवान् सुमतिनाथ की आत्मा ने अयोध्या सम्राट् मेघ की महारानी मंगलावती की कुक्षि में अवतरण लिया। मंगलावती ने चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्न पाठकों ने स्वप्नों के अनुसार घोषित किया कि महारानी की कुक्षि से तीर्थंकर देव जन्म लेंगे। महारानी मंगलावती स्वप्नफल सुनकर धन्य हो गई। राजा मेघ भी महारानी को अधिक सम्मान देने लगे।

गर्भकाल पूरा होने पर वैशाख शुक्ला अष्टमी की मध्यरात्रि में प्रभु का जन्म हुआ। चौसठ इंद्रों ने मिलकर उनका पवित्र जन्मोत्सव किया। महाराज मेघ ने जन्मोत्सव में याचकों को जी भर दान दिया। सारे राज्य में पुत्र-जन्म पर राजकीय उत्सव मनाया गया।

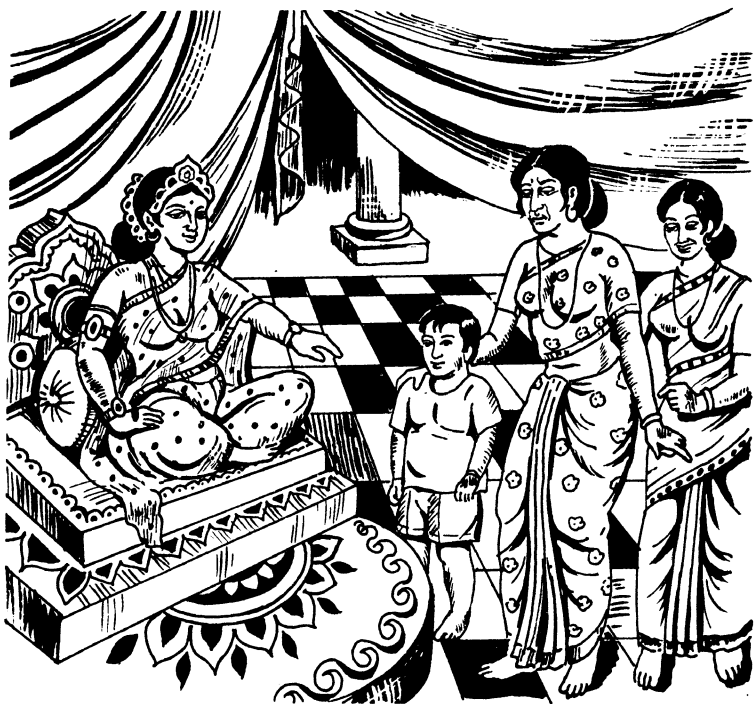
नामकरण

नामकरण के अवसर पर राजा ने विशाल आयोजन किया। शहर के हर वर्ग के लोग आयोजन में उपस्थित थे। नाम के बारे में चर्चा चलने पर अनेक सुझाव आये।

राजा मेघ ने कहा- 'यह बालक जब गर्भ में था, तब महारानी की बौद्धिक क्षमता असाधारण रूप से बढ़ गई थी। महारानी समस्याओं का सुलझाव तत्काल एवं अप्रतिहत रूप में किया करती थी। राजकीय मामलों को हल करने की उसमें विशेष दक्षता आ गई थी।' इसी क्रम में महाराज मेघ ने एक घटना का उल्लेख करते हुए कहा- 'कुछ महिनों पहले मेरे सामने एक ऐसा विवाद उपस्थित हुआ, जिसका निर्णय करना मेरे लिए कठिन हो गया था। एक साहूकार के दो पत्नियां थीं। एक के एक पुत्र था, दूसरी के कोई संतान नहीं थी। दोनों के परस्पर प्रेम होने के कारण पुत्र का लालन-पालन दोनों समान रूप से किया करती थी। अकस्मात् पति के गुजर जाने से संपत्ति के अधिकार के लिये दोनों झगड़ने लगी। पुत्र पर भी दोनों अपना-अपना अधिकार जताने लगीं। नादान बच्चा दोनों को मां कहकर पुकारता था। उसके लिये यह निर्णय करना कठिन था कि असली मां कौन-सी है? नगर-पंचों के माध्यम से यह विवाद मेरे समक्ष लाया गया। कहीं दूर अंचल में वह बालक उत्पन्न हुआ था, अतः नगर में इस विषय में किसी को भी प्रामाणिक जानकारी नहीं थी। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि असली माता का पता लग जाए, किन्तु मैं असफल रहा। इसी उलझन से ग्रसित होने से एक दिन मुझे भोजन में देरी हो गई। तत्काल महारानी ने कहलवाया कि महिलाओं का विवाद तो हम निपटायेंगे, आप तो भोजन लीजिये। मैं उलझा हुआ था ही, रानी को अधिकार देकर तुरन्त ऊपर चला गया।

रानी ने विवाद की सामान्य पूछताछ करने के बाद उन माताओं से कहा- 'मेरे मस्तिष्क में एक हल सूझा है। पुत्र की तुम दोनों दावेदार हो। पुत्र एक है, तुम दो हो, इसलिए क्यों नहीं इस बालक के दो टुकड़े करवा दिए जाए, ताकि आधा-आधा हिस्सा दोनों को मिल जाएगा, तुम्हें यह स्वीकार है?"

रानी की कठोर मुद्रा को देखकर प्रपंच रचने वाली महिला ने सोचा- 'मेरा क्या जाएगा, बालक तो मेरा है नहीं, मर जाएगा तो जैसी मैं हूँ वैसी यह भी हो जाएगी।' ऐसा विचार कर उसने तुरन्त 'हां' कह दी।



यह बात सुनते ही पुत्र की असली माता का हृदय फटने लगा। उसने सोचा- 'पुत्र मर जाएगा तो बहुत बुरा होगा। इससे तो अच्छा है कि वह विमाता के पास ही रह जाए, मैं दूर से उसे देखकर ही संतोष कर लूंगी।' यह सोचकर उसने कांपते हुए स्वरों में कहा- 'नहीं, नहीं, महारानीजी! मैं ही झूठी हूँ, पुत्र इसका ही है। अतः मरवाइये मत, इसे दे दीजिए, मुझे कोई आपत्ति नहीं है।'

सुनने वाले दंग रह गए। सोचने लगे, यह झूठी थी फिर भी विवाद बढ़ा रही थी। सुनते ही रानी ने निर्णय सुनाया- 'पुत्र उसका नहीं, इसका ही है जो यह कह रही है कि मैं झूठी हूँ। यही असली माता है। मातृ- हृदय को मैं जानती

हूँ। माता अपने अंगजात को कभी मृत देखना नहीं चाहती। वह महिला झूठी है जिसमें बच्चे की मौत की बात सुनकर भी सिहरन तक नहीं छूटी। पर छूटे कैसे? बेटा उसका है ही नहीं।' उसने कठोरता से कहा- 'सच बोल, वरना कोड़े बरसेंगे।' इस पर उस महिला ने तुरन्त सच- सच बता दिया। पुत्र असली माता को सौंप दिया गया।

जब मुझे महलों में इस न्याय का पता लगा तो मैं महारानी की कुशलता व सूझबूझ पर चकित रह गया। मैंने सोचा- 'यह गर्भगत बालक का ही प्रभाव है, अतः मेरे चिंतन में बालक का नाम सुमति कुमार रखा जाए।' उपस्थित लोगों ने कहा- यही नाम ठीक है, क्योंकि इस नाम के साथ गर्भकालीन घटनाओं का इतिहास जुड़ा हुआ है।

आवश्यक चूर्णि में यह घटना कुछ भिन्न रूप में मिलती है - महारानी बालक को चीरने की बात न कहकर सिर्फ इतना ही कहती है कि मेरे गर्भ में भावी तीर्थंकर है, उसका जन्म हो तब तक बालक मुझे सौंप दो, बाद में निर्णय हो जाएगा। इस बात के लिये नकली मां तुरन्त रजामंद हो जाती है किन्तु असली मां मना करती हुई पुत्र विरह की व्याकुलता प्रकट करती रही। रानी उसकी व्याकुलता देखकर उसके पक्ष में निर्णय दे देती है।

विवाह और राज्य

राजकुमार सुमति ने ज्योंही युवावस्था में प्रवेश किया, महाराज मेघ ने अनेक सुयोग्य समयस्क कन्याओं से उसका विवाह कर दिया। भोगावली कर्मी के उदय से वे पंचेन्द्रिय सुखों का उपभोग करने लगे। अवसर देखकर सम्राट् मेघ ने राजकुमार सुमति का राज्याभिषेक किया और स्वयं निवृत्त होकर साधना में निरत हो गये।

राजकुमार सुमति राजा बनकर राज्य का समुचित संचालन करने लगे। जनता के दिलों में राजा के प्रति गहरी आस्था थी। लोग उनको यथा- नाम तथा- गुण मानते थे। उनका जो भी आदेश होता, लोग श्रद्धा से स्वीकार करते थे। राजकीय व्यवस्था बहुत ही सुन्दर रूप में चलती थी। भोगावली कर्मी के क्षीण होने पर नरेश संयम की ओर प्रवृत्त हुए। लोकांतिक देवों के आगमन के बाद भगवान् ने वर्षादान दिया।

निर्धारित तिथि वैशाख शुक्ला नवमी के दिन एक हजार व्यक्तियों के साथ पंचमुष्टि लोच करके सावद्य योगों का सर्वथा त्याग कर दिया। उन्होंने भोजन करके दीक्षा ली थी। कुछ ग्रंथों में आपके षष्ठ भक्त (बेले) की तपस्या होने का उल्लेख है। दूसरे दिन विजयपुर के राजा पद्म के यहां उनका प्रथम पारणा हुआ।

भगवान् बीस वर्ष तक छद्मस्थ काल में उत्कृष्ट साधना करते हुए विचरे।

धर्मध्यान व शुक्ल-ध्यान से अपूर्व कर्म- निर्जरा करके प्रभु ने यथाख्यात चारित्र प्राप्त किया तथा तेरहवें गुणस्थान में तीन घाती- कर्म को क्षय कर सर्वज्ञता प्राप्त की।

देवों ने उत्सव किया। समवसरण की रचना की गई। देव दुंदुभि सुनकर लोग बड़ी संख्या में प्रवचन में उपस्थित हुए। भगवान् ने प्रथम देशना में तीर्थ की स्थापना की। आगार व अणगार धर्म की विशेष विवेचना दी। बड़ी संख्या में लोगों ने अपनी- अपनी शक्ति के अनुसार महाव्रत या अणुव्रत ग्रहण किए।

निर्वाण

भगवान् ने अपना आयुष्य निकट समझ कर १००० साधुओं के साथ सम्मेद शिखर चढ़कर एक मास का अनशन किया और मुक्ति का वरण किया।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	१००
० केवलज्ञानी	—	१३,०००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	१०,४५०
० अवधिज्ञानी	—	११,०००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	१८,४००
० चतुर्दश पूर्वी	—	२,४००
० चर्चावादी	—	१०,४५०
० साधु	—	३,२०,०००
० साध्वी	—	५,३०,०००
० श्रावक	—	२,८१,०००
० श्राविका	—	५,१६,०००

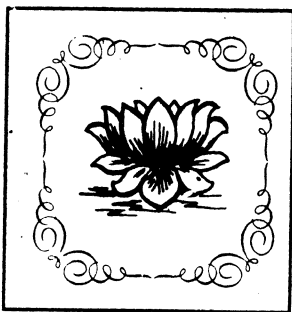
एक झलक—

० माता	—	मंगला
० पिता	—	मेघ
० नगरी	—	अयोध्या
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	क्रौंच
० वर्ण	—	सुवर्ण
० शरीर की ऊंचाई	—	३०० धनुष्य
० यक्ष	—	तुंबुरु
० यक्षिणी	—	महाकाली

० कुमार काल	—	१० लाख पूर्व
० राज्य काल	—	१२ पूर्वांग अधिक २९ लाख पूर्व
० छद्मस्थ काल	—	२० वर्ष
० कुल दीक्षा काल	—	१२ पूर्वांग कम १ लाख पूर्व
० आयुष्य	—	४० लाख पूर्व

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	— सावन शुक्ला २	वैजयन्त	मघा
० जन्म	— बैसाख शुक्ला ८	अयोध्या	मघा
० दीक्षा	— बैसाख शुक्ला ९	अयोध्या	मघा
० केवलज्ञान	— चैत्र शुक्ला ११	अयोध्या	मघा
० निर्वाण	— चैत्र शुक्ला ९	सम्मद शिखर	पुनर्वसु



(६)

भगवान् श्री पद्मप्रभ

पूर्व भव

धातकी खंड द्वीप के पूर्व महाविदेह की वत्स विजय में सुसीमा नाम की नगरी थी। वहां अपराजित नामक राजा राज्य करते थे।

अपराजित सम्राट् का पद पाकर भी संत- हृदय थे। वासना उन पर कभी हावी नहीं हुई वे ही सदा वासना पर हावी रहे। राज्य के बड़े- बूढ़े लोग प्रायः यही कहते थे कि हमारे सम्राट् में भोगों की दृष्टि से कभी तारुण्य नहीं आया, वे हमेशा एक लक्ष्यबद्ध मनस्वी की भांति रहे हैं। कभी उनमें यौवन का उन्माद नहीं देखा गया।

सचमुच सम्राट् विरक्तहृदयी थे। उनके राज्य- संचालन की प्रक्रिया तो दायित्व का निर्वाह करना मात्र था। उन्हें राजमहल से मानो कोई लगाव ही नहीं था। सब कुछ पाकर भी वे उसे छोड़ने की ताक में थे।

अवसर पाकर पिहिताश्रव इन्द्रियगुप्त अणगार के पास उन्होंने अनिकेत धर्म को ग्रहण किया तथा बाह्य जगत् से सर्वथा निवृत्त होकर आन्तरिक साधना में लीन बन गए।

तीर्थकर-गोत्र- बंध के बीस कारणों की उन्होंने विशेष उपासना की। कर्मों की महान् निर्जरा करके तीर्थकर गोत्र का बन्ध किया। अंत में अनशनयुक्त समाधिपूर्वक प्राण छोड़कर वे त्रैवेयक में देव- रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म

इकतीस सागर की पूर्णायु भोगकर वे जंबू द्वीप के भरत- क्षेत्र में अवतरित हुए। कौशंबी नगरी के राजमहल में राजा धर की महारानी सुसीमा की पवित्र कुक्षि में आए। अर्धसुषुप्त- अवस्था में महारानी सुसीमा ने चौहद महास्वप्न देखे। स्वप्नफल जान लेने के बाद समूचे राज्य में प्रसव की उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाने लगी।

कार्तिक कृष्णा बारस की मध्यरात्रि में गर्भकाल पूरा होने पर निर्विघ्नता से भगवान् का जन्म हुआ। उनका जन्म होने में माता को कोई पीड़ा नहीं हुई। देवों के बाद नागरिकों सहित राजा ने पुत्र- जन्म का उत्सव किया। ग्यारह दिनों तक

राजकीय उत्सव मनाया गया।

नामकरण के प्रसंग में राजा धर ने बताया कि यह बालक जब गर्भ में था तब इसकी माता को पद्मों की शय्या पर सोने का दोहद (इच्छा) उत्पन्न हुआ था। बालक के शरीर की प्रभा भी पद्म जैसी है, अतः इसका नाम 'पद्मप्रभ कुमार' ही रखा जाए। सबने पद्मप्रभकुमार नाम से बालक का पुकारा।

विवाह और राज्य

बाल्यावस्था से जब पद्मप्रभ कुमार युवक हुए तब राजा धर ने सुयोग्य राजकन्याओं के साथ उनका विवाह तथा कुछ वर्षों पश्चात् योग्य समझकर पद्मप्रभ का राज्यभिषेक कर दिया। राज्य प्रशासन का दायित्व सौंपकर राजा स्वयं साधना में लीन हो गए। पद्मप्रभ निर्लिप्त भाव से प्रजा का पालन करने लगे। अवस्था के साथ उनमें उन्माद नहीं जागा अपितु वात्सल्य और प्रेम उभरा। प्रजा के हित-चिंतन में उनका सारा समय बीतता। कभी विश्राम नहीं करते। उनके संरक्षण में लोग सर्वथा निश्चित थे। एक प्रकार से प्रभु उन सबके पारिवारिक मुखिया के रूप में अभिन्न व आत्मीय बन गए थे।

दीक्षा

लंबे अर्से से राज्य का दायित्व निभाने के बाद भोगावली कर्मों को निःशेष समझकर भगवान् दीक्षा के लिए उद्यत हुए। लोकांतिक देवों ने पांचवें स्वर्गलोक से आकर निवेदन किया- 'प्रभो! विश्व के आध्यात्मिक उन्नयन के लिए प्रयत्न कीजिए। समय आ गया है, अब धर्मचक्र का प्रवर्तन करिए।' भगवान् पद्मप्रभ ने अपने उत्तराधिकारी को राज्य सौंप कर वर्षादान दिया। भगवान् के वर्षादान से आर्यक्षेत्र में हलचल मच गई। पद्मप्रभ से अन्य सहस्रों लोक परिचित थे। प्रभु के वैराग्य भाव ने उन सहस्रों लोगों को भी विरक्त बना दिया। निश्चित तिथि-कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन हजारों-हजारों व्यक्ति बाहर से आ गए। नगर के बाहर एक हजार व्यक्ति तो भगवान् के साथ प्रव्रजित होने को कटिबद्ध थे। सब अपने-अपने घरों से तैयार होकर आए थे।

भगवान् के दीक्षा महोत्सव पर आर्य जनपदों के नागरिकों के साथ बड़ी संख्या में देवता एवं चौसठ इन्द्र एकत्रित हुए थे। भगवान् सुखपालिका में बैठकर उद्यान में आए। आभूषण उतारे, पंचमुष्टि लुंचन किया। एक हजार व्यक्तियों के साथ उन्होंने श्रमण-धर्म स्वीकार किया। दीक्षा के दिन प्रभु के चौविहार बेले का तप था। दूसरे दिन ब्रह्मस्थल के सम्राट् सोमदेव के यहां उनका पारणा हुआ। देवों ने तत्काल पंच-द्रव्य बरसाकर दान की महिमा का बखान किया।

दीक्षा के बाद मन, वचन और शरीर से सर्वथा एकाग्र होकर वे ध्यान और तपस्या में लगे। छह महिनों में ही उन्होंने कर्म-प्रकृतियों का क्षय करते हुए क्षपक

श्रेणी ली और यथाख्यात चारित्र पाकर घाती- कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञता प्राप्त की। देवों ने मिलकर उत्सव किया। समवसरण की रचना की। भगवान् ने अध्यात्म का आलोक प्रसारित किया। अनेक भव्य लोग उससे आलोकित हुए। उन्होंने आगार व अणगार धर्म ग्रहण किया। भगवान् के प्रथम प्रवचन में ही चारों तीर्थ स्थापित हो गए।

निर्वाण

भगवान् आर्य जनपद में विचरते रहे। लाखों- लाखों भव्य लोग उनकी अमृत वाणी से प्रतिबोध पाते रहे और अन्त में अपने आयुष्य का अन्त निकट देखकर सम्मोदशिखर पर उन्होंने एक सौ तीन मुनियों के साथ एक मास के अनशन में योगों का निरोध कर चार अघाति- कर्मों (वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र) को क्षय करके सिद्धत्व को प्राप्त किया।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	१०७
० केवलज्ञानी	—	१२,०००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	१०,३००
० अवधिज्ञानी	—	१०,०००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	१६,८००
० चतुर्दश पूर्वी	—	२३००
० चर्चावादी	—	९६००
० साधु	—	३,३०,०००
० साध्वी	—	४,२०,०००
० श्रावक	—	२,७६,०००
० श्राविका	—	५,०५,०००

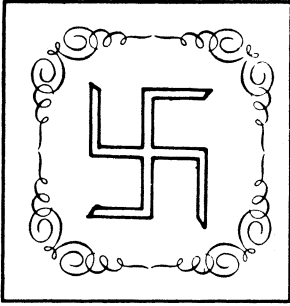
एक झलक—

० माता	—	सुसीमा
० पिता	—	धर
० नगरी	—	कौशम्बी
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	कमल
० वर्ण	—	लाल (रक्त)
० शरीर की ऊंचाई	—	२५० धनुष्य
० यक्ष	—	कुसुम

० यक्षिणी	—	श्यामा
० कुमार काल	—	७.५ लाख पूर्व
० राज्य काल	—	१६ पूर्वांग अधिक २१.५ लाख पूर्व
० छद्मस्थ काल	—	६ मास
० कुल दीक्षा पर्याय	—	१६ पूर्वांग कम १ लाख पूर्व
० आयुष्य	—	३० लाख पूर्व

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	—	माघ कृष्णा ६	नौवां ग्रैवेयक
० जन्म	—	कार्तिक कृष्णा १२	कौशाम्बी
० दीक्षा	—	कार्तिक कृष्णा १३	कौशाम्बी
० केवलज्ञान	—	चैत्र शुक्ला १५	कौशाम्बी
० निर्वाण	—	मिगसर कृष्णा ११	सम्मेद शिखर



(७)

भगवान् श्री सुपाश्वनाथ

तीर्थकर गोत्र का बन्ध

धातकी खंड द्वीप के पूर्व महाविदेह की क्षेमपुरी नगरी के राजा नन्दीसेन पूर्व जन्मों की साधना से बहुत ही अल्पकर्मी थे। विपुल भोग सामग्री पाकर भी वे अन्तर् में अनासक्त थे। सत्ता के उपयोग में उनका मन कभी लगा नहीं। वे सत्ता से विलग होने के लिए छटपटा रहे थे। अपने उत्तराधिकारी के योग्य होने पर उसे राज्य सौंपकर उन्होंने आचार्य अरिदमन के पास श्रमणत्व स्वीकार कर लिया। घोर तप तथा साधना के विशिष्ट बीस स्थानों की विशेष साधना की। अपूर्व कर्म- निर्जरा करके तीर्थकर गोत्र का बन्ध किया। वहां आराधक पद प्राप्त कर छोटे ग्रैवेयक में देव बने।

जन्म

देवत्व का पूर्ण आयुष्म भोगकर भरतक्षेत्र की वाराणसी नगरी के राजा प्रतिष्ठसेन के घर महारानी पृथ्वीदेवी की कुक्षि में अवतरित हुए। माता को तीर्थकरत्व के सूचक चौदह महास्वप्न आए। राजा प्रतिष्ठसेन का राजमहल हर्षोत्फुल्ल हो उठा। नगरी में सर्वत्र महारानी के गर्भ की चर्चा थी।

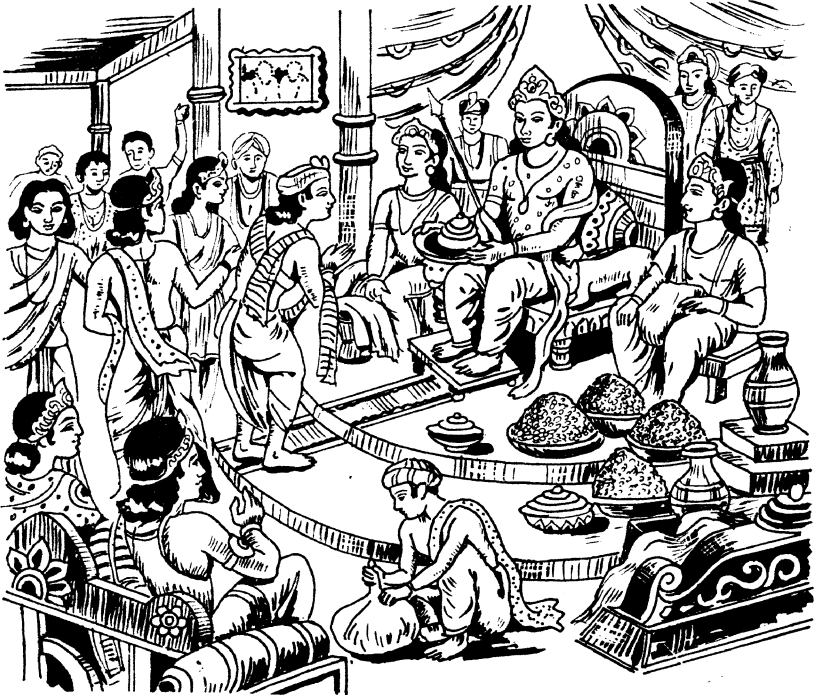
गर्भकाल पूरा होने पर ज्येष्ठ शुक्ला बारस की मध्यरात्रि में बालक का प्रसव हुआ। भगवान् के जन्मकाल में केवल दिशाएं ही शांत नहीं थी, सारा विश्व शांत था। क्षण भर के लिए सभी आनंदित व पुलकित हो उठे थे। राजा प्रतिष्ठसेन ने पुत्र प्राप्ति के हर्ष में खूब धन बांटा, याचक- अयाचक सभी प्रसन्न थे।

जन्मोत्सव की अनेक विधियां सम्पन्न करने के बाद नामकरण की विधि भी सम्पन्न की गई। विशाल समारोह में बालक के नाम की चर्चा चली। राजा प्रतिष्ठसेन ने कहा- 'यह जब गर्भ में था, तब इसकी माता के दोनों पार्श्व अतीव सुन्दर लगते थे। सामान्यतः गर्भवती औरतों का कटिप्रदेश अभद्र दीखने लग जाता है। इसके गर्भ में रहते हुए पहले से अधिक सुन्दर नजर आता था, अतः बालक का नाम सुपाश्व रखा जाए।' सबने इसी नाम से पुत्र को पुकारा।

विवाह और राज्य

पांच धाय माताओं से पुत्र का लालन- पालन होने लगा। निर्विघ्नता से वृद्धि पाते हुए उन्होंने क्रमशः बचपन व किशोरावस्था पार की। तब राजा प्रतिष्ठसेन ने समवयस्क राजकन्याओं से सुपाश्वकुमार की शादी की। अवसरज्ञ राजा ने निवृत्त होने का क्षण आया जानकर पुत्र को राज्य सौंपा तथा स्वयं इंद्रियगुप्त अणगार के चरणों में संयमी बन कर साधनारत बन गये।

सुपाश्व अब राजा बन चुके थे। धाय माता की भांति वे राज्य का पालन अंतरंग विरक्ति के साथ करने लगे। उनके राज्य में अपराध प्रायः समाप्त हो गये थे। लोग आपसी विग्रह भूल चुके थे। व्यक्तिगत स्वार्थ समष्टिगत बन चुका था। पड़ोसी कितना सुखी है, इस पर स्वयं की तृप्ति निर्भर थी। प्रजा के दुःख दर्द की बात राजा तक पहुंचने से पहले ही लोग मिलकर उसे मिटा देते थे। राजा तक तो उसके समाधान की बात ही प्रायः पहुंचती थी। राजा को भी अपने राज्य संचालन पर सात्विक तोष था। प्रजा में परस्पर एकात्मकता के प्राबल्य से समूचा राज्य परिवार के रूप में रह रहा था।



दीक्षा

अवधिज्ञान से उन्होंने अपना दीक्षा का समय निकट देखा और उत्तराधिकारी को राज्य व्यवस्था सौंप स्वयं अलग हो गए। लोकान्तिक देवों द्वारा औपचारिक प्रतिबोध पाने के बाद राजा सुपाश्व ने वर्षादान दिया। तेजस्वी व शांत-स्वभावी सम्राट् के दीक्षा प्रसंग ने लोगों को विस्मित बना दिया। लोग इस प्रसंग से प्रेरित भी हुए।

ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी के दिन एक हजार व्यक्तियों के साथ वे नगर के सहस्राम्र उद्यान में पहुंचे। देवता और मनुष्यों की भारी भीड़ के बीच उन्होंने पंचमुष्टि लुंचन किया और सावद्य योगों का त्याग किया।

दीक्षित होने के नौ महिनों तक प्रभु छद्मस्थ रहे, विविध तपस्या व ध्यान से महान् कर्म विजरा की तथा विचरते-विचरते पुनः उसी सहस्राम्र उद्यान में पधारे। फाल्गुन कृष्णा षष्ठी के दिन शुक्ल-ध्यानारूढ़ बनते हुए आपने क्षपकक्षणी ली और क्रमशः कर्म प्रकृतियों को क्षय कर सर्वज्ञ बन गये। देवों ने केवल-महोत्सव किया, समवसरण की रचना की। प्रभु के प्रथम प्रवचन में ही हजारों-हजारों स्त्री-पुरुष एकत्र हो गये। भगवान् ने देशना दी। त्याग और भोग के पथ अलग-अलग बतलाये। प्रभु से तान्त्रिक विवेचन सुनकर अनेक व्यक्तियों ने निवृत्ति पथ को अपनाया।

निर्वाण

आर्य जनपद में अध्यात्म का अद्भुत आलोक फैलाते हुए भगवान् ने जब अन्त समय निकट देखा तो पांच सौ मुनियों के साथ सम्मेशिखर पर चढ़े और वहां आजीवन अनशन ग्रहण किया। एक मास के अनशन में समस्त कर्मों का क्षय करके उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	९५
० केवलज्ञानी	—	११,०००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	९,१५०
० अवधिज्ञानी	—	९०००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	१५,३००
० चतुर्दश पूर्वी	—	२०३०
० चर्चावादी	—	८४००
० साधु	—	३,००,०००
० साध्वी	—	४,३०,०००

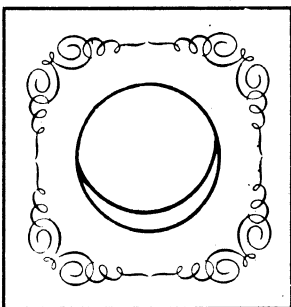
० श्रावक	—	२,५७,०००
० श्राविका	—	४,९३,०००

एक झलक

० माता	—	पृथ्वी
० पिता	—	प्रतिष्ठसेन
० नगरी	—	वाराणसी
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	स्वस्तिक
० वर्ण	—	सुवर्ण
० शरीर की ऊंचाई	—	२०० धनुष्य
० यक्ष	—	मातंग
० यक्षिणी	—	शांता
० कुमार काल	—	५ लाख पूर्व
० राज्य काल	—	२० पूर्वांग अधिक १४ लाख पूर्व
० छद्मस्थ काल	—	९ मास
० कुल दीक्षा पर्याय	—	२० पूर्वांग कम १ लाख पूर्व
० आयुष्य	—	२० लाख पूर्व

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	— भाद्रपद कृष्णा ८	छठा ग्रैवेयक	अनुराधा
० जन्म	— ज्येष्ठ शुक्ला १२	वाराणसी	विशाखा
० दीक्षा	— ज्येष्ठ शुक्ला १३	वाराणसी	विशाखा
० केवलज्ञान	— फाल्गुन कृष्णा ६	वाराणसी	विशाखा
० निर्वाण	— फाल्गुन कृष्णा ७	सम्मेल शिखर	मूल



(८)

भगवान् श्री चंद्रप्रभ प्रभु

तीर्थकर गोत्र का बंध

अनेक जन्मों की सत्क्रिया के फलस्वरूप धातकी खंड के पूर्व विदेह क्षेत्र की मंगलावती विजय की रत्नसंचया नगरी के राजा पद्म के भव में चंद्र प्रभु को धर्म प्रेरणा का अच्छा योग मिला था। शहर में साधुओं का आना- जाना प्रायः रहता था। धर्म की प्रेरणा सामान्यतः धर्मगुरु सापेक्ष ही होती है। वे जिस ग्राम, नगर में जाते हैं, वहीं धर्म की गंगा सतत प्रवाहित रहती है। धर्मगुरुओं के अभाव में धर्म की प्रेरणा लुप्त हो जाती है, फिर सामूहिक साधना दुरुह बन जाती है। उस रत्नसंचया के लोग इस विषय में भाग्यशाली थे। उन्हें साधु- संतों की सदैव प्रेरणा मिलती रहती थी।

युगंधर मुनि के पास राजा पद्म दीक्षित हुआ। वह तपस्या के साथ वैयावृत्य भी करने लगा। बीस स्थानों की विशेष साधना की। पूर्वकृत कर्मों को क्षय किया। तीर्थकर गोत्र का बंध किया। अंत में अनशनपूर्वक आराधक पद पाकर अनुत्तर लोक के विजय विमान में देवत्व को प्राप्त किया।

जन्म

देवत्व का आयुष्य भोगने के बाद भगवान् चंद्रप्रभ का जीव स्वर्ग से च्यवकर चंद्रपुरी के राजा महासेन की रानी लक्ष्मणा देवी की पवित्र कुक्षि में अवतरित हुआ। माता लक्ष्मणा ने चौदह महास्वप्न देखे। सवेरे स्वप्न पाठकों ने बतलाया तीर्थकर अवतरित हुए हैं। महारानी गर्भावस्था में पूर्ण सावधानी बरतने लगी। उसने अपना खाना, पीना, बोलना उठना तथा बैठना आदि संयमपूर्वक करना प्रारम्भ कर दिया। ज्यादा हंसना, ज्यादा बोलना, तेज बोलना, गुस्सा करना प्रयत्नपूर्वक बंद कर दिया। अति मीठा, अति चरचरा भोजन भी सर्वथा छोड़ दिया।

इस प्रकार सजगतापूर्वक प्रतिपालना करते हुए गर्भकाल पूरा हुआ। पौष कृष्ण एकादशी की रात्रि में भगवान् का मंगलमय प्रसव हुआ। प्रसव की पुनीत बेला में चौसठ इंद्रों ने एकत्रित होकर उत्सव मनाया। सुमेरु पर्वत पर पांडुक वन में वे शिशु को ले गए, उसके नवजात शरीर पर जलाभिषेक किया गया। अभिषेक के

बाद वापिस माता की गोद में लाकर स्थापित कर दिया।

राजा महासेन को पुत्र जन्म की जब बधाई मिली, तब बधाई देने वालों को राजा ने राज्य-चिन्ह के अतिरिक्त शरीर पर से सारे बहुमूल्य आभूषण उतार कर प्रदान कर दिये। राज्य भर में पुत्र का जन्मोत्सव मनाया गया। ग्यारह दिनों तक राजा ने याचकों के लिए भंडार खोल दिया। जो आया उसे ही दिल खोलकर दान दिया। राजा की इस उदारवृत्ति से लोग प्रसन्न थे।

नामकरण उत्सव पर भी दूर-दूर से लोग आए। निश्चित समय पर पुत्र को लेकर माता लक्ष्मणा आयोजन स्थल पर आई। लोगों ने बालक को देखा तो स्तब्ध रह गए, मानो चंद्रमा आकाश से उतर आया हो। नामकरण की चर्चा में गर्भकाल की विशेष घटना के विषय में पूछा गया तो राजा महासेन ने कहा— 'इसके गर्भकाल में महारानी को चंद्रमा को पीने का दोहद (इच्छा) उत्पन्न हुआ था, जिसे मैंने पूर्ण किया। बालक के शरीर की प्रभा भी चन्द्र जैसी हैं, अतः बालक का नाम चन्द्रप्रभ ही रखा जाए।' उपस्थित जनसमूह ने भी उसी नाम से बालक को पुकारा।

विवाह और राज्य

त्रिज्ञान धारी (मति, श्रुत, अवधि) चंद्रप्रभ को गुरुकुल में शिक्षा की अपेक्षा नहीं थी। कोई भी तीर्थंकर गुरुकुल में नहीं पढ़ते। वे सब तीन ज्ञान के धारक होते हैं। भोग समर्थ होते ही माता-पिता ने अनेक राजकन्याओं से चंद्रप्रभ कुंवर का विवाह कर दिया। राजा महासेन ने अपनी निवृत्ति का अवसर समझकर राज्य संचालन का दायित्व चंद्रप्रभ को सौंपा और स्वयं साधना-पथ के पथिक बन गए।

सम्राट् चंद्रप्रभ ने अपने जनपद का कुशलता से संचालन किया। उनके राज्यकाल में समृद्धि सदैव वृद्धिगत रही। जनपद पहले से भी अधिक समृद्ध व बाहरी खतरों से निरापद बना रहा।

दीक्षा

भोग्य कर्मों का भोग पूरा हो जाने पर भगवान् ने अपने पुत्र को उत्तराधिकार सौंपकर वर्षीदान दिया। दूर-दूर के लोग प्रभु के हाथ से दान देने के लिए आए। सांसारिक वैभव के उत्कर्ष में राजा चंद्रप्रभ के मन में उत्पन्न वैराग्य लोगों के लिए आश्चर्य का विषय था।

निर्धारित तिथि पौष कृष्ण त्रयोदशी के दिन एक हजार विरक्त व्यक्तियों के साथ राजा चंद्रप्रभ ने अणगार धर्म को स्वीकार किया। प्रभु के दीक्षा महोत्सव पर चौसठ इन्द्र एकत्रित हुए। भगवान् के उस दिन बेले की तपस्या थी। दूसरे दिन पद्मखंडनगर के राजा सोमदत्त के यहां परमात्र (खीर) से उन्होंने प्रथम पारणा किया।

तीन मास तक वे छद्मस्थ चर्या में विचरते रहे। नाना अभिग्रह तथा नाना

विधि तप से आत्मा को निखारते हुए फाल्गुन कृष्ण सप्तमी के दिन वे दीक्षा-स्थल सहस्राम्न वन में पधारे। उस दिन वहीं पर प्रियंगु वृक्ष के नीचे प्रभु को घातिक कर्म क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

केवल महोत्सव के बाद विशाल जनसभा में भगवान् ने प्रथम देशना दी। और चतुर्विध संघ की स्थापना हुई।

निर्वाण

भगवान् चंद्रप्रभ ने लाखों लोगों का उद्धार किया। जीवन का अंत समीप समझकर एक हजार सर्वज्ञ मुनियों के साथ सम्मेद शिखर पर चढ़े और अनशन किया। एक मास के अनशन में चार अघाती-कर्मों को क्षय कर उन्होंने सिद्धत्व को प्राप्त किया।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	९३
० केवलज्ञानी	—	१०,०००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	८,०००
० अवधिज्ञानी	—	८,०००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	१४,०००
० चतुर्दश पूर्वी	—	२,०००
० चर्चावादी	—	७,६००
० साधु	—	२,५०,०००
० साध्वी	—	३,८०,०००
० श्रावक	—	२,५०,०००
० श्राविका	—	४,९१,०००

एक झलक—

० माता	—	लक्ष्मणा
० पिता	—	महासेन
० नगरी	—	चंद्रपुरी
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	चंद्रमा
० वर्ण	—	श्वेत
० शरीर की ऊंचाई	—	१५० धनुष्य
० यक्ष	—	विजय
० यक्षिणी	—	भृकुटि

० कुमार काल	—	२.५ लाख पूर्व
० राज्य काल	—	२४ पूर्वांग अधिक ६.५ लाख पूर्व
० छदमस्थ काल	—	३ मास
० कुल दीक्षा पर्याय	—	२४ पूर्वांग कम १ लाख पूर्व
० आयुष्य	—	१० लाख पूर्व

पंच कल्याणक—

		तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	—	चैत्र कृष्णा ५	वैजयन्त	अनुराधा
० जन्म	—	पोष कृष्णा ११	चन्द्रपुरी	अनुराधा
० दीक्षा	—	पोष कृष्णा १३	चन्द्रपुरी	अनुराधा
० केवलज्ञान	—	फाल्गुन कृष्णा ७	चन्द्रपुरी	अनुराधा
० निर्वाण	—	भाद्रपद कृष्णा ७	सम्मेद शिखर	श्रवण



(९)

भगवान् श्री सुविधिनाथ

तीर्थकर गोत्र का बंध

अर्ध पुष्कर द्वीप के पूर्व विदेह की पुष्कलावती विजय में पुंडरीकिनी के सम्राट् महापद्म राजा होते हुए भी सात्विक प्रकृति वाले थे। सत्ता पाकर भी वे अहंकार से अछूते रहे। राजकीय वैभव और रानियों के संयोग में रहकर भी वे वासनासिक्त नहीं थे। अवसर पाकर राजा ने पुत्र को राज्य दिया और स्वयं जगन्नाथ मुनि के पास षट्कायिक जीवों के रक्षक बन गये। विविध आसनों में, ध्यान और स्वाध्याय में संलग्न हो गये। मैत्री, करुणा, प्रमोद आदि भावनाओं से उन्होंने स्वयं को भावित किया। इन सब उपासनाओं से महान् कर्म- निर्जरा कर तीर्थकर गोत्र का बंध किया।

अंत में अनशन करके उन्होंने आराधक पद पाकर वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

जन्म

३३ सागरोपम देवत्व को भोग कर भगवान् का जीव काकंदी नरेश सुग्रीव की महारानी रामादेवी की कुक्षि में अवतरित हुआ।

महारानी रामादेवी ने चौदह स्वप्न देखे। स्वप्न पाठकों ने 'तीर्थकर पैदा होंगे', ऐसी घोषणा की। सारे राज्य में उत्साह का वातावरण छा गया। कब तीर्थकर देव का जन्म हो, यह जानने के लिए सभी उत्सुक थे।

गर्भकाल पूरा होने पर मिगसर कृष्णा पंचमी की रात्रि में पीड़ा रहित प्रसव हुआ। भगवान् के जन्मकाल से सारा विश्व आनन्दमय हो उठा। राजा सुग्रीव पुत्र प्राप्ति से अत्यधिक हर्ष विभोर थे। आज वे स्वयं को सबसे अधिक सुखी, सबसे अधिक समृद्ध, सबसे अधिक भाग्यशाली मान रहे थे। पूरे राज्य में उत्साह था। राज्य के हर घर में राजकीय उत्सव मनाया गया। घरों की लिपाई- पुताई से सारा नगर अलौकिक आभा से चमक उठा।

नामकरण के दिन राजा ने विराट् आयोजन किया। सबको प्रीतिभोज दिया। परिवार के वृद्ध पुरुषों ने गर्भकाल में घटित विशेष घटनाओं को पूछा, ताकि नाम देने में सुविधा रहे। राजा ने कहा- 'गर्भकाल में इनकी माता हर विधि की जानकार

बन गई थी। मुझे स्वयं आश्चर्य होता है कि जब भी महल में कोई चर्चा होती कि अमुक कार्य कैसे किया जाये, अमुक वस्तु कैसे बनाई जाये, महारानी कैसे तत्काल समाधान दे देती थी। उसकी बताई विधि से वह कार्य सहज ही निष्पन्न हो जाता था। मेरी दृष्टि में यह गर्भ का ही प्रभाव था। अतः इसका नाम सुविधि कुमार रखा जाना उपयुक्त होगा। दूसरी एक घटना और है- इसके गर्भकाल में महारानी को पुष्पों का दोहद (इच्छा) उत्पन्न हुआ था। अतः इसका दूसरा नाम पुष्पदंत भी रखा जा सकता है। सबने दोनों नामों से ही बालक को पुकारा।

बालक सुविधि कुमार जब युवक बने, तब माता-पिता ने सुसंस्कारित राजकन्याओं से उनका विवाह किया। गंधर्वदेवों की भांति पंचेन्द्रिय सुख भोगते हुए वे भोगावली कर्मों के हल्के होने की प्रतीक्षा करने लगे। राजा सुग्रीव ने सुविधि कुमार को राज्य- पद देकर निवृत्ति पथ को ग्रहण किया। सुविधि कुमार राजा बने तथा व्यवस्था संचालन का गुरुतर दायित्व निर्लिप्त भाव से निभाने लगे। उनके राज्य में सर्वत्र शांति का साम्राज्य था। लोग परम सुखी थे।

दीक्षा

भोगावली कर्मों के भोगे जाने के बाद भगवान् दीक्षा के लिए तत्पर हुए। लोकांतिक देवों के आगमन के बाद भगवान् ने वर्षादान दिया। एक हजार विरक्त व्यक्तियों के साथ भगवान् ने बेले की तपस्या में दीक्षा ग्रहण की। दूसरे दिन राजा पुष्पक के घर पर खीर से पारणा किया।

छद्मस्थ काल में भगवान् सुविधि एकांत और मौन साधना से अपने को साधने लगे। विचरते- विचरते वे पुनः काकंदी नगरी में पधारे। वहीं पर शाल वृक्ष के नीचे क्षपक श्रेणी ली, घातिक कर्मों का क्षय किया और सर्वज्ञता प्राप्त की। उस दिन भी उनके बेले की तपस्या थी। देवों ने ज्ञानोत्सव किया। भगवान् ने प्रवचन किया। प्रथम देशना में चतुर्विध संघ की स्थापना हो गई।

निर्वाण

बहुत वर्षों तक केवली पर्याय (अवस्था) में भगवान् सुविधिनाथ आर्य जनपद में विचरते रहे। अन्त में एक हजार केवली संतों के साथ सम्मेद- शिखर पर आरूढ़ हुए, अनशन किया तथा भाद्रपद कृष्ण नवमी के दिन सिद्धत्व प्राप्त किया।

तीर्थ-विच्छेद

भगवान् ऋषभ से लेकर सुविधिनाथ प्रभु तक जैन काल- गणना के अनुसार बहुत समय बीत चुका था। फिर भी कभी तीर्थ- प्रवचन विच्छेद नहीं हुआ। साधु- साध्वियां, श्रावक- श्राविकाओं तथा प्रवचन का अभाव नहीं हुआ। यद्यपि कम अधिक होते रहे, किंतु सर्वथा अभाव कभी नहीं हुआ था। काल का दोष कहिए या नियति का चक्र समझिये, भगवान् सुविधि के निर्वाण के कुछ समय बाद तीर्थ

विच्छेद हो गया। इतर लोगों का इतना प्रभाव बढ़ा कि मूल तत्त्व के प्रति आस्था खत्म हो गई। यह क्रम सोलहवें तीर्थकर श्री शांतिनाथ के पूर्व तक रहा। जब-जब तीर्थकर होते, तीर्थ चलता, उनके निर्वाण के बाद क्रमशः क्षीण होकर विच्छेद हो जाता।

इस अवसर्पिणी में होने वाले दस आश्चर्यों में इसे भी एक आश्चर्य माना गया है।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	८८
० केवलज्ञानी	—	७५००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	७५००
० अवधिज्ञानी	—	८४००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	१३,०००
० चतुर्दश पूर्वी	—	१५००
० चर्चावादी	—	६०००
० साधु	—	२,००,०००
० साध्वी	—	१,२०,०००
० श्रावक	—	२,२९,०००
० श्राविका	—	४,७१,०००

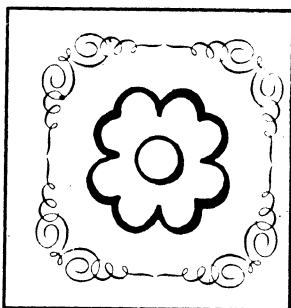
एक झलक—

० माता	—	रामादेवी
० पिता	—	सुग्रीव
० नगरी	—	काकंदी
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	मगर
० वर्ण	—	श्वेत
० शरीर की ऊंचाई	—	१०० धनुष्य
० यक्ष	—	अजित
० यक्षिणी	—	सुतारा
० कुमार काल	—	५० हजार पूर्व
० राज्य काल	—	२८ पूर्वांग अधिक ५० हजार पूर्व
० छद्मस्थ काल	—	४ मास
० कुल दीक्षा पर्याय	—	२८ पूर्वांग कम १ लाख पूर्व

० आयुष्य
पंच कल्याणक—

२ लाख पूर्व

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन —	फाल्गुन कृष्णा ९	वैजयन्त	मूल
० जन्म —	मिगसर कृष्णा ५	काकन्दी	मूल
० दीक्षा —	मिगसर कृष्णा ६	काकन्दी	मूल
० केवलज्ञान —	कार्तिक शुक्ला ३	काकन्दी	मूल
० निर्वाण —	भाद्रपद कृष्णा ९	सम्मेद शिखर	मूल



(१०)

भगवान् श्री शीतलनाथ

तीर्थकर गोत्र का बंध

अर्ध पुष्कर द्वीप की वज्र विजय की सुसीमा नगरी के राजा पद्मोत्तर मानवीय गुणों से परिपूर्ण थे। उन्होंने अपने राज्य में ऐसी व्यवस्था की कि सब व्यक्ति आत्म-सम्मान के साथ जीवन यापन कर सकें। उनके राज्य में कोई भी व्यक्ति परमुखापेक्षी नहीं था। सबका पुरुषार्थ में विश्वास था। व्यवस्था भी ऐसी थी कि पुरुषार्थ करने वाला आनन्द से पेट भर लेता था। बेकारी का अभाव में अपराधों का भी अभाव था। लोग सात्विक व शालीन जीवन बिता रहे थे।

राजा पद्मोत्तर ने अपने पुत्र को राज्य संचालन के योग्य समझ कर उसका राज्याभिषेक किया तथा स्वयं ने 'स्रस्ताघ' आचार्य के पास में मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि संघ की परिचर्या और घोर तपस्या उनकी कर्म निर्जरा के मुख्य साधन बने। बीमार व अक्षम साधुओं के आधार बनने के कारण उनके महान् कर्म निर्जरा हुई, साथ में तीर्थकर गोत्र का बंध हुआ। अंत में अनशन करके उन्होंने समाधि मरण पाया तथा प्राणत-स्वर्ग में देव बने।

जन्म

बीस सागर का परिपूर्ण आयु भोग कर आर्य जनपद के भदिदलपुर नगर में राजा दृढरथ की महारानी नन्दादेवी की कुक्षि में अवतरित हुए। संसार में जन्म लेने वाले सर्वश्रेष्ठ और परमाधम व्यक्ति कभी छुपे नहीं रहते। माता को आये चौदह महास्वप्नों से सबको ज्ञात हो गया कि महापुरुष का जन्म होने वाला है। लोगों के दिलों में भारी उमंग था। सब प्रभु के जन्म की प्रतीक्षा में थे।

गर्भकाल की परिसमाप्ति पर माघ कृष्ण द्वादशी की मध्य रात्रि में निर्विघ्नता से भगवान् का जन्म हुआ। भगवान् के जन्म पर विश्व का कण-कण पुलकित हो उठा। राज्य भर में जन्मोत्सव मनाया गया।

नामकरण के दिन विशाल प्रीतिभोज का आयोजन किया गया। बालक को आशीर्वाद देने के बाद नाम की चर्चा चली। राजा दृढरथ ने कहा- 'कुछ महीनों पहले मेरे शरीर में दाह-ज्वर उत्पन्न हुआ था। सारे शरीर में जलन थी,

औषधि का कोई असर नहीं हो रहा था। अनायास रानी के हाथ का स्पर्श मेरे शरीर से हुआ। शरीर में तत्काल शीतलता आ गई। उसके बाद क्रमशः बीमारी समाप्त हो गई, अतः बालक का नाम 'शीतल कुमार' रखा जाये। सबने बालक को इसी नाम से पुकारा। बड़े लाड़-प्यार से लालन-पालन होने लगा। युवावस्था में राजा दृढरथ ने अनेक राजकन्याओं से शीतल कुमार की शादी की। कालांतर में राजा ने पुत्र का राज्याभिषेक कर जितेन्द्रिय मुनियों के पास श्रमणत्व स्वीकार किया।



भगवान् शीतलनाथ ने राजा बन कर सबको शीतल बना दिया, किसी में उत्पत्ति नहीं रही। उनके शासनकाल में लोगों की भौतिक मनोकामना खूब पूरी हुई, अतः लोगों का हृदय उनके प्रति आस्थावान् बन गया था।

दीक्षा

अवधि ज्ञान से अपनी दीक्षा का समय समीप समझकर भगवान् ने युवराज को राज्य-भार सौंपा और वर्षादान प्रारम्भ कर दिया। राजा के द्वारा वैभवपूर्ण जीवन छोड़कर विरक्त बनने के प्रेरक वृत्तांतों ने अनेक सम्पन्न व्यक्तियों को भोगों से विरक्त कर दिया। एक हजार व्यक्ति उनके साथ दीक्षा के लिये तैयार हो चुके थे। माघ

कृष्णा बारस के दिन प्रभु चन्द्रप्रभा नामक शिबिका (सुखपालिका) में बैठकर सहस्राग्र उद्यान में आये। पंचमुष्टि लोच किंग। सुरेन्द्रों और मनुष्यों की भारी भीड़ में सावद्य योगों का त्याग कर उन्होंने साधुत्व स्वीकार किया। दीक्षा के दूसरे दिन चौविहार बेले का पारणा उन्होंने निकटवर्ती नगर अरिष्टपुर के महाराजा पुनर्वसु के यहां खीर से किया। देवों ने भगवान् के प्रथम पारणे का उत्सव मनाया।

निस्पृह वृत्ति से विहार करते हुए शीतलप्रभु अपनी चर्या को विशेष समुज्ज्वल बनाते रहे। तीन मास के बाद वे पुनः सहस्राग्र उद्यान में पधारे। वहीं पर आपको सर्वज्ञता प्राप्त हुई। केवल-महोत्सव के बाद देवों ने समवसरण की रचना की। भगवान् ने प्रथम प्रवचन में साधुत्व व श्रावकत्व के बारे में विस्तार से बतलाया और प्रेरणा दी। अनेक व्यक्तियों ने साधना-पथ को स्वीकार किया।

निर्वाण

लाखों भव्यजनों का उद्धार करते हुए प्रभु ने जब आयुष्य कर्म स्वल्प देखा, तो एक हजार केवली मुनियों के साथ सम्मेद शिखर पर आजीवन अनशन व्रत स्वीकार कर लिया। भवोपग्राही अघातीकर्मों को क्षय कर, एक लाख पूर्व का आयुष्य-भोगकर उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	८१
० केवलज्ञानी	—	७०००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	७५००
० अवधिज्ञानी	—	७२००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	१२,०००
० चतुर्दश पूर्वी	—	१४००
० चर्चावादी	—	५८००
० साधु	—	१,००,०००
० साध्वी	—	१,०६,०००
० श्रावक	—	२,८९,०००
० श्राविका	—	४,५८,०००

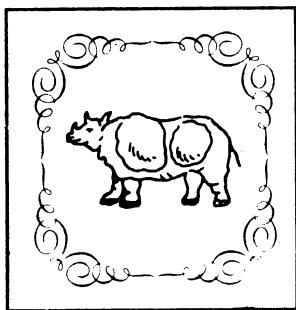
एक झलक—

० माता	—	नन्दादेवी
० पिता	—	दृढरथ
० नगरी	—	भदिदलपुर
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप

० चिन्ह	—	श्रीवत्स
० वर्ण	—	सुवर्ण
० शरीर की ऊंचाई	—	९० धनुष्य
० यक्ष	—	ब्रह्मा
० यक्षिणी	—	अशोका
० कुमार काल	—	२५ हजार पूर्व
० राज्य काल	—	५० हजार पूर्व
० छदमस्थ काल	—	३ मास
० कुल दीक्षा पर्याय	—	२५ हजार पूर्व
० आयुष्य	—	१ लाख पूर्व

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	— बैसाख कृष्णा ६	प्राणत	पूर्वाषाढ़ा
० जन्म	— माघ कृष्णा १२	भदिदलपुर	पूर्वाषाढ़ा
० दीक्षा	— माघ कृष्णा १२	भदिदलपुर	पूर्वाषाढ़ा
० केवलज्ञान	— पोष कृष्णा १४	भदिदलपुर	पूर्वाषाढ़ा
० निर्वाण	— बैसाख कृष्णा २	सम्मेद शिखर	पूर्वाषाढ़ा



(११)

भगवान् श्री श्रेयांसनाथ

तीर्थकर गोत्र का बन्ध

अर्धपुष्कर द्वीप के पूर्व महाविदेह के कच्छ विजय की क्षेमा नगरी में राजा नलिनीगुल्म राज्य वैभव को पाकर भी बेचैन रहते थे। सब कुछ पाकर भी उन्हें रिक्तता महसूस होती थी। आज हैं, कल क्या होगा? यह चिंता उन्हें सदैव सताती रहती थी। जीवन में स्थायी शांति मिले, इसलिये उन्होंने राज्य त्यागा, वज्रदंत मुनि के पास दीक्षित हुए, तीव्र तप तपा और परम अध्यात्मभाव से कर्मों की उत्कृष्ट निर्जरा कर तीर्थकर गोत्र का बंध किया। वहां से पंडित मरण पाकर वे महाशुक्र स्वर्ग में देव बने।

जन्म

देवायु को पूर्ण भोग कर आर्य जनपद की समृद्ध नगरी सिंहपुर के नरेश विष्णु देव की महारानी विष्णुदेवी की कुक्षि में अवतरित हुए। महारानी को आए चौदह महास्वप्नों से सबको विदित हो गया कि हमारे यहां भुवनभास्कर का उदय होगा। ये स्वप्न असाधारण हैं, इन्हें देखने वाली माता तीर्थकर या चक्रवर्ती को जन्म देती है।

गर्भकाल पूरा होने पर सुखपूर्वक फाल्गुन कृष्ण बारस को प्रभु का प्रसव हुआ। राजा विष्णु ने देवेन्द्रों के उत्सव के बाद अदम्य उत्साह से जन्मोत्सव किया। याचकों को जन्म भर के लिये अयाचक बना दिया। राज्य के जेलखाने खाली कर दिये गये। घर-घर में उमंग का वातावरण छा गया।

नाम के दिन राजा विष्णु ने उपस्थित जनसमूह को बताया- 'पिछले नौ महिनों में राज्य में हर प्रकार से श्रेयस्कर कार्य हुए हैं। राजवंश के लिए भी ये महिने श्रेयस्कर बीते हैं। जनपद के लिए भी चारों ओर मंगलमय वातावरण रहा है, अतः बालक का नाम 'श्रेयांस' रखा जायें, सभी लोगों ने श्रेयांस कुमार कहकर बालक को पुकारा।

राजा विष्णु ने श्रेयांसकुमार के युवावस्था में आने पर अनेक सुयोग्य राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण करवाया तथा आग्रहपूर्वक राज्याभिषेक

किया। श्रेयांसकुमार ने राजा बनने के बाद राज्य का संचालन सुचारु रूप से किया। उनके राज्य-काल में लोग अनैतिक कार्यों से सदैव बचते रहे। व्यवस्था ऐसी कर दी गई थी कि अनैतिक बनने का प्रसंग ही नहीं रहा।

दीक्षा

चारित्र मोहनीय कर्म का प्रबल क्षयोपशम निकट समझ कर प्रभु ने अपने उत्तराधिकारी को राज्य सौंप कर वर्षादान दिया। श्रेयांस के प्रति आस्था रखने वाले व्यक्ति उनकी विरक्ति को देखकर विरक्त हो गये थे और उनके साथ दीक्षा लेने को तत्पर हो उठे। निश्चित तिथि फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी को प्रभु सुखपालिका पर बैठकर जनसमूह के साथ उद्यान में आये, पंचमुष्टि लोच किया तथा अशोकवृक्ष के नीचे एक हजार दीक्षार्थी व्यक्तियों के साथ सामायिक चारित्र ग्रहण किया। दूसरे दिन सिद्धार्थ पुर नगर में राजा नंद के यहां परमान्न (खीर) से पारणा किया।

दो मास तक प्रभु छद्मस्थ अवस्था में विचरते रहे। परिषहों को सहन करते हुए उन्होंने ध्यान और स्वाध्याय से कर्मों की महान् निर्जरा की। माघ कृष्ण अमावस्या के दिन शुक्ल ध्यान से क्षपक श्रेणी ली, घाती-कर्मों को क्षय करके कैवल्य को प्राप्त किया। प्रथम प्रवचन में ही तीर्थ की स्थापना हो गई थी, बड़ी संख्या में लोगों ने साधु-श्रावक के व्रतों को ग्रहण किया।

आर्य जनपद में प्रभाव

भगवान् श्रेयांस का धार्मिक प्रभाव आर्य जनपद में अप्रतिहत था। जनपद के अमीर और गरीब लोगों में वे एक समान आस्था के केन्द्र थे। तत्कालीन राजाओं पर भी उनका अमिट प्रभाव था।

एक बार भगवान् श्रेयांसनाथ विचरते-विचरते पोतनपुर पधारे। उद्यान में ठहरे। राजपुरुष ने अर्धचक्री प्रथम वासुदेव श्री त्रिपृष्ठ को प्रभु के आगमन की सूचना दी। सूचना पाकर वासुदेव त्रिपृष्ठ इतने हर्ष विभोर हुए कि सूचना देने वाले को उन्होंने साढ़े बारह करोड़ मुद्रा का दान देकर अपना हर्ष प्रकट किया तथा तत्काल अपने ज्येष्ठ भ्राता बलदेव अचल के साथ आकर प्रभु के दर्शन किये। ये इस अवसरपिणी के प्रथम वासुदेव व प्रथम बलदेव थे।

सत्तासीन व्यक्तियों से लेकर सेवाधीन व्यक्तियों तक सब प्रभु के चरणों में परम उल्लास के साथ आते रहते थे।

निर्वाण

निर्वाणकाल निकट समझकर एक हजार मुनियों के साथ सम्मेद शिखर पर आपने अनशन किया। एक मास के अनशन में उन्होंने मुक्ति को प्राप्त किया।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	७६
० केवलज्ञानी	—	६५००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	६०००
० अवधिज्ञानी	—	६०००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	११,०००
० चतुर्दश पूर्वी	—	१३००
० चर्चावादी	—	५०००
० साधु	—	८४,०००
० साध्वी	—	१,०३,०००
० श्रावक	—	२,७९,०००
० श्राविका	—	४,४८,०००

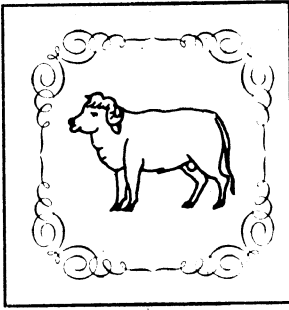
एक झलक—

० माता	—	विष्णुदेवी
० पिता	—	विष्णु
० नगरी	—	सिंहपुर
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	खड्गी (गेंडा)
० वर्ण	—	सुवर्ण
० शरीर की ऊंचाई	—	८० धनुष्य
० यक्ष	—	यक्षराज
० यक्षिणी	—	मानवी
० कुमार काल	—	२१ लाख वर्ष
० राज्य काल	—	४२ लाख वर्ष
० छद्मस्थ काल	—	२ मास
० कुल दीक्षा पर्याय	—	२१ लाख वर्ष
० आयुष्य	—	८४ लाख वर्ष

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	—	ज्येष्ठ कृष्णा ६	महाशुक्र
० जन्म	—	फाल्गुन कृष्णा १२	सिंहपुर
			श्रवण
			श्रवण

० दीक्षा	—	फाल्गुन कृष्णा १३	सिंहपुर	श्रवण
० केवलज्ञान	—	माघ कृष्णा १५	सिंहपुर	श्रवण
० निर्वाण	—	सावन कृष्णा ३	सम्मद शिखर	धनिष्ठा



(१२)

भगवान् श्री वासुपूज्य

तीर्थकर गोत्र का बन्ध

अर्धपुष्कर द्वीप के पूर्व विदेह की मंगलावती विजय की रत्नसंचया नगरी में राजा पद्मोत्तर ने इस तत्त्व को क्षणभर के लिए विस्मृत नहीं किया- 'संसार अनित्य है।' अतुल सम्पत्ति व विपुल भोग सामग्री पाकर भी वे कभी उन्मत्त नहीं हुए। वे सदैव अध्यात्म व आत्म-विकास के बारे में सोचते रहते थे। ज्योंही उन्हें अवकाश मिला, अपने पुत्र को राज्य सौंपकर आचार्य वज्रनाभ के पास दीक्षित हो गए।

साधना में पद्मोत्तर मुनि अत्यधिक सजग थे। विशेष कर्म-निर्जरा के बीस स्थानकों का उन्होंने मनोयोगपूर्वक सेवन किया था। कर्मों की महान् निर्जरा होने से पद्मोत्तर मुनि ने तीर्थकर गोत्र का बन्ध किया तथा वहां से समाधिपूर्वक मरकर 'प्राणत' देवलोक में देव बने।

जन्म

देवयोनि भोगकर भगवान् के जीव ने भरत क्षेत्र की समृद्ध नगरी चम्पा के सम्राट् श्री वसुपूज्य की महारानी जयादेवी की कुक्षि में अवतरण लिया। महारानी ने स्वप्न में चौदह महादृश्य देखे। स्वप्न पाठकां से पूछने पर ज्ञात हुआ कि हमारे घर में तीर्थकर पैदा होने वाले हैं। सब रोमांचित हो उठे और प्रभु के जन्म की व्यग्रता से प्रतीक्षा करने लगे।

गर्भकाल पूरा होने पर फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी की मध्य रात्रि में बिना किसी बाधा व पीड़ा के भगवान् का जन्म हुआ।

चौसठ इन्द्र मिलकर भगवान् के नवजात शरीर को पंडुक वन के शिलापट्ट पर ले गए, जन्म अभिषेक किया तथा विभिन्न प्रकार से अपना हर्ष प्रकट करके वापिस यथास्थान भगवान् के नवजात शरीर को स्थापित किया।

राजा वसुपूज्य ने पुत्र प्राप्ति की अपार खुशी में दिल खोलकर उत्सव किया। याचकों को दान दिया।

नामकरण के दिन बड़ी संख्या में बुजूर्ग लोग आये थे। बालक को देखकर सबने कहा- 'सम्राट् के सभी गुण इसमें मौजूद हैं। आप अमर रहें, आपका नाम

अमर रहे। बालक बाप के नाम को अमर बनाने वाला होता है, अतः हमारा निवेदन है कि बालक का नाम 'वासुपूज्य' रखा जाए। आपका नाम वसुपूज्य है आपके पुत्र का नाम वासुपूज्य दिया जाए तो बालक के नाम से आपका नाम भी हमें स्मरण होता रहेगा।' राजा के नाम जंच गया।

वासुपूज्य कुमार अपने बाल-साथियों के साथ क्रीड़ा करते हुए क्रमशः बड़े होने लगे। उनका अत्यन्त सुन्दर संस्थान (शरीर का आकार) व सर्वोत्तम संहनन युवावस्था में और भी अधिक निखर उठा और लोगों के आकर्षण का केन्द्र बन गया। देखने वाले हैरान थे उनके रूप पर, शरीर के अद्भुत गठन पर। अनेक राजाओं ने राजा वसुपूज्य के पास दूत भेजकर आग्रह किया- 'आपके पुत्र के साथ मेरी राजकन्या की उपयुक्त जोड़ी है अतः इनके विवाह की स्वीकृति दें।'।

राजा वसुपूज्य धार्मिक वृत्ति के होते हुए भी यह चाहते थे कि साधुत्व से पहले राजकुमार शादी कर ले। उसने वासुपूज्य कुमार की शादी अनेक राजकन्याओं के साथ आग्रहपूर्वक कर दी। साथ में यह भी चाहते थे कि कुंवर अब राज्य व्यवस्था का संचालन भी करे। राजा जानते थे कि कुंवर की इन दोनों के बारे में ही सर्वथा विरक्ति है। उन्होंने अपने प्यारे राजपुत्र को एक बार एकांत में बुलाकर कहा— वत्स! चौदह स्वर्णों के साथ जन्म लेने वाले अब तक जितने भी तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती हुए हैं, वे सब विवाहित हुए हैं। उन्होंने न केवल विवाह किया, राज्य का संचालन भी किया। भगवान् ऋषभ से लेकर श्रेयांस प्रभु तक के सारे तीर्थंकर राजा बने। फिर राज्य के प्रति अभी से तुम्हारी विरक्ति समझ में नहीं आती है। समय पर सारे काम होने चाहिए, विवाह के समय विवाह, राज्य संचालन के समय राज्य संचालन और साधना के समय साधना। क्यों ठीक है न?

वासुपूज्य कुमार अब तक मौन थे, किंतु अब उन्हें बोलना पड़ा। बहुत विनय के साथ अपने सुदृढ़ विचारों को व्यक्त करते हुए कहा- 'पिताजी! राज्य संचालन में साम, दाम दंड, भेद का प्रयोग करना ही पड़ता है। उसमें कुछ न कुछ कर्म का बंध ही होता है। मैं ऐसे कर्मों से प्रतिबंधित नहीं हूँ, अतः राज्य व्यवस्था का भार मैं नहीं लूँगा।'।

राजा अपने पुत्र के उत्तर से स्वयं निरुत्तर थे। तत्त्वज्ञ होने के कारण वे गलत दलील दे नहीं सकते थे, अतः बोले- 'पुत्र! फिर तुम स्वयं और दुनिया के कल्याण के लिए जैसा उचित समझो वैसा करो।' पिता से आज्ञा मिल गई। वासुपूज्य अपने महल में आए, इधर लोकांतिक देव भगवान् को प्रतिबोध देने की रस्म निभाने के लिए पहुंच गए। प्रतिबोध दिया, देवों ने मिल कर वर्षादान की व्यवस्था की। भगवान् ने वर्षादान दिया।

दीक्षा

निर्धारित तिथि फाल्गुन कृष्ण अमावस्या के दिन छह सौ व्यक्तियों के साथ वासुपूज्य कुमार ने अभिनिष्क्रमण किया। दीक्षा के दिन उनके उपवास का तप था।

दूसरे दिन निकटवर्ती शहर महापुर नगर के राजा सुनन्द के यहां भगवान् ने परमात्र (खीर) से पारणा किया और देवों ने पंच द्रव्य प्रकट करके दान का महत्त्व प्रदर्शित किया।

भगवान् ने अपने छद्मस्थ काल के एक मास में उग्रतम अंतरंग साधना की। पवित्र जीवन तो उनका पहले से ही था, अब पूर्व संचित कर्मों को क्षय करने में भी उन्होंने विशेष सफलता प्राप्त की। गुणस्थानों के सोपान चढ़ते हुए उन्होंने चार घातिक- कर्मों का क्षय किया और सर्वज्ञता प्राप्त की।

देवेन्द्रों ने केवल- महोत्सव किया। इसके बाद प्रभु के प्रथम प्रवचन में ही चार तीर्थ की स्थापना हो गई। अनेकों व्यक्ति साधना पथ के पथिक बन गए।

एक छत्र प्रभाव

तीर्थकरों के अतिशय भी अपूर्व होती हैं। उनका प्रभाव सब वर्गों पर एकछत्र रहता है। क्या अमीर, क्या गरीब सब पर उनका असर था। तत्कालीन मण्डलाधीश छत्रपति राजाओं पर भी उनका अद्भुत प्रभाव था। इस अवसरपिणी के दूसरे नारायण अर्धचक्री वासुदेव द्विपष्ठ भी प्रभु के परम भक्त थे।

भगवान् वासुपूज्य जब अर्धचक्री की नगरी में पधारे, तब उन्होंने सूचना देने वाले को साढ़े बारह करोड़ सोनइयों (मुद्रा) का दान दिया और स्वयं राजकीय सवारी से भगवान् के दर्शन करने आये। धर्म की प्रभावना में उनका विशेष योगदान रहा। दूसरे बलदेव श्री विजय ने भी भगवान् के शासन में भागवती दीक्षा स्वीकार की। और भी अनेक राजागण प्रभु के चरणों में साधनालीन बन गये।

निर्वाण

अपना निर्वाण काल निकट देख कर भगवान् वासुपूज्य चम्पा नगरी पधारे। वहां छह सौ साधुओं के साथ अनशन ग्रहण किया। एक मास के अनशन से समस्त कर्मों के क्षय हो जाने पर उन्होंने आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी के दिन सिद्धत्व को प्राप्त किया। चौसठ इन्द्रों ने मिलकर निर्वाण महोत्सव किया, भगवान् के शरीर का नीहरण किया।

प्रभु का परिवार

० गणधर	—	६६
० केवलज्ञानी	—	६०००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	६०००

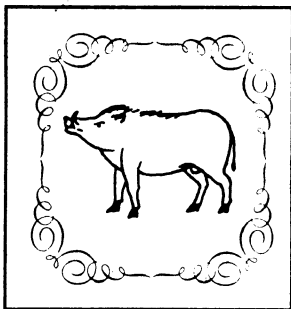
० अवधिज्ञानी	—	५४००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	१०,०००
० चतुर्दश पूर्वी	—	१२००
० चर्चावादी	—	४७००
० साधु	—	७२,०००
० साध्वी	—	१,००,०००
० श्रावक	—	२,१५,०००
० श्राविका	—	४,३६,०००

एक झलक—

० माता	—	जया
० पिता	—	वासुपूज्य
० नगरी	—	चंपा
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	महिष (भैंसा)
० वर्ण	—	लाल (रक्त)
० शरीर की ऊंचाई	—	७० धनुष्य
० यक्ष	—	कुमार
० यक्षिणी	—	चंडा
० कुमार काल	—	१८ लाख वर्ष
० राज्य काल	—	—
० छद्मस्थ काल	—	१ माह
० कुल दीक्षा पर्याय	—	५४ लाख वर्ष
० आयुष्य	—	७२ लाख वर्ष

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	—	ज्येष्ठ शुक्ला ९	प्राणत
० जन्म	—	फाल्गुन कृष्णा १४	चंपा
० दीक्षा	—	फाल्गुन कृष्णा १५	चंपा
० केवलज्ञान	—	माघ शुक्ला २	चंपा
० निर्वाण	—	आषाढ़ शुक्ला १४	चंपा
			उत्तर भाद्रपद



(१३)

भगवान् श्री विमलनाथ

तीर्थकर गोत्र का बन्ध

सर्वज्ञता प्राप्ति के लिए दीर्घकालीन प्रयत्न की आवश्यकता है। सिर्फ एक भव का प्रयत्न ही काम नहीं आता, अनेक भवों के प्रयत्नों से ही आत्मा की उज्ज्वलता सम्भव है। प्रत्येक तीर्थकर ने अपने पूर्व जन्मों में विभिन्न प्रकार से साधना की थी।

भगवान् विमलनाथ ने भी अपने पूर्व जन्म में, धातकीखंड के पूर्व विदेह में भरत विजय की महापुरी नगरी के नरेश पद्मसेन के रूप में काफी ख्याति अर्जित की थी। आचार्य सर्वगुप्त के पास दीक्षा लेकर उत्कट साधना में संलग्न बने। बीस स्थानों का विशेष रूप से आसेवन किया। धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान से महान् कर्म निर्जरा कर उन्होंने तीर्थकर गोत्र का बंध किया। अनशन व आराधनापूर्वक शरीर त्याग करने पर वे आठवें देवलोक के महर्धिक विमान में देव के रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म

आठवें स्वर्ग में पूर्ण देवायु भोग कर वे भरत क्षेत्र की कंपिलपुर नगरी के राजा कृतवर्मा के यहां आये। महारानी श्यामा की पावन कुक्षि में अवतरित हुए। माता ने चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्नों के आधार पर स्वप्न पाठकों ने तीर्थकर महापुरुष के जन्म लेने की एक स्वर से घोषणा की। सारे शहर में हर्ष की लहर दौड़ गई। सर्वत्र चौदह महास्वप्न तथा उनके फल की चर्चा थी।

गर्भकाल पूरा होने पर माघ शुक्ला तृतीया की रात्रि में प्रभु का जन्म हुआ। स्वर्ग में तत्काल दिव्य घंटी बजने लगी। घंटी बजते ही देवों को प्रभु के जन्म का पता लग गया। चौसठ इन्द्रों के साथ बड़ी संख्या में देव जन्मोत्सव करने आ पहुंचे। उत्सव के बाद राजा कृतवर्मा ने परम उत्साह से जन्मोत्सव मनाया। सारे नगर में बधाई बांटी गई। बाहर का जो भी व्यक्ति आया, उसे राजकीय भोजनशाला में भोजन करवाया गया। नामकरण समारोह में नगर के प्रतिष्ठित नागरिक सम्मिलित हुए। महारानी परम तेजस्वी बालक को गोद में लेकर आयोजन स्थल पर आई। पुत्र को देखकर सभी चकित हो गए।

नाम की परिचर्चा में सम्राट् कृतवर्मा ने कहा- 'बालक का शरीर विमल (उज्ज्वल) है। इसी प्रकार गर्भकाल में महारानी के विचार बहुत ही विमल (पवित्र) रहते थे, अतः इसका नाम विमलकुमार रखा जाना चाहिए।' उपस्थित जनसमूह ने बालक को तत्काल गुण निष्पन्न नाम 'विमलकुमार' से सम्बोधित किया।

विवाह और राज्य

बाल क्रीड़ा करते हुए बालक विमल का शरीर क्रमशः बढ़ने लगा। उन्होंने शैशव व किशोरावस्था को पार कर यौवन में प्रवेश किया। भगवान् का समुज्ज्वल शरीर अत्यधिक आकर्षक होता चला गया। वे जिधर भी निकल जाते, उधर ही आबाल-वृद्ध लोगों की टकटकी लग जाती, सभी निर्निमेष हो जाते थे।

राजा कृतवर्मा ने पुत्र को सब प्रकार से समर्थ समझकर सुयोग्य राजकन्याओं के साथ उनकी शादी कर दी। वे इन्द्र की भांति भौतिक सुखों को भोगते रहे। सम्राट् कृतवर्मा अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति को बढ़ाने हेतु पुत्र विमलकुमार को आग्रहपूर्वक राज्य सौंपकर साधु बन गये।

विमलकुमार अब राजा बनकर कुशलता से राज्य का संचालन करने लगे। इनके पुण्य प्रताप से राज्य में न अतिवृष्टि थी, न अनावृष्टि और न महामारी के रूप में किसी रोग का आतंक हुआ। बालक और जवानों के मरने की तो लोग कहानियां ही सुनते थे। उनका राज्य बहुत ही निरापद था।

दीक्षा

चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने पर सम्राट् विमल अपने उत्तराधिकारी को राज्य सौंपकर वर्षीदान दिया। विमल प्रभु की दीक्षा की बात सुनकर अनेक भव्यात्माओं के दिल पिघल गये। वे भी प्रभु के साथ दीक्षित होने की तैयारी करने लगे।

निश्चित तिथि माघ शुक्ला चतुर्थी को विशाल शोभा यात्रा के साथ प्रभु सहस्राग्र वन में आए। पंचमुष्टि लोच किया तथा एक हजार मुमुक्षु व्यक्तियों के साथ सामायिक चारित्र ग्रहण किया। प्रभु के उस दिन बेले का तप था।

दूसरे दिन धान्यकट नगर के राजा जय के यहां उन्होंने परमान्न (खीर) से पारणा किया।

दो वर्ष तक वे छद्मस्थ काल की साधना करते रहे। विविध तप और विविध अभिग्रहों के साथ ध्यान से कर्मों की महान् निर्जरा करते हुए वे पुनः दीक्षा-स्थल पर पधारे। शुक्ल ध्यानारूढ़ होकर उन्होंने पौष शुक्ला छठ को सर्वज्ञता प्राप्त की।

जन्मभूमि के लोगों की भारी भीड़ प्रभु के दर्शनार्थ उमड़ पड़ी प्रथम प्रवचन में ही साधु- साध्वी, श्रावक तथा श्राविका रूप तीर्थ की स्थापना हुई।

अप्रतिहत प्रभाव

भगवान् विमलनाथ के शासनकाल में मेरक प्रतिवासुदेव और स्वयंभू वासुदेव तथा भद्र बलदेव जैसे जननायक हुए थे। वे सभी भगवान् विमलनाथ के समवसरण में आते रहते थे।

उन पर भगवान् का अप्रतिहत प्रभाव था। बलदेव भद्र वासुदेव स्वयंभू की मृत्यु के बाद प्रभु के चरणों में दीक्षित हुए थे।

निर्वाण

भव- विपाकी कर्मों की परिसमाप्ति समीप समझ कर इतनी ही अवधि की कर्म प्रकृति वाले छह हजार साधुओं सहित भगवान् ने सम्मेद शिखर पर आजीवन अनशन ग्रहण कर लिया। एक मास के अनशन में भव- विपाकी कर्मों के क्षय होने पर उन्होंने सिद्धत्व प्राप्त किया। चौसठ इन्द्रों ने मिलकर उनका निर्वाणोत्सव किया।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	५७
० केवलज्ञानी	—	५५००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	५५००
० अवधिज्ञानी	—	४८००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	९०००
० चतुर्दश पूर्वी	—	११००
० चर्चावादी	—	३२००
० साधु	—	६८,०००
० साध्वी	—	१,०१,८००
० श्रावक	—	२,०८,०००
० श्राविका	—	४,२४,०००

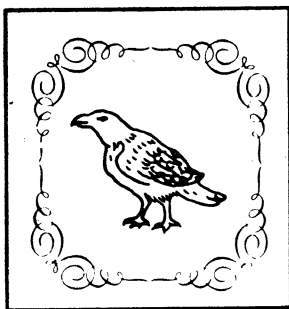
एक झलक—

० माता	—	श्यामा
० पिता	—	कृतवर्मा
० नगरी	—	कंपिलपुर
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिह्न	—	शूकर
० वर्ण	—	सुवर्ण
० शरीर की ऊंचाई	—	६० धनुष्य

० यक्ष	—	षन्मुख
० यक्षिणी	—	विदिता
० कुमार काल	—	१५ लाख वर्ष
० राज्य काल	—	३० लाख वर्ष
० छदमस्थ काल	—	२ मास
० कुल दीक्षा पर्याय	—	१५ लाख वर्ष
० आयुष्य	—	६० लाख वर्ष

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	— बैसाख शुक्ला १२	सहस्रार	उत्तर भाद्रपद
० जन्म	— माघ शुक्ला ३	कंपिलपुर	उत्तर भाद्रपद
० दीक्षा	— माघ शुक्ला ४	कंपिलपुर	उत्तर भाद्रपद
० केवलज्ञान	— पोष शुक्ला ६	कंपिलपुर	उत्तर भाद्रपद
० निर्वाण	— आसाढ़ कृष्णा ७	सम्मद शिखर	रेवती



(१४)

भगवान् श्री अनन्तनाथ

तीर्थकर गोत्र का बंध

चौदहवें तीर्थकर अनन्तनाथ अपने पूर्व जन्म में धातकी खंड पूर्व विदेह के ऐरावत विजय की अरिष्ठा नगरी के राजा पद्मरथ के रूप में भूमण्डल में सर्वाधि एक वर्चस्वी राजा थे। सब राजाओं पर इनकी धाक थी। पद्मरथ के विरुद्ध संघर्ष की बात तो दूर, विरोध में बोलने की हिम्मत भी किसी में नहीं थी। वे निष्कण्टक राज्य सत्ता का उपभोग करते रहे।

एक बार गुरु चित्तरक्ष अरिष्ठा नगरी में पधारे। राजा स्वयं दर्शनार्थ आये। उस प्रवचन में जीवन के ऊर्ध्व लक्ष्य के बारे में सुनकर वे चौंक उठे। सोचने लगे— 'जीवन का ध्येय बहुत ऊंचा है तूने अधम भोग-वासना की तृप्ति में स्वयं को लगा रखा है, फिर ध्येय की प्राप्ति कैसे होगी ? अब भी समय है, आदर्श की प्राप्ति के लिए। अब भी राज्य को छोड़ कर क्यों नहीं गुरुदेव के चरणों में साधनालीन बन जाऊँ !'

राजा पद्मरथ ने इसी निर्णय के साथ अपने पुत्र को राज्य सौंपकर गुरु चित्तरक्ष के पास में दीक्षा ग्रहण कर ली। घोर तपस्या व उत्कृष्ट साधना के द्वारा महान् कर्म-निर्जरा करके तीर्थकर गोत्र का बन्ध किया। अन्त में आराधक पद पाकर दसवें स्वर्ग में महर्षिक देव विमान को सुशोभित किया।

जन्म

देव आयुष्य की समाप्ति पर वे भरत क्षेत्र की समृद्ध नगरी अयोध्या में आए। वहां अयोध्या नरेश सिंहसेन की महारानी सुयशादेवी की कुक्षि में अवतरित हुए। महारानी सुयशादेवी ने तीर्थकर के आगमन के सूचक चौदह महास्वप्न देखे। सारे शहर में खुशी छा गई। स्वप्नों के फल सुनकर लोग हर्ष से ओत-प्रोत बन गये।

गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख कृष्ण त्रयोदशी की मध्य रात्रि में बिना किसी पीड़ा और बाधा के उनका जन्म हुआ। देवताओं के उत्सव मनाने के बाद राजा सिंहसेन ने समूचे राज्य में जन्मोत्सव की घोषणा की। बन्दीघर खाली कर दिये

और भण्डार खोल दिये। जो भी मांगने आये, उन्हें दिल खोलकर दान दिया। दूर-दूर के लोग भगवान् के जन्मोत्सव को देखने आए।

विवाह और राज्य

नामकरण के दिन राज्य के कोने-कोने से लोग नवजात राजकुमार के दर्शनार्थ पहुंचे। राजा सिंहसेन ने सबको संबोधित करते हुए कहा— 'इसके गर्भकाल में हम लोगों ने बहुत बड़ी विजय प्राप्त की है, सैन्य बल में हम से भी बड़े राजा के साथ इस बार संघर्ष था, किंतु हमारी सेना में अपरिमित बल जाग पड़ा। मैं भी मानो अनन्तबली बन गया और हमें स्थायी विजय प्राप्त हो गयी, अतः बालक का नाम 'अनन्तकुमार' रखा जाए।' सभी लोगों ने बालक को अनन्तकुमार नाम से पुकारा।

राजकुमार अनन्त की बाल्यावस्था मनोरंजन में बीती। वे अपनी बाल-सुलभ क्रीड़ाओं से न केवल बाल सखाओं का ही मनोरंजन करते, अपितु राजमहल को पुलकित बनाये रखते। क्रमशः उन्होंने तारुण्य में प्रवेश किया। उनमें विरक्ति का भाव जाग पड़ा, किन्तु महाराजा सिंहसेन ने आग्रहपूर्वक अनेक राजकन्याओं से उनका विवाह कर दिया।

राजा ने राज्य कार्य में भी पुत्र का सहयोग लेना चाहा। आग्रहपूर्वक पुत्र का राज्याभिषेक किया। व्यवस्था संचालन की समस्या का हल संतोषजनक हो गया, तब राजा सिंहसेन गृही-जीवन से निवृत्त होकर अणगार-धर्म की साधना करने लगे।

अनन्तकुमार अब राजा अनन्तनाथ बन चुके थे। जनता की सुख-सुविधा के बारे में वे सदा सजग रहते थे। उनके शासनकाल में सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्थाएं धर्म-नीति से नियंत्रित थीं। जनता को इतना सुख था कि लोग पूर्ववर्ती राजाओं को भूल चुके थे। लोगों के लिए तो अनन्तनाथ ही सब कुछ थे।

दीक्षा

चारित्र मोहनीय का क्षयोपशम होने पर भगवान् अनन्तनाथ ने अपने उत्तराधिकारी को राज्य सौंपकर वर्षीदान दिया। निर्धारित तिथि वैशाख कृष्ण चतुर्दशी के दिन एक हजार भव्य पुरुषों के साथ वे सहस्राम्र नामक उपवन में आये। पंचमुष्टि लोच किया। देव और मनुष्यों की अपार भीड़ में उन्होंने सावद्य योगों का सर्वथा प्रत्याख्यान किया। दीक्षा के दिन उनके बेले का तप था। दूसरे दिन वर्धमानपुर में विजय राजा के वहां परमान्न (खीर) से पारणा किया। देवों ने पंच द्रव्य प्रकट करते हुए जनसाधारण को दान की गरिमा बतलाई।

तीन वर्ष तक भगवान् छद्मस्थ चर्या में साधना करते रहे। पूर्व संचित कर्मों की उदीरणा व निर्जरा करते हुए वे पुनः सहस्राम्र वन में पधारे। अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ होकर उन्होंने क्षपक श्रेणी ली। घातिक कर्मों का क्षयकर अनन्त चतुष्टय को प्राप्त किया।

प्रभु को सर्वज्ञता प्राप्त होते ही देवों ने केवल-उत्सव किया। समवसरण की रचना की। जन्मभूमि व आसपास के हजारों लोग प्रभु को सुनने के लिए एकत्रित हो गए। भगवान् ने उनके बीच प्रथम देशना दी। अनेक व्यक्तियों ने आगार और अणगार धर्म की उपासना स्वीकार की।

अप्रतिहत प्रभाव

प्रभु के धर्मशासन में धर्म-नीति का प्रभाव उत्कर्ष पर था। प्रत्येक राजा धर्मनीति को ध्रुवकेन्द्र मानकर अपना-अपना राज्य चलाते थे। वासुदेव पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् के परम भक्त थे। भगवान् की उपासना से उन्हें सम्यक्-दर्शन प्राप्त हो गया। बलदेव सुप्रभ ने भगवान् के पास दीक्षित होकर सिद्धत्व को प्राप्त कर लिया। जनसाधारण में भगवान् के प्रति अनन्य आस्था थी।

निर्वाण

भव-विपाकी कर्मों का अंत निकट देखकर सात हजार मुनियों के साथ भगवान् ने अनशन किया तथा चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन समस्त कर्मों का क्षय कर सम्मोद शिखर पर सिद्धत्व प्राप्त किया। भगवान् के निर्वाण क्षण में विश्व सहसा आलोकित हो उठा। एक क्षण के लिए तो नारक जीव भी स्तब्ध रह गये। उनके शरीर की निहरण क्रिया के समय मनुष्यों के साथ-साथ चतुर्विध देवों की भी भारी भीड़ थी।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	५०
० केवलज्ञानी	—	५०००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	५०००
० अवधिज्ञानी	—	४३००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	८०००
० चतुर्दश पूर्वी	—	१०००
० चर्चावादी	—	३२००
० साधु	—	६६,०००
० साध्वी	—	६२,०००
० श्रावक	—	२,०६,०००
० श्राविका	—	४,१४,०००

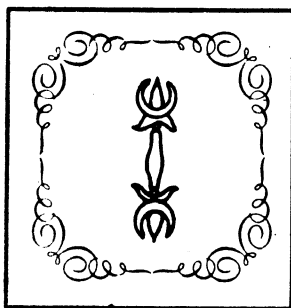
एक झलक—

० माता	—	सुयशा
० पिता	—	सिंहसेन
० नगरी	—	अयोध्या

० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	श्येन
० वर्ण	—	सुवर्ण
० शरीर की ऊँचाई	—	५० धनुष्य
० यक्ष	—	पाताल
० यक्षिणी	—	अंकुशा
० कुमार काल	—	७.५ लाख वर्ष
० राज्य काल	—	१५ लाख वर्ष
० छद्मस्थ काल	—	३ वर्ष
० कुल दीक्षा पर्याय	—	७.५ लाख वर्ष
० आयुष्य	—	३० लाख वर्ष

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन —	सावन कृष्णा ७	प्राणत	रेवती
० जन्म —	बैसाख कृष्णा १३	अयोध्या	रेवती
० दीक्षा —	बैसाख कृष्णा १४	अयोध्या	रेवती
० केवलज्ञान —	बैसाख कृष्णा १४	अयोध्या	रेवती
० निर्वाण —	चैत्र शुक्ला ५	सम्मेद शिखर	रेवती



(१५)

भगवान् श्री धर्मनाथ

तीर्थकर गोत्र का बंध

धातकी खंड की पूर्व विदेह के भरत विजय में भदिदलपुर नामक समृद्ध नगरी थी। उसके पराक्रमी राजा सिंहरथ ने धर्मगुरुओं से जब सुना कि योद्धाओं को जीतना आसान है, किंतु आत्मा पर नियंत्रण पाना कठिन है, खूंखार शेर को पकड़ना आसान है, किंतु मन और इंद्रियों को जीतना अत्यंत कठिन है, तो उसके दिल में उथल-पुथल मचने लगी। स्वयं के पुरुषार्थ को अब राजा ने अध्यात्म की ओर मोड़ दिया। महलों में रहता हुआ भी वह एक संत का जीवन जीने लगा। अवकाश मिलते ही उसने अपने सुयोग्य उत्तराधिकारी को राज्य सौंपकर विमलवाहन स्थविर के पास संयम ग्रहण कर लिया।

दीक्षा के बाद राजर्षि सिंहरथ ने अपने प्रबल पराक्रम को सर्वथा आत्म शुद्धि के अनुष्ठान में जोड़ दिया। विचित्र तप, विचित्र कायोत्सर्ग और विचित्र ध्यान के मार्ग से कर्मों की महान् निर्जरा की और तीर्थकर गोत्र का बंध किया। अन्त में आराधक पद पाकर अनुत्तर विमान के वैजयंत स्वर्ग में वे अहमिन्द्र देव बने।

जन्म

अहमिन्द्र पद की आयु क्षीण होने पर उनके जीव ने वहां से च्यवकर रत्नपुर नगर के राजा भानु की महारानी सुव्रता की पवित्र कुक्षि में अवतरण लिया। महारानी को चौदह महास्वप्न आए। सबको विदित हो गया कि अपने यहां त्रैलोक्य के आराध्य, विश्व की महान् विभूति पैदा होने वाली है। महारानी सुव्रता विशेष सजगता से गर्भ का पालन करने लगी।

गर्भकाल पूरा होने पर माघ शुक्ला तृतीया के दिन मध्य रात्रि में प्रभु का प्रसव हुआ। भगवान् के जन्म से मानव मेदिनी में अपूर्व उत्साह छा गया। राजा भानु ने देवेन्द्रों द्वारा किये गये उत्सव के पश्चात् जन्मोत्सव प्रारम्भ किया। उस महान् उत्सव से दूर-दूर के लोगों को प्रभु के जन्म का पता लग गया।

नामकरण उत्सव में जनपद के अनगिनत लोग सम्मिलित हुए। राजकुमार को देखकर सभी चकित थे। राजा भानु ने कहा- ' राजकुमार जब गर्भ में था,

तब इसकी माता को धार्मिक उपासना के अनेक दोहद (इच्छा) उत्पन्न हुए थे, जिन्हें प्रयत्नपूर्वक पूरा किया गया। अतः बालक का नाम धर्मकुमार रखा जाए। उपस्थित लोगों ने बालक को इसी नाम से पुकारा।

विवाह और राज्य

बाल्यावस्था क्रीड़ा में बिताने के बाद धर्मकुमार के शरीर में जब तारुण्य आया तो उनके अंग-अंग से तेज फूटने लगा। सारा शरीर रश्मि पुंज जैसा प्रतिभासित होने लगा। राजा ने अपने कुल के अनुरूप सुयोग्य राजकन्याओं से राजकुमार का पाणिग्रहण करवाया। समयान्तर से अवसर देख कर राजा भानु ने आग्रहपूर्वक धर्मकुमार को राज्य सौंपा और स्वयं अनिकेत-साधना के साधक बन गये।

धर्मकुमार अब राजा धर्मनाथ बन चुके थे। वस्तुतः उनकी राज्य संचालन की व्यवस्था धर्मराज्य की व्यवस्था थी। लोगों में स्वार्थ की भावना लुप्त सी हो गई थी। सामूहिक जीवनपद्धति का उत्तम क्रम चलने लगा। राज्य में कोई दुःखी नहीं था, किसी एक के कष्ट को सब अपना मानते थे। लोगों में अर्थ का उन्माद नहीं था।

दीक्षा

मंगलमय राज्य-व्यवस्था चलाते हुए भगवान् धर्मनाथ ने चारित्र मोहनीय का क्षयोपशम समीप देख राज्य-व्यवस्था का भार उत्तराधिकारी को दिया और दायित्व से मुक्त होकर स्वयं ने वर्षीदान की परम्परा निभाई। उनके निवृत्त होने की बात सुनकर अनेक भव्य आत्माओं के हृदय बदल गये। वे भी अपनी पिछली व्यवस्था का दायित्व दूसरों को सौंपकर दीक्षा के लिए तैयार हो गये।

निश्चित तिथि माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन 'नागदत्त' नामक पालकी में बैठकर नगर से बाहर उपवन में आ गये। अपार मानवमेदिनी के मध्य पंचमुष्टि लोच किया और एक हजार व्यक्तियों के साथ सामायिक चारित्र ग्रहण किया। भगवान् के उस दिन बेलें का तप था। दूसरे दिन सोमनस नगर के राजा धर्मसिंह के महलों में उन्होंने परमान्न से पारणा किया। यह उनकी प्रथम भिक्षा थी। इस अवसर पर देवों ने उत्सव किया, पंच द्रव्य प्रकट किये।

केवल ज्ञान

दो वर्ष तक भगवान् धर्मनाथ अभिग्रहयुक्त तप करते रहे। ध्यान की विविध प्रक्रियाओं के माध्यम से कर्म-निर्जरा करते हुए पुनः दीक्षा स्थल पर पधार, शतपर्ण वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बने और क्षपक-श्रेणी तक पहुंच गये। भावों की प्रबलता से घातिक-कर्मा का क्षय कर प्रभु ने सर्वज्ञता प्राप्त की। देवों ने उत्सव करके अपने उत्सास को प्रकट किया तथा समवसरण की रचना की। हजारों लोगों की उपस्थिति में प्रभु ने पहला प्रवचन दिया। लौकिक और लोकोत्तर मार्ग को भिन्न-भिन्न बतलाकर

लोकोत्तर पथ पर आने का आह्वान किया। अनेक व्यक्तियों ने आप से धर्म की उपासना के नियम ग्रहण किये।

तेजस्वी धर्मसंघ

भगवान् धर्मनाथ के धर्मशासन में अनेक शक्तिशाली राजनायकों ने लोकसत्ता को छोड़कर प्रभु द्वारा निरूपित आत्म-उपासना का मार्ग ग्रहण किया। धर्मसंघ की आन्तरिक तेजस्विता साधकों की प्रबल साधना से स्फुरित होती है। बाहरी तेजस्विता तत्कालीन युग-नेता एवं सत्ताधीशों के धर्म के प्रति झुकाव से परिलक्षित होती है। जहां समुदाय हैं, वहां दोनों प्रकार की तेजस्विता अपेक्षित है। प्रारम्भिक साधना काल में निर्विघ्नता रहे, इसके लिए बाहरी तेजस्विता भी आवश्यक है। इतिहास साक्षी है, जब-जब धर्मशासन बाहरी तेजस्विता से हीन हुआ, तब-तब धर्म समुदाय पर संकट आए और धर्मसंघ छिन्न-भिन्न तक हो गया।

भगवान् धर्मनाथ के शासन काल में आन्तरिक तेजस्विता के साथ बाहरी वर्चस्व भी पर्याप्त रूप से बढ़ा हुआ था। हर क्षेत्र के लोग धर्म के प्रति आस्थावान् बने हुये थे।

चार शलाका-पुरुष

पूरे अवसर्पिणी काल में तिरेसठ महापुरुष होते हैं, उन्हें 'शलाका-पुरुष' कहा जाता है। तिरेसठ में एक तो धर्मनाथ प्रभु स्वयं थे। चार और शलाका पुरुष उनके शासन काल में हुये थे।

भगवान् के सर्वज्ञता प्राप्त करने से पहले प्रतिवासुदेव निसुंभ को मारकर वासुदेव पुरुषसिंह और उनके बड़े भाई बलदेव सुदर्शन क्रमशः पांचवें वासुदेव और बलदेव के रूप में पृथ्वी के उपभोक्ता बन गये थे। भगवान् सर्वज्ञ होने के बाद जब अश्वपुर पधारे तब दोनों भाइयों ने प्रभु के दर्शन किये तथा प्रवचन सुनकर भगवान् के परम भक्त बन गये। वासुदेव की मृत्यु के बाद बलदेव सुदर्शन ने भगवान् के पास संयम लेकर मोक्ष प्राप्त किया।

प्रभु के शासनकाल में दो चक्रवर्ती भी हुए। तीसरे श्री मघवा तथा चौथे श्री सनत्कुमार। सावत्थी नगरी के राजा समुद्रविजय के पुत्र मघवा का जन्म चौदह महास्वप्नों से हुआ था। उन्होंने जवानी में प्रवेश किया, तब आयुधशाला में चक्ररत्न पैदा हुआ। समस्त भरत क्षेत्र के एकछत्र चक्रवर्ती बने। सभी राजा उनके आज्ञानुवर्ती थे। इतने विशाल साम्राज्य को पाकर भी वे धर्म को एक क्षण के लिए भी नहीं भूले तथा सदैव लोगों को प्रेरणा देते रहे। चक्रवर्ती मघवा की भावना में एक बार उत्कर्ष आया और अपने उत्तराधिकारी को राज्य सौंपकर भगवान् के उत्तरवर्ती आचार्य के पास दीक्षित होकर साधना की और मोक्ष को प्राप्त किया। कई ग्रन्थों में उनके देवलोक में महर्धिक देव बनने का उल्लेख मिलता है।

चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार भी उनके शासनकाल में हुए थे। हस्तिनापुर के राजा अश्वसेन उनके पिता थे। माता का नाम महारानी सहदेवी थी। बचपन में ही वे विभिन्न कलाओं में निपुण थे। फिर भी उपाध्याय की साक्षी से बहत्तर लौकिक कलाओं का ज्ञान किया।

एक बार राजा के यहां एक अश्व व्यापारी प्रशिक्षित घोड़े लेकर आया। युवराज सनत्कुमार एक अश्व पर बैठकर अश्व-परीक्षा के लिए घूमने गये। ज्योंही घोड़ा शहर से बाहर निकला कि हवा-वेग से दौड़ने लगा और कुछ ही क्षणों में राजकुमार सहित अदृश्य हो गया। राजा अश्वसेन अत्यधिक चिन्तित होकर कुमार की खोज करने लगे। जंगल में अंधड़ के कारण अश्व के पद-चिन्ह भी लुप्त हो गये थे।



सनत्कुमार के मित्र महेन्द्रसिंह ने राजा अश्वसेन को ज्यों-त्यों समझाकर वापिस भेजा तथा स्वयं कुमार को खोज निकालने की प्रतिज्ञा करके आगे बढ़ा। कई प्रदेशों में घूमता हुआ वह काफी आगे तक निकल गया, पर कुंवर का कोई पता नहीं लग सका। फिरते-फिरते एक वर्ष बीत गया। एक बार महेन्द्रसिंह अपने मित्र को खोजता हुआ एक घने जंगल में जा रहा था। सहसा उसके कानों में हंस, मयूर, सारस आदि पक्षियों की मधुर आवाजें आने लगीं। महेन्द्रसिंह उधर ही चल पड़ा।

कुछ दूर चलने पर उसे एक सुन्दर उपवन नजर आया। उपवन के लता-कुंज में उसे नवोद्गा रमणियों से घिरा हुआ एक युवक नजर आया। निकट पहुंचते ही दोनों ने एक दूसरे को पहचाना। दोनों आलिंगनबद्ध होकर परस्पर मिले। महेन्द्रसिंह के पूछने पर सनत्कुमार ने कहा- 'मेरे लुप्त होने की गाथा मुझसे नहीं, इस विद्याधर कन्या वकुलमती से सुनो।'

परम सुन्दरी वकुलमती ने सारा वृत्तान्त सुनाया। राक्षस को पराजित करने की घटना से महेन्द्रसिंह अत्यधिक प्रसन्न हुआ। अपने बाल सखा को माता-पिता की याद दिलाई और चलने का आग्रह किया। सनत्कुमार विद्याधर कन्याओं को लेकर अपने मित्र महेन्द्र के साथ अपनी नगरी में आया। राजा अश्वसेन ने सपरिवार सम्मुख आकर पुत्र की अगवानी की। उसके महान् कार्यों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। राजा ने सहर्ष उसका राज्याभिषेक कर दिया। राजा बनने के कुछ समय पश्चात् सनत्कुमार की आयुधशाला में चक्ररत्न पैदा हुआ। समस्त देश विजित कर सनत्कुमार एक सार्वभौम चक्रवर्ती बन गया।

प्रौढ़ावस्था में भी सनत्कुमार के शारीरिक सौन्दर्य में कोई परिवर्तन नहीं आया। एक बार शक्रेन्द्र महाराज ने उनके सौन्दर्य की प्रशंसा की। दो देवता उनका रूप देखने के लिए मृत्यु-लोक में आये। वृद्ध पुरुष का रूप बनाकर वे राजमहल में पहुंचे। आज्ञा पाकर अन्दर गये। चक्रवर्ती स्नान से पूर्व मालिश करवा रहे थे। देवगण उनको देखकर विस्मित हो उठे। चक्रवर्ती सनत्कुमार ने कहा- 'अभी क्या देखा है, सौन्दर्य ही देखना है तो थोड़ी ही देर में राज्य-सभा में उपस्थित होना।' देवों ने कहा- 'जैसी आज्ञा। देव राज्य सभा में पहुंचे। सनत्कुमार का रूप देखकर उन्होंने अपना सिर धुन लिया। चक्री के पूछने पर कहा- "कीड़े पड़ गये हैं, महाराज के शरीर में, थूक कर देखिये।" चक्रवर्ती ने थूका। ध्यान से देखा तो सचमुच कीड़े नजर आये। चक्रवर्ती को शरीर की नश्वरता का भान हुआ। तत्काल उनका हृदय शारीरिक सौन्दर्य से विरक्त हो गया।

सनत्कुमार ने अपने उत्तराधिकारी को राज्य सौंपा तथा भगवान् धर्मनाथ के शासन में दीक्षित होकर उत्कृष्ट तपस्या करने लगे। कालान्तर में वे विविध लब्धियों के धारक बन गये। एक बार स्वर्ग में राजर्षि की पुनः प्रशंसा हुई। तभी उनकी वैदेह भावना की परीक्षा करने के लिए एक देवता वैद्य का रूप बनाकर आया। लोग वैद्य को मुनि के पास लाये। वैद्य रूप में देव ने मुनि को देखकर बोला- 'मेरी दवाई लो, रोग मिट जाएगा।' राजर्षि ने पूछा- "कौनसा रोग मिटते हो ? द्रव्य या भाव ? द्रव्य रोग मिटाने की क्षमता तो मेरे पास भी है, भाव रोग मिटा सको तो बोलो ?" यों कहते हुए राजर्षि ने कुष्ठग्रस्त स्थान पर अपना थूक लगाया, कुछ ही क्षणों में रोग शान्त हो गया, वहां चमड़ी का रंग ही बदल गया।

विस्मित देव ने मुनि के चरणों में सिर झुकाया तथा सारा किस्सा सुनाकर स्वर्ग में वापस प्रस्थान कर गया। सनत्कुमार ने अन्त में मुक्ति का वरण किया। कई आचार्य उनका स्वर्ग गमन भी मानते हैं। ये सब नर-रत्न महापुरुष भगवान् धर्मनाथ के शासन-काल में हुए। उनके कारण धार्मिक लोगों को भी अत्यधिक अनुकूलता बनी रही।

निर्वाण

गंधहस्ति की भांति अप्रतिहत विचरते हुए भगवान् सम्मोद शिखर पर पधारे। अपना निर्वाण सन्निकट देखकर उन्होंने आठ सौ मुनियों के साथ अनशन ग्रहण किया तथा एक मास के अनशन में सिद्धत्व को प्राप्त किया।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	४३
० केवलज्ञानी	—	४५००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	४५००
० अवधिज्ञानी	—	३६००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	७०००
० चतुर्दश पूर्वी	—	१००
० चर्चावादी	—	२८००
० साधु	—	६४,०००
० साध्वी	—	६२,४००
० श्रावक	—	२,०४,०००
० श्राविका	—	४,१३,०००

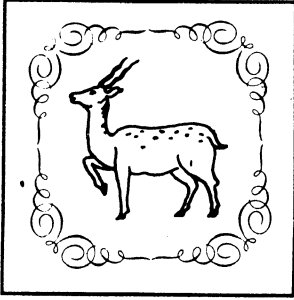
एक झलक—

० माता	—	सुव्रता
० पिता	—	भानु
० नगरी	—	रत्नपुर
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	वज्र
० वर्ण	—	सुवर्ण
० शरीर की ऊंचाई	—	४५ धनुष्य
० यक्ष	—	किन्नर
० यक्षिणी	—	कंदर्पा

० कुमार काल	—	२.५ लाख वर्ष
० राज्य काल	—	५ लाख वर्ष
० छद्मस्थ काल	—	२ वर्ष
० कुल दीक्षा पर्याय	—	२.५ लाख वर्ष
० आयुष्य	—	१० लाख वर्ष

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	—	बैसाख शुक्ला ७	वैजयन्त पुष्य
० जन्म	—	माघ शुक्ला ३	रत्नपुर पुष्य
० दीक्षा	—	माघ शुक्ला १३	रत्नपुर पुष्य
० केवलज्ञान	—	पोष शुक्ला १५	रत्नपुर पुष्य
० निर्वाण	—	ज्येष्ठ शुक्ला ५	सम्मेद शिखर पुष्य



(१६)

भगवान् श्री शांतिनाथ

सोलहवें तीर्थंकर भगवान् श्री शांतिनाथ के पूर्व भवों का वर्णन मिलता है—

पहला —	राजा श्रीषेण	रत्नपुर (जंबू द्वीप-भरत क्षेत्र)
दूसरा —	यौगलिक	उत्तर कुरु (जंबू द्वीप)
तीसरा —	देव	सौधर्म प्रथम देवलोक
चौथा —	राजा अमिततेज	रथनुपुर (वैतादय गिरि-उत्तर श्रेणी)
पांचवां —	देव	प्राणत (दसवां) देवलोक
छठा —	बलदेव अपराजित	शुभा (जंबू द्वीप-महाविदेह)
सातवां —	इन्द्र	अच्युत (बारहवां) देवलोक
आठवां —	वज्रायुध	रत्नसंचया (जंबू द्वीप-महाविदेह)
नौवां —	अहमिन्द्र	तीसरा ग्रैवेयक

दसवां तथा ग्यारहवां भव

जंबू द्वीप के पूर्व महाविदेह की पुष्कलावती विजय में पुंडरीकिणी नगरी थी। वहां धनरथ राजा राज्य करते थे। उनके दो रानियां थी प्रियमति व मनोरमा। शांति प्रभु के जीव ने तीसरे ग्रैवेयक का आयुष्य पूरा कर प्रियमति की कुक्षि से जन्म लिया। नाम रखा गया मेघरथ। मनोरमा से उत्पन्न पुत्र का नाम दृढ़रथ रखा गया।

सुमंदिरपुर के महाराज निहतशत्रु के तीन पुत्रियां थी। उनमें प्रियमित्रा एवं मनोरमा का विवाह मेघरथ व छोटी राजकुमारी सुमति का विवाह दृढ़रथ के साथ सम्पन्न हुआ। राजकुमार मेघरथ की रानी प्रियमित्रा ने नंदिषेण पुत्र को जन्म दिया और मनोरमा ने मेघसेन पुत्र को। दृढ़रथ की पत्नी सुमति के पुत्र का नाम रथसेन रखा गया।

महाराज धनरथ मेघरथ को राजा व दृढ़रथ को युवराज घोषित कर दीक्षित हो गये। बाद में चार घाती कर्मों को क्षय कर केवली व तीर्थ स्थापना कर तीर्थंकर बने। मेघरथ राजा न्याय व नीति से राज्य का संचालन करने लगे। उनके राज्य में प्रजा सुखी थी। महाराज स्वयं धार्मिक थे इसलिए ब्रज में भी धार्मिक वातावरण

फैला हुआ था। देवों ने उनकी कई तरह से परीक्षाएं ली, पर वे कभी नहीं ड़िगे।

एक बार ईशानेन्द्र ने देवसभा में महाराज मेघरथ की दृढ़ निष्ठा व आचरण की प्रशंसा की। उन्होंने कहा— मेघरथ का ध्यान इतना निश्चल और दृढ़ होता है कि उन्हें विचलित करने में कोई भी देवी देवता समर्थ नहीं है।

कुछ सुरांगनाओं को यह बात अटपटी लगी। उन्होंने मेघरथ को चलित करने की मन में ठानी। मेघरथ उस समय पौषधशाला में पौषध कर रहे थे। वहां आकर देवियों ने वसंत ऋतु की विकुर्वणा की। विस्तृत भोग सामग्री एवं मादक वातावरण निर्मित कर उत्तेजक नृत्य, गहरे हाव-भाव और तीखे कटाक्ष शुरू किये तथा मेघरथ



से रति क्रीड़ा की प्रार्थना की। मेघरथ ने इतना सब होते हुए भी उन सुरबालाओं की तरफ देखा तक भी नहीं। वे अपनी उपासना में लीन बने रहे। सूर्योदय हो गया। इतने उद्यम के बाद भी उनको सफलता नहीं मिली, तो वे हार कर अपने मूल रूप में आयी, अपना परिचय दिया और अविचल रहने के लिए मेघरथ को बधाई दी।

अपने पिता तीर्थकर धनरथ का पुंडरीकिणी नगरी में समवसरण हुआ। मेघरथ ने उनका प्रवचन सुना और उनमें वैराग्य जग गया। उन्होंने अपने पुत्र मेघसेन

को राज्य भार सौंपा और युवराज दृढ़रथ के पुत्र रथसेन को युवराज पद पर अधिष्ठित किया।

महाराज मेघरथ ने अपने लघु भ्राता दृढ़रथ, सात सौ पुत्रों तथा चार हजार राजाओं के साथ तीर्थंकर धनरथ के समीप दीक्षा स्वीकार की। एक लाख पूर्व तक विशुद्ध संयम का पालन किया और तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अंत में अनशन पूर्वक समाधि मरण प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देव बने। दृढ़रथ मुनि भी विशुद्ध संयम का पालन कर सर्वार्थसिद्ध में तेतीस सागरोपम की आयु वाले देव बने।

जन्म

तेतीस सागरोपम का सर्वोत्कृष्ट देवायु भोगकर वे इसी भरत क्षेत्र की हस्तिनापुर नगरी के नरेश विश्वसेन के राजमहल में महारानी अचिरा देवी की कुक्षि में अवतरित हुए। महारानी को आए चौदह महास्वप्नों से सबको ज्ञात हो गया कि जगत्-त्राण महापुरुष प्रकट होने वाले हैं।

गर्भकाल पूरा होने पर ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी की मध्य रात्रि में भगवान् का जन्म हुआ। उस समय चौदह रज्ज्वात्मक लोक में अपूर्व शांति फैल गई। प्रभु के जन्म के समय दिशाएं पुलकित व वातावरण में अपूर्व उल्लास था। इन्द्रों ने उत्सव किया। राजा विश्वसेन ने अत्यधिक प्रमुदित मन से पुत्र का जन्मोत्सव मनाया।

नामकरण के दिन राजा विश्वसेन ने कहा— 'हमारे राज्य में कुछ मास पूर्व भयंकर महामारी का प्रकोप था। सब लोग चिन्तित थे। महारानी अचिरा देवी भी रोग से आक्रांत थी। बालक के गर्भ में आते ही रानी का रोग शांत हो गया, धीरे-धीरे सारे देश से महामारी भी समाप्त हो गयी, अतः बालक का नाम शान्तिकुमार रखा जाए।' सबने उसी नाम से नवजात शिशु को पुकारा।

विवाह और राज्य

संचित व निकाचित कर्मों को भोगना ही पड़ता है। उन्हें भोगे बिना अध्यात्म का पथ प्रशस्त नहीं होता। भले ही पुण्य की प्रकृतियां ही क्यों न हों, कर्मों को भोगना आवश्यक है।

शान्तिकुमार तीर्थंकर बनेंगे, किन्तु इन्हें और भी कुछ बनना था। पुण्य प्रकृतियों को भोगना था। शैशव काल समाप्त होते ही राजा विश्वसेन ने उनकी यशोमति आदि कई राजकन्याओं के संग शादी की। दायित्व के योग्य समझकर समयान्तर से राजा ने राजकुमार का राज्याभिषेक किया और स्वयं ने ाने व्रत अंगीकार कर लिया।

सर्वार्थसिद्ध से च्यवकर दृढ़रथ का जीव महाराज शांति की पटरानी यशोमति के गर्भ में आया। उसी समय उसने स्वप्न में सूर्य के समान तेजस्वी चक्र को आकाश

से उतर कर मुंह में प्रवेश करते हुए देखा। रानी सहसा उठी, बड़ी रोमांचित हुई। उसने अपने पति महाराज शांति को जगाकर अपने स्वप्न के बारे में बताया। महाराज शांति ने कहा— 'देवी! मेरे पूर्व भव का भाई दृढरथ तुम्हारे गर्भ में आया है।' बालक का जन्म हुआ, नाम दिया गया चक्रायुध। यौवन वय में चक्रायुध का अनेक राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ।

कालांतर में शांतिनाथ की आयुधशाला में चक्र रत्न पैदा हुआ। चक्र की सहायता से आठ सौ वर्षों में छह खंडों को जीत कर शांति चक्रवर्ती सम्राट् बने।

दीक्षा

भोगावली कर्मों का अन्त निकट समझ कर उन्होंने अपने राज्य की सुव्यवस्था करके वर्षादान दिया। निर्णीत तिथि ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन सहस्राम्र उद्यान में एक हजार दीक्षार्थी पुरुषों के साथ उन्होंने दीक्षा स्वीकार की। भगवान् के उस दिन बेले का तप था। दूसरे दिन मन्दिरपुर नगर के राजा सुमित्र के राजमहल में परमान्न से उन्होंने बेले का पारणा किया। देवों ने उत्सव किया व दान का महत्त्व सबको बतलाया।

भगवान् एक वर्ष तक छद्मस्थ साधना करते रहे। अभिग्रह युक्त तप एवं आसन युक्त ध्यान से विशेष कर्म निर्जरा करते हुए पुनः एक वर्ष बाद उसी सहस्राम्र वन में पधारे। वहीं पर शुक्ल ध्यान में लीन होकर उन्होंने क्षपक श्रेणी प्राप्त की, घातिक कर्मों को क्षीण किया और सर्वज्ञता प्राप्त की।

देवों ने प्रभु का केवल-महोत्सव किया। समवसरण की रचना की। देव तथा मनुष्यों की अपार भीड़ में प्रभु ने प्रथम प्रवचन दिया। प्रवचन से प्रभावित होकर अनेक व्यक्तियों ने आगार व अणगार धर्म को स्वीकार किया। भगवान् के प्रथम पुत्र महाराज चक्रायुध ने अपने पुत्र कुलचंद्र को राज्य भार सौंप कर भगवान् के पास दीक्षा ली और प्रथम गणधर बने।

निर्वाण

जीवन के अन्त समय में आयुष्य को क्षीण हुआ देखकर प्रभु ने नौ सौ मुनियों के साथ अन्तिम अनशन किया तथा एक मास के अनशन में सम्मैद शिखर पर भव विपाकी कर्मों को क्षय कर सिद्धत्व को प्राप्त किया। निर्वाणोत्सव पर अनगिनत मनुष्यों के अलावा चौसठ इंद्र व देवगण उत्साह से सम्मिलित हुए।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	३६
० केवलज्ञानी	—	४३००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	४०००
० अवधिज्ञानी	—	३०००

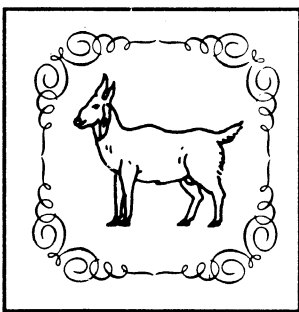
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	६०००
० चतुर्दश पूर्वी	—	८००
० चर्चावादी	—	२४००
० साधु	—	६२,०००
० साध्वी	—	६१,६००
० श्रावक	—	२,९०,०००
० श्राविका	—	३,९३,०००

एक झलक—

० माता	—	अचिरा
० पिता	—	विश्वसेन
० नगरी	—	हस्तिनापुर
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	मृग
० वर्ण	—	सुवर्ण
० शरीर की ऊंचाई	—	४० धनुष्य
० यक्ष	—	गरुड
० यक्षिणी	—	निर्वाणी
० कुमार काल	—	२५ हजार वर्ष
० राज्य काल	—	५० हजार वर्ष
० छद्मस्थ काल	—	१ वर्ष
० कुल दीक्षा पर्याय	—	२५ हजार वर्ष
० आयुष्य	—	१ लाख वर्ष

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	—	भाद्रपद कृष्णा ६	सर्वार्थसिद्ध
० जन्म	—	ज्येष्ठ कृष्णा १३	हस्तिनापुर
० दीक्षा	—	ज्येष्ठ कृष्णा १४	हस्तिनापुर
० केवलज्ञान	—	पोष शुक्ला ९	हस्तिनापुर
० निर्वाण	—	ज्येष्ठ कृष्णा १३	सम्मद शिखर
			भरणी
			भरणी
			भरणी
			भरणी



(१७)

भगवान् श्री कुंथुनाथ

तीर्थंकर गोत्र का बंध

जंबू द्वीप के पूर्व महाविदेह में आवर्त देश की खड़गी नगरी में प्रबल प्रतापी सिंहावह राजा थे। विशाल भोग सामग्री के रहते हुए भी अपनी प्यारी प्रजा की सुख-सुविधा को जुटाने में वे सदैव संलग्न रहते थे। राजा को सन्तों का सम्पर्क समय-समय पर मिलता रहता था। सन्तों की अध्यात्म-वाणी से राजा का झुकाव भी अध्यात्म की ओर था। राजा कई बार सोचते थे कि संयम लेकर साधना करूं, किन्तु राज्य संचालन के दायित्व में उलझ कर वे फिर भूल जाते थे। आखिर पुत्र के योग्य होने पर राजा सिंहावह ने अपनी कल्पना को साकार बना ली। राज्य भार से मुक्त होकर उन्होंने संवराचार्य के पास श्रमणत्व स्वीकार कर लिया।

विविध अनुष्ठानों से राजर्षि ने विशेष कर्म-निर्जरा की और विशिष्ट पुण्य-प्रकृतियों का बंध किया। ध्यान के द्वारा उन्होंने आत्मा को सर्वथा पवित्र बना लिया। उनके तीर्थंकर गोत्र और चक्री-पद दोनों का अनुबन्ध हो गया। अन्त में अनशनपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर वे सर्वार्थसिद्ध महाविमान में सर्वोत्कृष्ट स्थिति वाले देव बने।

जन्म

देवलोक के सुख भोगकर राजा का जीव इसी भरत क्षेत्र के हस्तिनापुर नगर में राजा सूरसेन के राजमहल में महारानी श्रीदेवी की पवित्र कुक्षि में आकर अवतरित हुआ। महारानी ने अर्ध सुषुप्तावस्था में चौदह महास्वप्न देखे। कोई महापुरुष महारानी की कुक्षि में आया है, यह सबको ज्ञात हो गया। सर्वत्र प्रसन्नता छा गई, सब जन्म की प्रतीक्षा करने लगे।

गर्भकाल पूरा होने पर वैशाख कृष्ण चतुर्दशी की मध्यरात्रि में बालक का प्रसव हुआ। देवों ने उत्सव किया। भगवान् के नवजात शरीर को मेरु-पर्वत पर पण्डुक वन में ले गये। वहां विविध स्थानों के पवित्र पानी से उनका अभिषेक किया। अपने उल्लास को प्रकट करने के बाद पुनः शिशु को यथास्थान अवस्थित कर देवगण अपने-अपने स्थान चले गये।

राजा सूरसेन ने बालक का जन्मोत्सव विशाल स्तर पर मनाया। पुत्र-जन्म की खुशी का लाभ सबको मिले, इस दृष्टि से राजा ने बन्दीगृहों के बन्दियों को मुक्त कर दिया। याचकों को मुक्त हस्त से दान दिया। उत्सवकाल में आयात-निर्यात की पाबन्दी व कर समाप्त कर दिये। सर्वत्र एक ही चर्चा थी— पुत्र क्या जन्मा, निहाल कर दिया!

नामकरण के दिन पारिवारिक जनों के बीच पुत्र को लेकर महारानी स्वयं आई। कुन्थु-रत्न की भांति पुत्र के तेजस्वी शरीर को सभी ने देखा, आशीर्वाद दिया। नाम के बारे में राजा सूरसेन ने कहा— 'यह बालक जब गर्भ में था तब महारानी ने स्वप्न में कुन्थु नामक रत्नों की राशि देखी थी, अतः बालक का नाम कुन्थु कुमार रखा जाए।' सभी ने बालक को इसी नाम से पुकारा।



विवाह और राज्य

कुंथुकुमार ने जब तारुण्य को प्राप्त किया तब राजा सूरसेन ने सुलक्षणवती अनेक राजकन्याओं के साथ उनका विवाह किया तथा आग्रहपूर्वक उनका राज्याभिषेक कर दिया। राजा स्वयं निवृत्त होकर मुनि बन गये।

कुंथुनाथ अपने राज्य को व्यवस्थित चला रहे थे। एक बार आयुधशाला के संरक्षक ने आकर सूचना दी— आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है। कुंथुनाथ

परम्परागत ढंग से देश साधने के लिए चल पड़े। बिना किसी विग्रह के प्रायः हर स्थान पर उनका स्वागत हुआ। पूरे भूमंडल पर उनका एक छत्र साम्राज्य हो गया। छोटे-बड़े बत्तीस हजार देशों पर उनका शासन था। राज्य में कहीं भी गड़बड़ी नहीं थी। सब कुछ व्यवस्थित चल रहा था।

दीक्षा

चक्री पद के भोगावली कर्म पूरे होने पर उन्होंने अपने उत्तराधिकारी को राज्य सौंपा। शेष सब राजाओं को अधीनता से मुक्त कर उनसे केवल मैत्री सम्बन्ध रखा। कुछ समय पश्चात् वर्षीदान के बाद वैशाख कृष्णा पंचमी को एक हजार विरक्त व्यक्तियों के साथ संयम व्रत स्वीकार किया। दीक्षा के दिन उनके बेले का तप था। उनके अभिनिष्क्रमण की चर्चा सारे भूमण्डल में थी। लोग चकित थे उनके त्याग पर। दूसरे दिन उन्होंने निकटवर्ती नगर चक्रपुर के राजा व्याघ्रसिंह के यहां प्रासुक आहार से पारणा किया। देवों ने पंच द्रव्य प्रकट किये। संयति दान का महत्त्व लोगों को समझाया।

उनकी छद्मस्थ साधना सोलह वर्ष तक चली। जिनकल्पी जैसी अवस्था में वे इतने वर्षों तक ग्रामानुग्राम विचरते रहे। विचरते-विचरते पुनः दीक्षा-भूमि में पधारे। उन्होंने वहां भीलक नामक वृक्ष के नीचे शुक्ल ध्यान के दूसरे चरण में घातिक कर्मों को क्षय कर सर्वज्ञता प्राप्त की।

देव निर्मित समवसरण में प्रभु ने प्रथम देशना दी। उस समय अनेक व्यक्तियों ने आगार व अणगार धर्म की उपासना स्वीकार की। प्रभु भाव से तीर्थकर हो गए।

निर्वाण

लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को मोक्ष का सही मार्ग दिखाते हुए अन्त में वे सम्मेद शिखर पर चढ़े तथा एक हजार चरम शरीरी मुनियों के साथ आजीवन अनशन ग्रहण किया। वैशाख कृष्णा एकम के दिन समस्त कर्मों को क्षय करके उन्होंने वहां निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् कुंथुनाथ प्रारम्भ में चक्रवर्ती थे, फिर तीर्थकर बने। धार्मिक व लौकिक दोनों प्रकार के लोगों की उनके प्रति गहरी आस्था थी। उनके शरीर की निहरण क्रिया में देव, दानव तथा मनुष्यों की भारी भीड़ जमा हो गई थी। भगवान् के निर्वाण से सभी गद्गद व भारी हृदय के हो रहे थे। निहरण क्रिया के बाद सभी विरक्त भावना से अपने-अपने स्थानों को गए।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	३५
० केवलज्ञानी	—	३२००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	३३४०

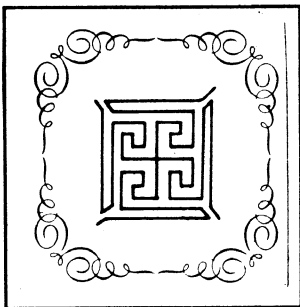
० अवधिज्ञानी	—	२५००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	५१००
० चतुर्दश पूर्वी	—	६७०
० चर्चावादी	—	२०००
० साधु	—	६०,०००
० साध्वी	—	६०,६००
० श्रावक	—	१,८०,०००
० श्राविका	—	३,८१,०००

एक झलक—

० माता	—	श्री देवी
० पिता	—	सूरसेन
० नगरी	—	हस्तिनापुर
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	छाग (बकरा)
० वर्ण	—	सुवर्ण
० शरीर की ऊंचाई	—	३५ धनुष्य
० यक्ष	—	गंधर्व
० यक्षिणी	—	बला
० कुमार काल	—	२३,७५० वर्ष
० राज्य काल	—	४७,५०० वर्ष
० छद्मस्थ काल	—	१६ वर्ष
० कुल दीक्षा पर्याय	—	२३,७५० वर्ष
० आयुष्य	—	९५ हजार वर्ष

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	— सावन कृष्णा ९	सर्वार्थसिद्ध	कृत्तिका
० जन्म	— बैसाख कृष्णा १४	हस्तिनापुर	कृत्तिका
० दीक्षा	— बैसाख कृष्णा ५	हस्तिनापुर	कृत्तिका
० केवलज्ञान	— चैत्र शुक्ला ३	हस्तिनापुर	कृत्तिका
० निर्वाण	— बैसाख कृष्णा १	सम्मद शिखर	कृत्तिका



(१८)

भगवान् श्री अरनाथ

तीर्थकर गोत्र का बंध

भगवान् श्री अरनाथ का जीव जंबू द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र की सुसीमा नगरी के नरेश धनपति के रूप में था। उस भव में उन्होंने विशेष धर्म की साधना की। राज्य भी किया, किन्तु सहज बन कर। लोगों को इतना नीतिनिष्ठ बनाया कि कभी दण्ड देने की अपेक्षा भी नहीं हुई।

अन्त में राजा धनपति ने विरक्त होकर संवरमुनि के पास संयम ग्रहण किया। अभिग्रह, ध्यान तथा स्वाध्याय की विशेष साधना करते हुए आर्य जनपद में निरपेक्ष भाव से विचरते रहे। एक बार उनके चतुर्मासी तप का पारणा जिनदास के यहां हुआ। देवों ने 'अहोदान' की ध्वनि से दानदाता व मुनि की भारी महिमा फैलाई। मुनि फिर भी निरपेक्ष रहे, अहंकार लेश मात्र भी मुनि को नहीं छू पाया। इस प्रकार उच्चतम साधना से महान् कर्म-निर्जरा कर तीर्थकर गोत्र का बंध किया। अन्त में आराधक पद पाकर वे ग्रैवेयक में महर्धिक देव बने।

जन्म

देवत्व का पूर्ण आयुष्य भोग कर भगवान् हस्तिनापुर नगर के राजा सुदर्शन के राजप्रासाद में आये। वे रानी महादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुए। रानी महादेवी ने चौदह स्वप्न देखे। प्रातः नगर के घर-घर में महारानी के स्वप्नों तथा उनके फलों की चर्चा होने लगी।

गर्भकाल पूरा होने पर मिगसर शुक्ला दशमी की मध्य रात्रि में परम आनन्दमय वेला में प्रसव हुआ। देवेन्द्रों के उत्सव के बाद महाराज सुदर्शन ने समुल्लसित भाव से जन्मोत्सव किया।

नाम के दिन विराट् आयोजन में महाराज सुदर्शन ने बताया— 'यह बालक जब गर्भ में था, तब इसकी माता ने रत्नमय अर चक्र (अर) देखा था, अतः बालक का नाम अरकुमार रखा जाये।'

विवाह और राज्य

बाल लीला करते हुए बालक अरकुमार ने जब तारुण्य में प्रवेश किया तो राजा सुदर्शन ने सर्वांग सुन्दर अनेक राजकन्याओं से उनकी शादी की। त्रिज्ञानधारी भगवान् अरनाथ ने अभी भोगावली कर्मों को शेष मान कर विवाह से इन्कार नहीं किया।

पुत्र को योग्य समझ कर पिता ने राज्य सौंपा तथा स्वयं ने स्थविर मुनि के पास साधुत्वं ग्रहण किया। अरनाथ कुछ वर्षों तक मांडलिक राजा रहे, फिर चक्र रत्न उत्पन्न होने पर सार्वभौम चक्रवर्ती कहलाये। बत्तीस हजार राजा चक्रवर्ती अरनाथ की सेवा में अपने को कृतार्थ मानते थे।

दीक्षा

लम्बे समय तक चक्रवर्ती पद भोग कर चारित्र मोहनीय का क्षयोपशम होने पर संयम के लिए उद्यत बने। अपने उत्तराधिकारी सुयोग्य पुत्र अरविन्द को राज्य सौंपा और वर्षादान देकर संयम लेने की घोषणा की। उनकी चारित्र ग्रहण करने की बात ने कइयों को आश्चर्यचकित कर दिया और अनेक विरक्त भी हो गये।

मिगसर शुक्ला एकादशी के दिन भगवान् सहस्राम्र वन में पधारे। विशाल जनसमूह व अनगिनत देव गणों के बीच एक हजार राजाओं के साथ उन्होंने संयम ग्रहण किया तथा दूसरे दिन राजपुर नगर में अपराजित राजा के यहां परमात्र से पारणा किया।

प्रभु के छद्मस्थ काल के बारे में कई मत हैं, कहीं-कहीं दीक्षा के बाद तीन वर्ष छद्मस्थ काल के माने हैं और कई जगह मात्र तीन अहोरात्री छद्मस्थ काल की मानी गई हैं। भगवान् की केवल-महिमा देवेन्द्रों ने दूर-दूर तक फैलाई। प्रथम समवसरण में ही बड़ी संख्या में लोग उपस्थित हो गये थे तथा प्रथम प्रवचन में ही तीर्थ स्थापना हो गई। पहले चक्रवर्ती होने के नाते जनपद में उनका अमित प्रभाव था। अतिशययुक्त सर्वज्ञता होने से प्रभु सबकी आस्था के केन्द्र बन गये।

निर्वाण

अघाती कर्मों का अन्त निकट देखकर भगवान् ने एक हजार मुनियों के साथ सम्मोदशिखर पर अनशन किया। शुक्ल ध्यान के चौथे चरण में पहुंच कर उन्होंने योग मात्र का निरोध कर दिया। शैलेशी अवस्था में अवशिष्ट समस्त प्रकृतियों को क्षय करके सिद्धत्व को प्राप्त किया।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	३३
० केवलज्ञानी	—	२८००

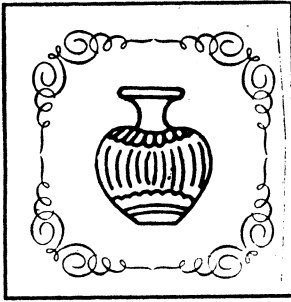
० मनः पर्यवज्ञानी	—	२५५१
० अवधिज्ञानी	—	२६००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	७३००
० चतुर्दश पूर्वी	—	७१०
० चर्चावादी	—	१६००
० साधु	—	५०,०००
० साध्वी	—	६०,०००
० श्रावक	—	१,८४,०००
० श्राविका	—	३,७२,०००

एक झलक—

० माता	—	महादेवी
० पिता	—	सुदर्शन
० नगरी	—	हस्तिनापुर
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	नंदावर्त
० वर्ण	—	सुवर्ण
० शरीर की ऊंचाई	—	३० धनुष्य
० यक्ष	—	यक्षेन्द्र
० यक्षिणी	—	धारिणी
० कुमार काल	—	२१ हजार वर्ष
० राज्य काल	—	४२ हजार वर्ष
० छद्मस्थ काल	—	३ वर्ष
० कुल दीक्षा पर्याय	—	२१ हजार वर्ष
० आयुष्य	—	८४ हजार वर्ष

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	—	फाल्गुन शुक्ला २	नौवां ग्रैवेयक
० जन्म	—	मिगसर शुक्ला १०	हस्तिनापुर
० दीक्षा	—	मिगसर शुक्ला ११	हस्तिनापुर
० केवलज्ञान	—	कार्तिक शुक्ला १२	हस्तिनापुर
० निर्वाण	—	मिगसर शुक्ला १०	सम्मद शिखर
			रेवती



(१९)

भगवान् श्री मल्लिनाथ

तीर्थकर गोत्र का बंध

उन्नीसवें तीर्थकर मल्लिनाथ प्रभु स्वयं में एक आश्चर्य थे। शेष तीर्थकरों ने पुरुष शरीर धारण किया था किन्तु तीर्थकर मल्लिनाथ ने स्त्री शरीर में जन्म लिया। स्त्री शरीर में इतना आत्म-विकास तथा इतना पुरुषार्थ स्वयं में एक आश्चर्य था।

भगवान् मल्लिप्रभु ने अपने पिछले जन्म में इन प्रकृतियों का बंध किया था। जबू द्वीप के पश्चिम महाविदेह क्षेत्र की सलिलावती विजय में वीतशोका नगरी थी। वहां के राजा का नाम बल था। उसकी महारानी धारिणी से एक पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ। नाम रखा गया महाबल। महाबल जब तरुण हुआ तो माता-पिता ने पांच सौ राजकन्याओं के साथ महाबल का विवाह कर दिया। अनेक वर्षों के बाद महाबल की कमलश्री नामक पत्नी से प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम बलभद्र रखा गया।

सम्राट् बल ने भव-प्रपंच से विरक्त होकर महाबल का राज्याभिषेक किया और स्वयं धर्मघोष आचार्य के पास दीक्षित होकर साधनारत बन गये। महाबल राजा बनकर राज्य का व्यवस्थित रूप से संचालन करने लगे। महाबल के छः अभिन्न मित्र थे— १. अचल, २. धरण, ३. पूरण, ४. वसु, ५. वैश्रवण, ६. अभिचंद्र। एक बार वीतशोका नगरी में आचार्य धर्मघोष पधारे। महाबल राजा विरक्त होकर साधु बनने को तैयार हो गये। उनके साथ छहों मित्र भी तैयार हो गये। सातों ने धर्मघोष मुनि के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

दीक्षित होने के बाद सातों मुनियों ने यह निश्चय किया कि तपस्या, अभिग्रह आदि सब साथ-साथ ही करेंगे, जिससे आगे भी हमारा साथ कायम रहे। यह निश्चय करने के बाद सभी साथ-साथ तप आदि करने लगे।

एक बार महाबल मुनि के मन में विचार आया— अभी सातों में मेरा स्थान विशेष है, किन्तु समान तपस्या, अभिग्रह आदि से भविष्य में यह विशेषता नहीं रहेगी।

अहं के आवेश में उन्होंने गलत निर्णय ले लिया कि विशिष्ट बनने के लिए मुझे अपने साथियों से कुछ विशेष तप करना चाहिए। इसी कल्पना में वे पारणे

के दिन जब सहवर्ती मित्र संत उनके लिए पारणा ले आते तब कहते कि तुम पारणा करो, मैंने तो आज आहार का त्याग कर दिया है। इस प्रकार छद्मपूर्वक तप एवं अहं और माया की प्रगाढ़ता से उनके स्त्री गोत्र का बन्ध हो गया। विशेष तपस्या एवं निर्जरा के कारण तीर्थकर गोत्र का भी बंध हुआ। वहां से समाधिमरण पाकर अनुत्तर लोक के वैजयंत विमान में सभी मुनि देव रूप में पैदा हुए।

जन्म

देवायु भोगकर महाबल मुनि का जीव मिथिला नगरी के राजा कुम्भ के राजमहल में महारानी प्रभावती की कुक्षि में अवतरित हुआ। माता को चौदह महास्वप्न आये।

गर्भकाल पूर्ण होने के बाद सबकी आशा के विपरीत एक पुत्री का प्रसव हुआ। उस समय राजघरानों में पुत्र का ही उत्सव होता था, किन्तु देवेन्द्रों ने नवजात बालिका का उत्सव किया। तब राजा कुम्भ भी अपने सहज समुत्पन्न उल्लास को रोक नहीं सके। उन्होंने परम्परा को तोड़कर पुत्री का जन्मोत्सव पुत्र के जन्मोत्सव की भांति मनाया।

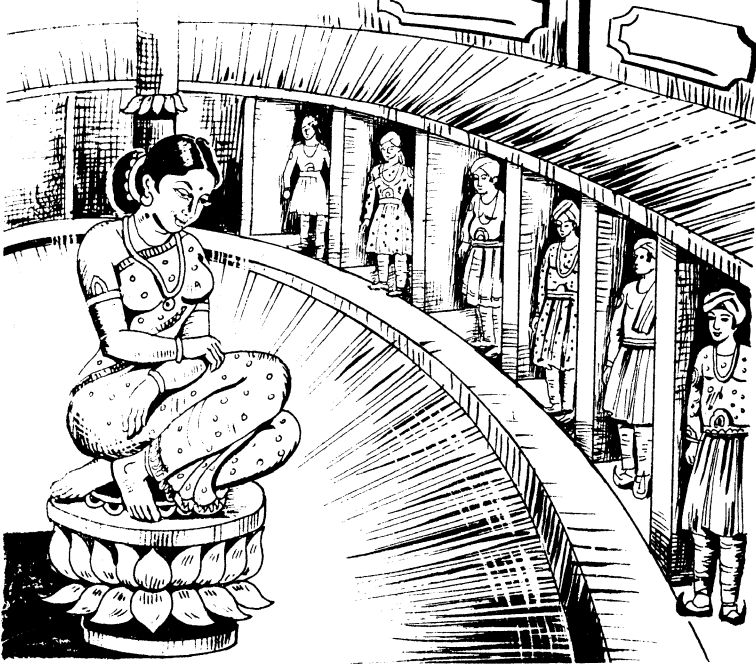
नामकरण महोत्सव भी विशाल रूप में आयोजित हुआ। राजा कुम्भ ने सबको बताया—‘इसके गर्भकाल में रानी को पुष्प-शैय्या पर सोने का दोहद (इच्छा) उत्पन्न हुआ था। जिसे देवों ने पूरा किया था, अतः बालिका का नाम मल्लिकुमारी रखा जाये।’

मित्रों को प्रतिबोध

मल्लिकुमारी के क्रमशः तारुण्य में प्रवेश करते ही उनके सौंदर्य में अदभुत निखार आ गया। उनके रूप की महिमा दूर-दूर तक फैल गई। इधर मल्लिकुमारी ने अवधि ज्ञान से अपने पूर्व भव के छह मित्रों को जब निकटवर्ती जनपदों में राजा बने देखा, तो उनको प्रतिबोध देने के लिए अपने उद्यान में एक मोहनघर का निर्माण करवाया। उस भवन के मध्य भाग में ठीक अपनी जैसी रूप वाली एक स्वर्ण-पुतली स्थापित की। मूर्ति के चारों ओर छह कक्ष पुतली के सम्मुख बनवाये। कक्षों के भीतर के द्वार इस रूप में खुलते थे कि अन्दर खड़े व्यक्तियों को सिर्फ मूर्ति ही दिखाई दे और कुछ भी नजर न आये। वह पुतली भीतर से खोखली थी तथा गले के पास से खुलती थी। प्रतिदिन मल्लिकुमारी अपने भोजन का एक कौर उस पुतली के गले में डाल देती थी।

उधर अलग-अलग सूत्रों से छहों मित्र राजाओं के पास मल्लिकुमारी के रूप की ख्याति पहुंची। अनुरक्तमना छहों राजाओं ने दूत भेजकर कुम्भ राजा से मल्लिकुमारी के लिए याचना की। राजा कुम्भ के मना कर देने पर छहों राजा सेनाएं लेकर मिथिला की ओर चल पड़े।

महाराज कुम्भ छहों राजाओं को ससैन्य मिथिला के समीप आया सुनकर चिन्तित हो उठे। एक साथ छहों से युद्ध करने में वे स्वयं को असमर्थ पा रहे थे। तभी राजकुमारी मल्लि चरण वन्दन के लिए पिता के पास उपस्थित हुई। उसने चिन्तित पिता से निवेदन किया— बेकार युद्ध की क्यों सोच रहे हैं ? मैं इस समस्या को हल कर लूंगी, आप निश्चित रहें।



राजा से आज्ञा पाकर राजकुमारी मल्लि ने छहों राजाओं के पास अलग-अलग दूत भेजे और अशोक-वाटिका में मिलने का प्रस्ताव रखा। सभी राजाओं ने मिलना स्वीकार कर लिया। सब यही जानते थे कि मुझे ही बुलाया गया है। निश्चित समय पर छहों राजाओं ने अलग-अलग द्वारों से अलग-अलग प्रकोष्ठों में प्रवेश किया। प्रवेश करने वाले छह राजाओं के नाम थे—

- | | |
|-----------------------|------------|
| १. साकेतपुरी के राजा | प्रतिबुद्ध |
| २. चम्पा के राजा | चन्द्रछाग |
| ३. कुणाला के राजा | रुक्मी |
| ४. वाराणसी के राजा | शंख |
| ५. हस्तिनापुर के राजा | अदीनशत्रु |

६. कपिलपुर के राजा जितशत्रु

मित्र राजा अशोक वाटिका के मोहनघर में पहुंचे तो वहां सुसज्जित पुतली को मल्लिकुमारी समझकर निहारने लगे। रूप में उन्मत्त होकर वे उसे देख ही रहे थे कि मल्लिकुमारी ने वहां आकर पुतली के ऊपर का ढक्कन उतार दिया। ढक्कन के अलग होते ही भीतर से सड़े हुए अन्न की दुर्गन्ध चारों ओर फैल गई। दुर्गन्ध के फैलते ही राजा लोग नाम-भौं सिकोड़ते हुए इधर-उधर झांकने लगे।

अवसर देखकर राजकुमारी मल्लि ने कहा— ‘राजाओं ! प्रतिदिन एक कौर अन्न डालने से ही पुतली में इतनी सड़ान्ध पैदा हो गई है, तो यह शरीर तो मात्र अन्न का पुतला है। हाड़-मांस व मल-मूत्र के अतिरिक्त इसमें है ही क्या ? फिर इस पर आसक्ति कैसी ? आप लोग आसक्ति छोड़िये और पवित्र मैत्री सम्बन्धों को याद कीजिये। आज से तीसरे जन्म में हम अभिन्न मित्र थे। मेरा नाम महाबल था। आप लोगों के नाम अमुक-अमुक थे। आइए, इस बार प्रबल साधना करके हम सातों शाश्वत स्थान को प्राप्त करें, जहां से हमारा अलगाव कभी हो ही नहीं।’

मल्लिकुमारी के इस प्रेरक उद्बोधन व पिछले जन्म की बातों से राजाओं को जाति स्मरण ज्ञान हो गया। उन्होंने अपने पिछले सम्बन्धों को स्वयं देख लिया। तत्काल सभी विरक्त होकर बोले— ‘भगवती ! क्षमा करें, हमसे अनजाने में गलती हुई है। अब हम विरक्त हैं आज्ञा दीजिये, आपके साथ साधना करके बन्धन-मात्र को क्षय कर डालें।’

दीक्षा

राजकुमारी मल्लि की स्वीकृति पाकर छहों राजा अपनी-अपनी राजधानी में आकर चारित्र लेने की तैयारी में जुट गये। उधर राजकुमारी मल्लि ने भी दीक्षा लेने की घोषणा की। वर्षादान देने के बाद निर्धारित तिथि मिंगसर शुक्ला इग्यारस के दिन तीन सौ स्त्रियों तथा तीन सौ पुरुषों के साथ मल्लि भगवती ने दीक्षा ग्रहण की। कई दीक्षा तिथि पोष शुक्ला ११ मानते हैं। दीक्षा के दिन तेला था। दूसरे दिन मिथिला के राजा विश्वसेन के यहां पारणा किया।

दीक्षा लेते ही वे मनः पर्यव ज्ञानी बन गई। मनः पर्यव ज्ञान होते ही भगवती मल्लि कायोत्सर्ग युक्त ध्यान में तन्मय बनीं तथा उसी दिन के तीसरे प्रहर में क्षपक श्रेणी लेकर उन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त की। इस अवसर्पिणी में सबसे कम छद्मस्थ अवस्था में चारित्र की पर्याय पालने वाली तीर्थकर वे ही थीं। दीक्षा के दिन सर्वज्ञता सिर्फ उनको ही प्राप्त हुई थी।

देवेन्द्रों ने उत्सव के बाद समवसरण की रचना की। भगवती मल्लि ने प्रथम प्रवचन दिया। प्रवचन के अनंतर ही तीर्थ की स्थापना हो गई। अनेक व्यक्तियों ने निकेत व अनिकेत धर्म की साधना स्वीकार की।

निर्वाण

सुदीर्घकाल तक संघ की प्रभावना कर अन्त में पांच सौ आर्यिकाओं तथा पांच सौ भव्यात्मा मुनियों के साथ एक मास के आजीवन अनशन में अवशिष्ट कर्म प्रकृतियों को क्षय कर उन्होंने सिद्धत्व को प्राप्त किया।

दिगम्बर मान्यता में मल्लिनाथ को पुरुष माना गया है, क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार स्त्री को साधुत्व तथा की मोक्ष प्राप्ति नहीं होती।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	२८
० केवलज्ञानी	—	२२००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	१७५०
० अवधिज्ञानी	—	२२००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	२९००
० चतुर्दश पूर्वी	—	६६८
० चर्चावादी	—	१४००
० साधु	—	४०,०००
० साध्वी	—	५५,०००
० श्रावक	—	१,८३,०००
० श्राविका	—	३,७०,०००

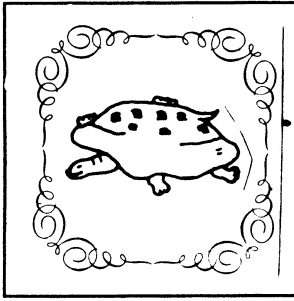
एक झलक—

० माता	—	प्रभावती
० पिता	—	कुंभ
० नगरी	—	मिथिला
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	कुंभ
० वर्ण	—	नील
० शरीर की ऊंचाई	—	२५ धनुष्य
० यक्ष	—	कुबेर
० यक्षिणी	—	धरणप्रिया
० कुमार काल	—	१०० वर्ष
० राज्य काल	—	नहीं
० छद्मस्थ काल	—	१ प्रहर

० कुल दीक्षा पर्याय	—	५४,९०० वर्ष
० आयुष्य	—	५५ हजार वर्ष

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	—	फाल्गुन शुक्ला ४	वैजयन्त
० जन्म	—	मिगसर शुक्ला ११	मिथिला
० दीक्षा	—	मिगसर शुक्ला ११	मिथिला
० केवलज्ञान	—	मिगसर शुक्ला ११	मिथिला
० निर्वाण	—	फाल्गुन शुक्ला १२	सम्मेद शिखर भरणी



(२०)

भगवान् श्री मुनिसुव्रत

तीर्थकर गोत्र का बंध

भगवान् मुनिसुव्रत के जीव ने पश्चिम महाविदेह में भरत विजय की चम्पा नगरी के नरेश सुरश्रेष्ठ के जन्म में उत्कृष्ट कोटि की साधना की थी। प्राप्त सत्ता को तुकरा कर उन्होंने मुनि-व्रत को ग्रहण किया। विभिन्न अनुष्ठानों से आर्हत धर्म की प्रभावना की। महान् कर्म-निर्जरा कर उन्होंने तीर्थकर गोत्र का बंध किया तथा पण्डित मरण पाकर प्राणत स्वर्ग में महर्धिक देव बने।

जन्म

अतुलनीय स्वर्गीय सुखों को भोगकर भव समाप्ति के बाद भरत क्षेत्र की राजगृह नगरी के राजा सुमित्र के राजप्रासाद में वे महारानी प्रभावती की कोख में अवतरित हुए। बालक की महानता स्वप्नों से ज्ञात हो चुकी थी। ऐसे बालक के गर्भ में आने से सभी प्रसन्न थे।

गर्भकाल पूरा होने पर ज्येष्ठ कृष्ण अष्टमी (कई नवमी भी मानते हैं) को मध्यरात्रि में बिना किसी पीड़ा के पुत्र का प्रसव हुआ। छप्पन दिग्कुमारियों ने जन्मोत्सव की व्यवस्था की। चौसठ इंद्र व अनेक देवता इकट्ठे हुए। बाद में राजा सुमित्र ने अपार आल्हाद से पुत्र का जन्म-महोत्सव किया।

नाम के दिन समागत सम्मानित नागरिक व पारिवारिक बुजुर्गों से राजा ने कहा— 'बालक के गर्भकाल में माता का मन व्रत पालन में बड़ा सजग रहता था। कभी किसी व्रत में त्रुटि नहीं आने दी अतः बालक का नाम मुनिसुव्रत रखा जाए।'

बालक मुनिसुव्रत कल्पवृक्ष की भांति निर्विघ्न बढ़ते रहे। बाल्यकाल के बाद जब तारुण्य में प्रवेश किया, तब राजा सुमित्र ने सुयोग्य व समवयस्क राजकन्याओं के साथ कुंवर का पाणिग्रहण करवाया तथा कुछ वर्षों के बाद उन्हें राज्य सौंप कर स्वयं निवृत्त हो गये।

राजा मुनिसुव्रत ने राज्य का संचालन उत्तम रीति से किया। लोगों को मर्यादानिष्ठ बनाकर अनेक समस्याओं को समाप्त कर दिया। राज्यकाल में लोग स्वतः व्यवस्था का पालन करते थे। अव्यवस्था पूर्णतः समाप्त हो गई।

दीक्षा

गृहस्थोपभोग्य कर्मों के क्षय होने से उन्होंने अपने उत्तराधिकारी को राज्य देकर वर्षीदान दिया। फाल्गुन शुक्ला १२ (अन्य मतानुसार फाल्गुन कृष्णा ८) के दिन एक हजार विरक्त भव्यात्माओं के साथ संयम ग्रहण किया। उनके दीक्षा समारोह पर मनुष्यों के साथ देवों की भी अपार भीड़ थी।

साढ़े ग्यारह मास तक उन्होंने छद्मस्थ अवस्था में चारित्र का पालन किया। विचरते-विचरते पुनः राजगृह के उद्यान में पधारे। वहीं पर चम्पक वृक्ष के नीचे उन्होंने ध्यान में सर्वज्ञता प्राप्त की।

देव निर्मित समवसरण में प्रथम प्रवचन किया। तीर्थ स्थापना के साथ बड़ी संख्या में साधु, साध्वी, श्रावक तथा श्राविकाएं हो गईं। समग्र जनपद में धर्म की लहर दौड़ गई।

निर्वाण

निर्वाण वेला को निकट देखकर भगवान् ने एक हजार चरम शरीर व्यक्तियों के साथ एक मास का अन्तिम अनशन किया। सम्मेद-शिखर पर भव विपाकी कर्मों को क्षय करके उन्होंने निर्वाण को प्राप्त किया। चौसठ इंद्रों ने मिलकर भगवान् के शरीर की निहरण क्रिया की।

आठवें बलदेव राम व वासुदेव लक्ष्मण भगवान् मुनि सुव्रत के शासनकाल में हुए। इनका विस्तृत वर्णन पउमचरियं एवं पद्म पुराण में उपलब्ध है। राम का अपर नाम पद्म भी था।

प्रभु का परिवार—

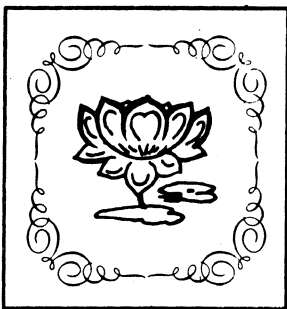
० गणधर	—	१८
० केवलज्ञानी	—	१८००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	१५००
० अवधिज्ञानी	—	१८००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	२०००
० चतुर्दश पूर्वी	—	५००
० चर्चावादी	—	१२००
० साधु	—	३०,०००
० साध्वी	—	५०,०००
० श्रावक	—	१,७२,०००
० श्राविका	—	३,५०,०००

एक झलक—

० माता	—	पद्मावती
० पिता	—	सुमित्र
० नगरी	—	राजगृह
० वंश	—	हरिवंश
० गोत्र	—	गौतम
० चिन्ह	—	कूर्म (कछुआ)
० वर्ण	—	श्याम
० शरीर की ऊंचाई	—	२० धनुष्य
० यक्ष	—	वरुण
० यक्षिणी	—	नरदत्ता
० कुमार काल	—	७५०० वर्ष
० राज्य काल	—	१५ हजार वर्ष
० छद्मस्थ काल	—	११.५ मास
० कुल दीक्षा पर्याय	—	७५०० वर्ष
० आयुष्य	—	३० हजार वर्ष

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	— सावन शुक्ला १५	प्राणत	श्रवण
० जन्म	— ज्येष्ठ कृष्णा ८	राजगृह	श्रवण
० दीक्षा	— फाल्गुन शुक्ला १२	राजगृह	श्रवण
० केवलज्ञान	— फाल्गुन कृष्णा १२	राजगृह	श्रवण
० निर्वाण	— ज्येष्ठ कृष्णा ९	सम्मोद शिखर	श्रवण



(२१)

भगवान् श्री नमिनाथ

तीर्थकर गोत्र का बंध

जंबू द्वीप के पश्चिम महाविदेह में भरत विजय की कौशंबी नगरी के राजा सिद्धार्थ ने अपने राज्य की उत्तम व्यवस्था कर रखी थी। पारस्परिक विग्रह समाप्त प्रायः था। राज्य में किसी भी वस्तु का अभाव नहीं था। हर व्यक्ति अपने-अपने स्थान पर संतुष्ट थे। एकदा संसार की नश्वरता पर चिंतन करते-करते वे विरक्त हो साधुत्व-ग्रहण के लिए उद्यत बने। उसी दिन उन्होंने सुना कि नगर के उद्यान में नंदन मुनि पधारे हैं। राजा ने मुनि के दर्शन किए। राज्य-संचालन की व्यवस्था करके स्वयं मुनि-चरणों में दीक्षित हो गए।

सिद्धार्थ मुनि विविध तपस्या व पारणे में अभिग्रह करते हुए रुग्ण साधुओं की वैयावृत्त्य विशेष रूप से किया करते थे। वे धर्मसंघ के आलंबन बन गये थे। संचित कर्मों की महान् निर्जरा करके उन्होंने तीर्थकर गोत्र का बंध किया। अन्त में अनशनपूर्वक प्राण छोड़ कर अनुत्तर स्वर्ग लोक के अपराजित महाविमान में महर्षिक देव बने।

जन्म

देवलोक का आयुष्य भोग कर मिथिला नगरी के राजा विजय के राजप्रासाद में आये, महारानी वप्रा की उत्तम कुक्षि में अवतरित हुए। महारानी वप्रा ने देवाधिदेव के गर्भागमन के सूचक चौदह महास्वप्न देखे। स्पृणपाठकों से सबको पता लग गया कि गर्भगत बालक त्रिलोक पूज्य है, सबके लिए आनन्दकारी है। समुचित आहार-विहार से गर्भ का पालन होने लगा।

गर्भकाल पूर्ण होने पर सावन कृष्ण अष्टमी की मध्य रात्रि में प्रभु का पावन प्रसव हुआ। प्रभु के जन्म के समय सर्वत्र उल्लास था। देवेन्द्रों ने उत्सव किया। राजा विजय ने अत्यधिक उत्साह से पुत्र का पूरे राज्य में जन्मोत्सव मनाया। राज्य के हर नागरिक सहज उल्लास से उल्लसित था।

नाम के दिन विशाल जनसमूह के बीच राजा विजय ने कहा— 'हमारा जनपद

अभी जितना निष्कण्टक दीख रहा है, आज से नौ महीने पहले यह इतना ही विपत्तिग्रस्त था। आप सब जानते हैं, जिन शत्रुओं से हमारा नगर घिर गया था, वे असाधारण थे। हमारा सैन्य बल उनके मुकाबले कुछ नहीं था। मैं चिंतित था कि जनपद की रक्षा कैसे हो पायेगी? मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था। उस समय महारानी वप्रा ने महल के ऊपर जाकर सौम्य दृष्टि से शत्रु सेना की ओर देखा तो देखने के अनंतर ही शत्रु नरेश का मन सहसा परिवर्तित हो गया। उन्होंने अपनी बढ़ती हुई विजय-वाहिनी को वहीं रोका और युद्ध-बंद की घोषणा कर दी। मैत्री-संधि भी विजेता की भांति नहीं, जैसा हम चाहते थे उसी रूप में की। आज वे मिथिला के परम मित्र हैं और मुझे तो अपने चाचा की भांति सम्मान देते हैं। यह सारा प्रभाव इस गर्भगत बालक का ही था, अन्यथा हमारी तो हार निश्चित थी। इसके प्रभाव से वे भी मैत्री भावना वाले बन गये, अतः बालक का नाम नमिकुमार रखा जाए।' सभी लोगों ने बालक को उसी नाम से पुकारा।

विवाह और राज्य

बाल सखाओं के साथ कल्पवृक्ष की भांति बढ़ते हुए भगवान् नमिकुमार ने जब तारुण्य में प्रवेश किया तो राजा विजय ने आर्य जनपद की अनेक समवयस्क राजकन्याओं के साथ उनका पाणिग्रहण करवा दिया। पूर्वसंचित अनिवार्य भोग्यशील कर्मों को भोगते हुए वे भौतिक सुखों का उपभोग करने लगे।

समयान्तर से आग्रहयुक्त राज्य सौंपकर राजा विजय निवृत्त हो स्वयं दीक्षित हो गए। नमि ने राजा बनकर राजकीय व्यवस्था को आदर्श बना दिया। उनके शासनकाल में हर व्यक्ति स्वयं की सुविधा से पहले राज्य की सुविधा व व्यवस्था का पूरा ध्यान रखता था।

दीक्षा

गृहस्थ सम्बन्धी भोगावली की परिसमाप्ति पर एकदा नमि राजा घूमने के लिए उपवन में गए। वहां उनके पास दो देव आए। सम्राट् नमि ने उनसे आने का कारण पूछा तो देवों ने कहा— 'जंबूद्वीप के विदेहक्षेत्र में सुसीमा नगरी में अपराजित नामक मुनि अभी-अभी तीर्थंकर बने हैं जब उनसे पूछा गया कि अब तीर्थंकर कौन होंगे तो उन्होंने आपका नाम बतलाया अतः हम आपके पास आये हैं।' यह सुनकर सम्राट् नमि अपने उत्तराधिकारी को राज्य सौंप कर विरक्त बन गये। दीक्षा से पूर्व परम्परा के अनुसार उन्होंने वर्षादान दिया। निश्चित तिथि आषाढ़ कृष्ण नवमी के दिन एक हजार भव्यात्मा व्यक्तियों के साथ वे सहस्राम्र उद्यान में आए। पंच मुष्टि लोच किया। देव समूह और मानवमेदिनी के बीच भगवान् नमि ने सर्व सावद्य योगों का प्रत्याख्यान किया। प्रभु के उस दिन बेले का तप था। दूसरे दिन वीरपुर के राजा दत्त के यहां उन्होंने परमान्न से पारणा किया। देवों ने प्रथम दान की विशेष महिमा

गाई ।

केवल ज्ञान

प्रभु की छद्मस्थ चर्या सिर्फ नौ मास की थी । साधना की प्रचण्ड अग्नि में उनके कृतकर्म स्वाहा हो गये । विचरते-विचरते भगवान् नमि पुनः दीक्षा स्थल सहस्राम्न उद्यान में पधारे । वोरसली नामक वृक्ष के नीचे उत्कृष्ट ध्यान मुद्रा में उन्होंने क्षपक श्रेणी ली तथा घातिक कर्मों को क्षय कर कैवल्य प्राप्त किया ।

देवों ने केवल महोत्सव के साथ समवसरण की रचना की । जन्मभूमि व आस-पास के हजारों लोग भगवान् का उपदेश सुनने के लिए उद्यान की ओर उमड़ पड़े । भगवान् ने प्रथम प्रवचन में आगार व अणगार धर्म की परिभाषा बतलाई । भगवान् की वाणी से प्रभावित होकर अनेक व्यक्ति घर छोड़कर अणगार बन गये तथा अनेक व्यक्तियों ने गृहस्थ धर्म की उपासना स्वीकार की ।

निर्वाण

सुदीर्घकाल तक धर्मसंघ की प्रभावना करते हुए भगवान् नमिनाथ आर्य जनपद में अतिशययुक्त विचरते रहे । अन्त में सम्मेद शिखर पर एक हजार चरम शरीरी मुनियों के साथ उन्होंने अनशन किया । वैशाख कृष्ण दशमी के दिन शुक्ल ध्यान के चतुर्थ चरण में पहुंच कर चार अघाती कर्मों को क्षय करके निर्वाण को प्राप्त किया ।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	१७
० केवलज्ञानी	—	१६००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	१२५०
० अवधिज्ञानी	—	१६००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	५०००
० चतुर्दश पूर्वी	—	४५०
० चर्चावादी	—	१०००
० साधु	—	२०,०००
० साध्वी	—	४१,०००
० श्रावक	—	१,७०,०००
० श्राविका	—	३,४८,०००

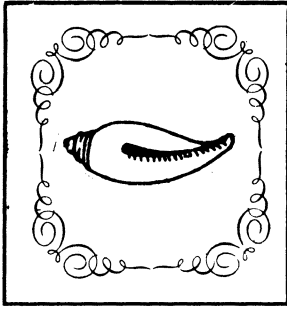
एक झलक—

० माता	—	वप्रा
० पिता	—	विजय

० नगरी	—	मिथिला
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	नीलोत्पल (नीलकमल)
० वर्ण	—	सुवर्ण
० शरीर की ऊंचाई	—	१५ धनुष्य
० यक्ष	—	भृकुटि
० यक्षिणी	—	गांधारी
० कुमार काल	—	२५०० वर्ष
० राज्य काल	—	५००० वर्ष
० छद्मस्थ काल	—	९ मास
० कुल दीक्षा पर्याय	—	२५०० वर्ष
० आयुष्य	—	१० हजार वर्ष

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	— आसोज शुक्ला १५	अपराजित	अश्विनी
० जन्म	— सावन कृष्णा ८	मिथिला	अश्विनी
० दीक्षा	— आषाढ़ कृष्णा ९	मिथिला	अश्विनी
० केवलज्ञान	— मिगसर शुक्ला ११	मिथिला	अश्विनी
० निर्वाण	— बैशाख कृष्णा १०	सम्भेद शिखर	अश्विनी



(२२)

भगवान् श्री अरिष्टनेमि

चौबीस तीर्थकरों में इक्कीस तीर्थकर प्राग् ऐतिहासिक काल में हुए। तेईसवें पार्श्व व चौबीसवें महावीर ऐतिहासिक महापुरुष हैं। बाइसवें तीर्थकर अरिष्टनेमि को पहले प्राग् ऐतिहासिक महापुरुष माना जाता था। आज कई विद्वानों के अभिमत में वे ऐतिहासिक हैं। संदर्भों व उल्लेखों से अब यह निश्चित रूप से प्रमाणित है कि भगवान् अरिष्टनेमि ऐतिहासिक महापुरुष थे। उनके नौ भवों का वर्णन उपलब्ध होता है।

पहला व दूसरा भव

जंबू द्वीप के भरत क्षेत्र में अचलपुर नाम के नगर में राजा विक्रमधन राज्य करते थे। उनकी पटरानी धारिणी थी। पटरानी ने शुभ स्वप्न के साथ गर्भ धारण किया। पुत्र जन्मने पर उसका नाम दिया गया धनकुमार। युवा होने पर धन कुमार का विवाह कुसुमपुर नरेश सिंह की पुत्री राजकुमारी धनवती के साथ हुआ।

एक दिन दोनों जल क्रीड़ा के लिए गए। वहां एक मुनि को रूग्ण पाया। उन्होंने मुनि की सेवा की। मुनि के नगर पधारने पर निर्दोष आहार, पानी, दवा आदि से खूब सेवा-भक्ति की। मुनि के उपदेश से उन्होंने सम्यक्त्व सहित श्रावक के व्रत धारण किए। विक्रमधन ने धन कुमार को राजा बनाया और दीक्षित हो गए।

महाराज धन व महारानी धनवती ने अपने पुत्र जयंत को राज्य का भार सौंपकर दीक्षा ली। अंत में समाधि मरण प्राप्त कर सौधर्म (पहले) देवलोक में दोनों महर्षिक देव बने।

तीसरा व चौथा भव

भरत क्षेत्र में वैताद्वय पर्वत की उत्तर श्रेणियों में सूरतेज नगर था। वहां विद्याधर सूर राजा था। उसकी विद्युन्मती रानी थी। धन कुमार का जीव सौधर्म देवलोक से च्यव कर विद्युन्मती के गर्भ में आया। गर्भकाल समाप्त होने पर पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम दिया गया चित्रगति।

वैताद्वय पर्वत की दक्षिण श्रेणी में शिव मंदिर नगर में अनंत सिंह राजा था। उसकी रानी शशिप्रभा थी। धनवती का जीव उसकी पुत्री रत्नवती के रूप में जन्मा।

कालांतर में उसका विवाह चित्रगति के साथ हो गया। अंत में चित्रगति ने अपने पुत्र पुरंदर को राजा बनाकर अपनी पत्नी रत्नवती, अनुज मनोगति तथा चपलगति के साथ मुनि दमधर के पास दीक्षा ली। चिर काल तक ध्यान साधना करते हुए मुनि चित्रगति चौथे माहेन्द्र देवलोक में महर्द्धिक देव बने। उनके दोनों भाई व पत्नी रत्नवती भी उसी देवलोक में देव बने।

पाँचवां व छठा भव

पूर्व महाविदेह की पद्म विजय के सिंहपुर नगर का राजा हरिनंदी था। उसकी रानी प्रियदर्शना थी। चित्रगति का जीव देवायु भोगकर प्रियदर्शना के पुत्र रूप में जन्मा। नाम दिया गया अपराजित।

जनानंदपुर के राजा जितशत्रु थे। उनकी रानी धारिणी थी। रत्नवती का जीव धारिणी की पुत्री के रूप में जन्मा। नाम प्रीतिमती रखा गया। महाराज जितशत्रु ने पुत्री के युवा होने पर स्वयंवर पद्धति से उसका विवाह करने का निश्चय किया। दूर-दूर के राजे-महाराजे, राजकुमार आमंत्रित किए गए। स्वयंवर मंडप में राजकुमार अपराजित भी आया। प्रीतिमती ने उसके गले में वरमाला डाल दी। कुछ दिन श्वसुरगृह रहकर वह अपनी पत्नी के साथ सिंहपुर आ गया। माता-पिता बड़े प्रसन्न हुए।

मनोगति व चपलगति के जीव भी माहेन्द्र देवलोक से च्यवकर अपराजित के सूर और सोम नाम से अनुज बने। अपराजित ने राजा बनने के बाद राज्य का कुशलता से संचालन किया। अपने पुत्र पद्मनाभ को राज्य देकर अपनी पत्नी व बंधु द्वय के साथ दीक्षा ली। अंत में समाधि मृत्यु प्राप्त कर चारों ग्यारहवें आरण देवलोक में देव बने।

सातवां व आठवां भव

भरत क्षेत्र के हस्तिनापुर में श्रीषेण राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम श्रीमती था। अपराजित का जीव च्यवकर रानी के उदर में आया। नाम रखा गया शंख। उधर प्रीतिमती का जीव अंग देश की चंपा नगरी के राजा जितः के राजमहल में पुत्री रूप में जन्मा। उसका नाम यशोमती रखा गया। पूर्व जन्म के बंधु सूर और सोम भी यशोधर व गुणधर नाम से श्रीषेण के पुत्र बने।

एकदा सीमावर्ती लोगों ने आकर पुकारा कि महाराज ! हम लुटे गये। पल्लिपति समरकेतु को शत्रु का सहयोग है, वह हम सबको लूट रहा है, मार रहा है। यदि तुरन्त ध्यान नहीं दिया गया तो राज्य तहस-नहस हो जाएगा। सुनकर राजा क्रुद्ध हो उठा। तत्काल सेना को आदेश दिया और स्वयं भी युद्ध के लिए तैयार होने लगे। राजकुमार शंख को जब ज्ञात हुआ तो आग्रहपूर्वक पिता के स्थान पर वे स्वयं चल पड़े। सीमावर्ती क्षेत्र में भयंकर युद्ध हुआ। समरकेतु के अनेक साथी

मारे गये। कुछ जान बचाकर भाग गये। समरकेतु स्वयं राजकुमार शंख के सैनिकों से घिर गया था। शस्त्र बल समाप्त होने पर बाध्य होकर उसे समर्पण करना पड़ा। लूट का माल भी सारा उसके हाथ लग गया। राजकुमार शंख ने उस सम्पत्ति को सीमावर्ती लोगों को पुनः लौटा दी।

पल्लिपति समरकेतु को पकड़ कर विजयी राजकुमार वापिस हस्तिनापुर आ रहे थे, सहसा उन्हें जंगल में विद्याधर मणिशेखर मिला। राजकुमार को देखते ही मणिशेखर भागने की कोशिश करने लगा। अवसर देखकर रोती हुई यशोमती ने राजकुमार को अपने अपहरण की दारुण घटना सुनाई तथा मणिशेखर से बचाने की प्रार्थना की। मणिशेखर बलपूर्वक उसकी इच्छा के विपरीत शादी करना चाहता था।

राजकुमार शंख ने मणिशेखर को समझाया और न मानने पर युद्ध प्रारंभ कर दिया। मणिशेखर युद्ध में पराजित होकर भाग गया। राजकुमारी यशोमती राजकुमार शंख के अद्भुत शौर्य से अत्यधिक प्रभावित हुई। इतने में उसके पिता जितारि भी उसकी खोज करते-करते वहां पहुंच गये। सारी बात सुनकर वे अत्यधिक प्रसन्न हुए तथा कन्या की इच्छा देखकर राजकुमार शंख के साथ जंगल में ही उनका विवाह कर दिया।

राजा श्रीषेण को विजय के साथ पुत्र आगमन की सूचना मिली। वे प्रसन्न होकर पुत्र के सामने आये तथा विजयोत्थास के साथ नगर में प्रवेश करवाया। पुत्र के शौर्य की महिमा सुनकर राजा अत्यधिक प्रसन्न हुए। योग्य देखकर उसी उत्सव में पुत्र का राज्याभिषेक किया और स्वयं अणगार बनकर उत्कृष्ट साधना में लगे। कुछ वर्षों में उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया।

राजा शंख कुशलता से राज्य चलाते रहे। एक बार शहर से दूर जंगल में बने उद्यान में वे सपत्नीक क्रीड़ा करने गये। अनेक मित्र व अनुचर भी उनके साथ में थे। वहीं भोजन तैयार हुआ। शंख बैठे हुए आमोद-प्रमोद की बातें कर रहे थे। इतने में प्यास से व्याकुल एक मुनि आए। शंख ने मुनि को देखते ही खड़े होकर वंदना की। रानी यशोमती भी मुनि को देखकर भावविभोर हो गई। मुनि ने पानी के लिए हाथ से संकेत किया। राजा-रानी समझ तो गये कि मुनि को गहरी प्यास है, किन्तु अचित्त पानी कहां से आये। तभी रानी यशोमती को याद आया रायते में डालने के लिए दाखें (किशमिश) भिगोई गई थी, उसका पानी अचित्त है अगर गिराया नहीं होगा तो काम आ जाएगा। तत्काल वह रसोई की तरफ गई, देखा तो टोकने में पानी पड़ा था। मुनि को निवेदन किया। शुद्ध जानकर मुनि बहरने लगे। राज शंख व रानी यशोमती ने बर्तन के दोनों ओर के कड़े पकड़ कर साथ में ही मुनि को जल बहराया। जंगल में ऐसा योग मिलने से राजा-रानी दोनों हर्ष

विभोर हो रहे थे। उन बढ़ते परिणामों में राजा ने तीर्थकर गोत्र का बंध किया। रानी ने स्वयं को एकाभवतारी (एक भव के अनन्तर मोक्ष जाने वाली) बना लिया। अगले जन्म में महासती राजीमती के रूप में यशोमती ने जन्म लिया था।

एक बार श्रीषेण केवली हस्तिनापुर पधारे। महाराज शंख अपने अनुजद्वय, महारानी यशोमती व पूरे राजपरिवार के साथ दर्शन करने गए। प्रवचन सुना। प्रवचन के अनन्तर शंख ने पूछा— “भगवन् ! मेरा यशोमती पर इतना अधिक स्नेह क्यों है?” श्रीषेण केवली ने कहा— “जब तू धनकुमार था तब यह तेरी धनवती पत्नी थी। सौधर्म देवलोक में यह तेरी मित्र हुई। चित्रगति के भव में यह तेरी रत्नवती के रूप में पत्नी हुई। माहेन्द्र देवलोक में साथी मित्र हुई। अपराजित के भव में यह फिर तेरी प्रीतिमती नाम से पत्नी बनी। आरण देवलोक में यह तेरी मित्र बनी। इस भव में भी यह तेरी पत्नी है। इस तरह यशोमती के साथ तेरा सात भवों का संबंध है। आगामी भव में तुम दोनों अनुत्तर विमान में देव बनोगे। वहां से आयु पूर्ण कर तू भरत क्षेत्र में अरिष्टनेमि नाम से बाइसवां तीर्थकर बनेगा। यशोमती का नाम राजीमती होगा। तुमसे ही विवाह निश्चित होगा पर यह अविवाहित अवस्था में ही दीक्षित बनेगी और मोक्ष में जाएगी।”

अपने पूर्व भव के वृत्तांत को सुनकर शंख को वैराग्य उत्पन्न हो गया। अपने दो भाइयों, पत्नी एवं कई मित्र राजाओं के साथ उसने दीक्षा स्वीकार की। अंत में समाधि मृत्यु प्राप्त कर चौथे अनुत्तर-अपराजित देवलोक में देव बने।

जन्म

सुदीर्घ देवायु को भोगकर शौरीपुर नगर के सम्राट् समुद्र विजय के राजप्रासाद में आये। स्वनाम धन्या शिवा रानी की कुक्षि में अवतरित हुए। महारानी शिवा ने चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्नपाठकों ने कालगणना व स्वप्न-शास्त्र के आधार पर तीर्थकर होने की भविष्यवाणी की। सर्वत्र हर्ष छा गया।

गर्भकाल पूरा होने पर सावन शुक्ला पंचमी की मध्य रात्रि की शुभ वेला में भगवान् का जन्म हुआ। देवेन्द्रों ने उत्सव किया। महारानी शिवा पुत्र-प्राप्ति से स्वयं को कृतकृत्य मान रही थी। राजा समुद्रविजय ने अपने दस भाइयों के साथ पुत्र का अपूर्व जन्मोत्सव किया। सबके हृदय में उल्लास व उमंग था।

नाम के दिन महारानी शिवा श्याम कांति वाले नवजात शिशु को लेकर आयोजन में आई। लोगों ने बालक को देखा, आशीर्वाद दिया। नाम की चर्चा में राजा समुद्रविजय ने कहा— ‘बालक के गर्भ में आने के बाद राज्य सब प्रकार के अरिष्ट से बचा रहा है। इसकी माता को अरिष्ट रत्नमय चक्र (नेमि) का स्वप्न आया था, अतः बालक का नाम अरिष्टनेमि ही रखा जाए।’ उपस्थित जनसमूह ने उन्हें इसी नाम से पुकारा।

हरिवंश की उत्पत्ति

अरिष्टनेमि के पिता महाराज समुद्रविजय हरिवंशीय प्रतापी राजा थे।
हरिवंश की उत्पत्ति भी विचित्र स्थितियों में हुई।

दसवें तीर्थकर शीतलनाथ के शासनकाल में वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी नगरी में सुमुह नाम का राजा था। उसी नगरी के वीरक नामक युवक की पत्नी वनमाला पर राजा मोहित हो गया और उसे प्रच्छन्न रूप से अपने पास रख लिया और क्रमशः वनमाला परमप्रिया महारानी बन गई। उधर वीरक पत्नी के विरह में अर्धविक्षिप्त सा हो गया और कुछ समय बाद वह बाल तपस्वी हो गया।

एक बार राजा सुमुह वनमाला के साथ वनविहार के लिये गये। घूमते समय उनकी दृष्टि वीरक पर पड़ी। उसकी दयनीय स्थिति पर राजा को अपने कृत्य पर बड़ा दुःख हुआ और पश्चात्ताप करने लगा— मैंने यह काम बहुत गलत किया है। मेरे दोष से वीरक की यह स्थिति बनी है। ओह ? इसे कितना कष्ट हो रहा है। वनमाला को भी पश्चात्ताप हुआ। इन सरल परिणामों में दोनों के मनुष्य आयु का बंध हुआ। उसी क्षण उन पर बिजली गिरी और उनका प्राणान्त हो गया। वे योगलिक भूमि हरिवास में युगल रूप में उत्पन्न हुये।

वीरक ने पूरे जीवन अज्ञान तप तपा। आखिर वह पहले सौधर्म देवलोक में किल्बिषी देव बना। उसने जब ज्ञान से यह देखा कि उसका शत्रु उसकी प्रिया के साथ भोग भूमि में सुख भोग रहा है तो उसके क्रोध की सीमा नहीं रही।

वह सोचने लगा— इस दुष्ट को यहीं मार दूं। इतना पाप करके भी यह यहां उत्पन्न हुआ है। इनको मारने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। अच्छा हो इन्हें ऐसी जगह रख दूं जहां कर्म बंध का अवकाश है। इसके लिये इन्हें किसी राज्य का, राजा बनाकर मद्य-मांस भोजी बना दूं और विषय भोग में फंसा दूं जिससे ये नरक में दुःख भोगते रहें।

चंपा नरेश का उस समय निधन हुआ ही था। उसके संतान न होने से सिंहासन खाली पड़ा था। राजा बनने के लिए चल रही रस्साकशी में समय और लंबा हो गया। देव ने इसे ठीक अवसर समझ कर आकाशवाणी की— तुम्हारी राजा बनने की जो समस्या है उसे मैं सुलझाता हूं। मैं एक युगल प्रस्तुत करता हूं। उनका राजतिलक कर मद्य-मांस परोसो और इनके लिये भोग विलास की सामग्री प्रस्तुत करो। इनको राजकीय कार्य में उलझाये रखो। राज्य की समृद्धि बढ़ेगी।

देव ने दोनों की अवगाहना को छोटी कर सौ धनुष की कर दी। उनके एक करोड़ पूर्व के आयुष्य को घटाकर एक लाख वर्ष का कर दिया। लोगों ने मिलकर राजतिलक कर दिया। दोनों पूरे भोगासक्त रहे, परिणामतः नरक के मेहमान बने।

यह एक विस्मयकारी घटना घटित हुई क्योंकि यौगलिकों का नरक गमन नहीं होता। उसी हरिवास युगल से हरिवंश की उत्पत्ति हुई। यह समय दसवें तीर्थकर शीतलनाथ व ग्यारहवें तीर्थकर श्रेयांस नाथ के मध्य का था।

हरिवंश में अनेक शक्तिशाली, प्रतापी और धर्मात्मा राजा हुए हैं। उनमें पृथ्वीपति महागिरि, हिमगिरि, वसुगिरि, दक्ष, महेन्द्रदत्त, शंख, वसु आदि अनेक नरेश हुए हैं।

आकाश में अधर सिंहासन पर बैठने वाले जिस वसु का वर्णन आता है वे ये ही वसु राजा थे। इनके बाद दीर्घबाहु, वज्रबाहु आदि राजाओं के बाद सुभानु राजा बने। इनके पुत्र यदु इस हरिवंश के महापराक्रमी व प्रभावशाली राजा हुए। यदु के वंश में सौरी और वीर नाम के दो बड़े शक्तिशाली राजा हुए। राजा सौरी ने सौरिपुर व वीर ने सौवीर नगर बसाया।

नेमि का पैतृक कुल

हरिवंशीय महाराज सौरी से अंधकवृष्णि और भोग वृष्णि- ये दो पराक्रमी पुत्र हुए। अंधक वृष्णि के समुद्र विजय, अक्षोभ, स्तिमित, सागर, हिमवान, अचल, धरण, पूरण, अभिचंद और वसुदेव— ये दस पुत्र थे, जो दशार्ह नाम से प्रसिद्ध हुए। इनमें बड़े समुद्र विजय और छोटे वसुदेव विशेष प्रभावशाली थे। समुद्रविजय बड़े न्यायशील उदार व प्रजावत्सल राजा थे। वसुदेव ने अपने पराक्रम से देश-देशान्तर में ख्याति अर्जित की।

अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि व दृढ़नेमि समुद्र विजय के पुत्र थे। इनकी माता का नाम शिवा था। कृष्ण व बलराम वसुदेव के पुत्र थे। इनकी माताएं क्रमशः देवकी व रोहिणी थी। अरिष्टनेमि के श्री कृष्ण चचेरे भाई थे।

बाल्यकाल

जब अरिष्टनेमि करीब चार वर्ष के हुए, उस समय यादवों ने एक बड़े संकट को पार किया। श्री कृष्ण ने मथुरा नरेश कंस का वध किया। इससे उसकी पत्नी जीवयशा को क्रुद्ध होकर अपने पिता प्रतिवासुदेव जरासंध के पास आई और सारा घटना क्रम सुनाया। जरासंध ने यदुकुल का समूल नाश करने के लिए अपने पुत्र व सेनापति कालकुमार को ससैन्य भेजा। कुलदेवी की कृपा से यादव सकुशल समुद्र किनारे पहुंच गये। देव-सहयोग से सर्व सुविधा संपन्न द्वारिका नगरी का निर्माण किया और उसमें सभी यादव सुख पूर्वक रहने लगे। काल कुमार उस कुलदेवी की माया से मारा गया।

जरासंध के युद्ध में

यादवों के साथ द्वारिका पुरी में रहते हुए बलराम और कृष्ण ने अनेक राजाओं को वश में कर अपना राज्य-विस्तार किया। यादवों की समृद्धि और ऐश्वर्य की

यशोगाथाएं दूर-दूर तक फैल गईं। प्रतिवासुदेव जरासंध को जब यह जानकारी मिली कि यादव तो परम सुखमय जीवन जी रहें हैं तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। जरासंध ने यादवों के साथ युद्ध करने का निश्चय किया ताकि कालकुमार को छल-प्रप्रंच से मारे जाने का बदला लिया जा सके और पुत्री जीवयशा की प्रतिज्ञा पूरी हो सके। श्री कृष्ण ने जब कंस का वध कर उसके अत्याचारों से मथुरा को मुक्ति दिलाई थी उस समय विलाप करती हुई कंस पत्नी जीवयशा ने कहा था— 'मैं बलराम, कृष्ण, दशों दशार्ह समेत पूरे यदुवंश का सर्वनाश देखकर ही शांत बैठूंगी, अन्यथा मैं अग्नि प्रवेश कर दूंगी।'

शुभ मुहूर्त में यादवों की चतुरंगिणी सेना रणक्षेत्र की ओर प्रस्थित हुई। उधर जरासंध की सेना भी आ डटी। कुछ विद्याधर राजा रणक्षेत्र में पहुंचे और महाराज समुद्र विजय से बोले-हमारे पर वसुदेवजी का बड़ा उपकार है इसलिए हम आपके कृतज्ञ हैं। हमारी विद्याधर श्रेणी के अनेक शक्तिशाली राजा जरासंध के मित्र हैं। वे अपनी-अपनी सेनाओं के साथ आ रहे हैं। आप वसुदेव को हमारा सेनापति नियुक्त करके भेजें जिससे हम उन्हें वहीं उलझाये रखे।' वसुदेव जी उधर चले गये।

जरासंध व यादवों की सेना में भयंकर युद्ध छिड़ गया। इसमें बहुत बड़ी संख्या में योद्धा खेत रहे। जरासंध के पुत्रों को यादव वीरों ने मार डाला। अपने पुत्रों को मरते देख जरासंध अत्यन्त कुपित हुआ और वाण वर्षा करते हुए यादव सेना को मथने लगा। यादव सेना हतप्रभ सी हो गई।

अरिष्टनेमि भी युद्ध भूमि में उपस्थित थे। उनके लिए सर्व शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रथ को मातलि सारथि के साथ इन्द्र ने भेजा। मुख्य यादव वीर घिरे हुए थे। नेमिकुमार ने अवसर देख युद्ध की बागडोर अपने हाथ में ली। कुमार के आदेश से मातलि ने रथ भीषण वर्तुल वायु की तरह घुमाया। पौरंदर शंख का कुमार ने घोष किया। शंख के निनाद से शत्रु कांप उठे। यादवों में नये उत्साह का संचार हो गया। वाणों की जबर्दस्त वर्षा करते हुए उन्होंने जरासंध की सेना को पीछे धकेल दिया। इस चामत्कारिक विजय से यादव सेना जोश से भर उठी और उसने भयंकर आक्रमण शुरू कर दिया। अपने रथ को मनोवेग से शत्रु राजाओं के चारों ओर घुमाते हुए जरासंध की सेना को अवरुद्ध रखा। अंत में श्री कृष्ण ने सुदर्शन चक्र से जरासंध को मारकर ऐतिहासिक विजय प्राप्त की। और उसी से वे नौवें वासुदेव व बलराम बलदेव बने।

अपरिमित बल

एक बार नेमिकुमार घूमते-घूमते वासुदेव कृष्ण के शस्त्रागार में जा पहुंचे। अवलोकन करते हुए उन्होंने वहां पांचजन्य शंख को देखा। कौतूहल वश वे उसे

उठाकर बजाने लगे। शंख के गंभीर घोष से पूरी द्वारिका नगरी दहल उठी। अनेक लोग मूर्च्छित हो गये। वासुदेव कृष्ण और बलभद्र भी तत्काल शस्त्रागार की तरफ दौड़े। सोचने लगे— यह दूसरा वासुदेव कहां से आ गया ? क्या हमारी स्थिति समाप्त हो रही है? अथवा हम अब वासुदेव नहीं रहे हैं? आयुधशाला में पहुंच कर उन्होंने देखा तो पाया कि नेमिकुमार वहां घूम रहे थे। शस्त्र-संरक्षक से ज्ञात हुआ कि शंख नेमिकुमार ने बजाया था।



वासुदेव कृष्ण सोचने लगे—‘पांचजन्य शंख जिसे वासुदेव ही बजा सकता है, मेरे अग्रज बलराम जी भी उसे नहीं बजा पाते, उस शंख को इतनी प्रखरता से बजा देना तो सचमुच अद्भुत पराक्रम का काम है। किसी दिन यदि नेमि के मन में राज्य-प्राप्ति की भावना जाग गई तो मैं इसे दबा नहीं सकूंगा। मुझे पता लगाना चाहिए कि वास्तव में शक्ति मुझ में अधिक है या इसमें?’

दो-चार दिन बाद वासुदेव कृष्ण ने अरिष्टनेमि से कहा— ‘हम मल्ल-शाला में बाहु नमन प्रतियोगिता करें, देखें कौन किसकी भुजा को नमाता है।’ नेमिकुमार की स्वीकृति पाकर दोनों मल्ल-शाला में गये। अनेक यादव प्रतियोगिता देखने एकत्र हो गये। पहले श्री कृष्ण वासुदेव ने अपनी प्रचंड दाहिनी भुजा फैलाकर

सामने कर दी। नेमिकुमार ने सहज मुस्कान के साथ बायें हाथ से हरे वृक्ष की टहनी की तरह उसे पकड़ कर बिना किसी श्रम के झुका दी। यह देख सब विस्मित हो उठे।

इसके पश्चात् श्री कृष्ण के आह्वान पर नेमिकुमार ने अपनी सुदृढ़ भुजा सामने की। वासुदेव कृष्ण ने पहले बायें हाथ से भुजा को झुकाने का प्रयत्न किया, किन्तु असफल रहे। फिर दायें हाथ से प्रयत्न किया, फिर भी वह नहीं झुकी तब दोनों हाथों से पकड़ कर उन्होंने जोर लगाया। उधर नेमिकुमार ने भुजा को कुछ और ऊंचा कर दिया तो श्री कृष्ण उस पर झूलने लगे। चारों ओर नेमिकुमार के बल की प्रशंसा होने लगी। कृष्ण ने नेमिकुमार को छाती के लगाकर कहा— 'ऐसा बलिष्ठ मेरा अनुज है, फिर मेरे राज्य पर कौन अंगुली उठा सकता है ? मुझे गर्व है अपने भाई पर !'

रुक्मिणी आदि का नेमि के साथ बसंतोत्सव

श्रीकृष्ण ने अपने अंतःपुर के रक्षकों को आदेश दिया कि कुमार अरिष्टनेमि को बिना किसी रोक-टोक के आने-जाने दिया जाये। कुमार सहज एवं निर्विकार भाव से सर्वत्र विचरण करते। रुक्मिणी आदि रानियां उनका बड़ा सम्मान करती। वासुदेव ने सोचा— 'नेमिकुमार की शादी कर इसे दाम्पत्य जीवन में सुखी देख सकूँ तभी मेरा राज्य व भ्रातृ प्रेम सही अर्थ में सार्थक हो सकता है। कुमार निर्विकार है। इसे भोग-मार्ग की ओर आकर्षित करना आवश्यक है। श्रीकृष्ण ने यह कार्य रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियों को सौंपा। रानियों ने मिलकर एक दिन नेमि कुमार से कहा— 'देवर जी ! तुम्हारे साथ जल क्रीड़ा करने की अभिलाषा है, भाभियों का मन तो रखना ही होगा।' भाभियों के आग्रह को नेमिकुमार टाल नहीं सके। सरोवर में भाभियों के साथ वे काफी समय तक खेलते रहे। खेल-खेल में रुक्मिणी आदि रानियों ने आग्रह किया— 'तुम्हें विवाह करना होगा। यादव वंश के कुल-मणि होकर कुंवारे फिरते हो, सबको लज्जा आती है। कुलीन लड़के समय पर विवाह कर लेते हैं हमें भी देवरानी चाहिये। बोलो, स्वीकार है न हमारा प्रस्ताव ?'

नेमिकुमार मुस्कराते हुए भाभियों के आग्रह को सुन रहे थे। अवसर देखकर कृष्ण भी बोले— 'अनुज ! भाभियों की मनुहार व हम अग्रजों का मन दुकराना नहीं चाहिए।' भगवान् नेमिकुमार ने अवधिज्ञान से देख लिया था कि विवाह की तैयारी ही मेरी दीक्षा का निमित्त बनेगी। फिर इन्कार क्यों करूँ ? मनुहार करते हुए कृष्ण महाराज और रानियों ने पूछा, "क्यों, तैयारी करें ?" नेमिकुमार ने कहा— 'हां'। विवाह की स्वीकृति मिलते ही चारों ओर प्रसन्नता छा गई। वासुदेव कृष्ण अनेक राजकन्याओं के बारे में सोचने लगे। महारानी सत्यभामा ने कहा— 'मेरी छोटी बहिन राजीमती नेमिकुमार के लिए सर्वथा उपयुक्त है।' श्री कृष्ण को यह प्रस्ताव

उचित लगा। तत्काल उग्रसेन राजा से पुत्री की याचना की गई। उग्रसेन ने कहा— 'मेरा सौभाग्य है, मेरी एक पुत्री पहले ही आपके महल में है, अब दूसरी भी वहां नेमिकुमार की जीवन संगिनी बनेगी, पर मेरी एक शर्त है कि मेरे यहां आपको बारात लेकर आना होगा। मैं वहां आकर अपनी लड़की नहीं दूंगा।'

श्री कृष्ण ने यह बात मान ली। कृष्ण महाराज शीघ्रता से विवाह की तैयारी करने लगे। उन्हें भय था कहीं नेमिकुमार नकार न जाए। इस भय से चातुर्मास में ही श्रावण शुक्ला छठ की निश्चित तिथि पर धूमधाम से नेमिकुमार को सुसज्जित रथ में बिठा कर समुद्रविजय आदि दस दशार्ह, श्रीकृष्ण, बलराम, तथा दृढ़नेमि, रथनेमि आदि अनेक यादवकुमार हाथी, घोड़े तथा रथों में बैठकर रवाना हो गए।

उधर उग्रसेन राजा ने पूरी तैयारी कर रखी थी। विभिन्न पकवानों के साथ सैंकड़ों-हजारों पशुओं को भी एकत्रित कर रखा था। नेमिकुमार की बारात उन संत्रस्त पशुओं के बाड़ों के बीच में से गुजरी। भयभीत पशुओं को देखकर नेमिकुमार ने सारथि से पूछा— 'इन पशुओं को क्यों रोक रखा है?'

सारथि ने नम्रता से निवेदन किया— 'राजकुमार ! यह सब आपके लिये हैं। आपके साथ आये यादवकुमारों को इनका मांस परोसा जायेगा।

नेमिकुमार का हृदय करुणा से भर उठा। वे सोचने लगे— 'एक मेरा विवाह होगा और हजारों मूक पशुओं के प्राण लूटे जायेंगे। उनकी मौत का निमित्त बनूंगा मैं। नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। मुझे विवाह नहीं करना है।' उन्होंने सारथि से कहा— 'रथ को वापिस द्वारिका की तरफ मोड़ दो। सारथि ने रथ को मोड़ दिया। नेमिकुमार ने प्रसन्नमना शरीर पर से सारे आभूषण उतार कर रथिक को दे दिये।

नेमिकुमार का रथ मुड़ते ही, बारात की सारी व्यवस्था लड़खड़ा गयी। कृष्ण व बलराम आदि सभी ने आकर पुनः बार-बार समझाया। नेमिकुमार दृढ़ता से इन्कार कर द्वारिका आ गए और वर्षादान दिया।

अभिनिष्क्रमण यात्रा

भगवान् नेमिकुमार की विरक्ति से सब विस्मित थे। परम सुन्दरी राजीमती जैसी युवती को बिना शादी किये ही छोड़ देना प्रबल आत्मबल का कार्य था। अनेक युवकों ने भी उनकी विरक्ति से स्वयं विरक्त होकर तत्काल नेमिकुमार के साथ दीक्षित होने की घोषणा कर दी।

निश्चित तिथि सावन शुक्ला छठ को उत्तरकुरु नामक शिबिका में बैठकर उज्जयंत (रेवतगिरि) पर्वत पर सहस्रांश्र उद्यान में आये। प्रभु की निष्क्रमण यात्रा में अपार मानवमेदिनी और चौसठ इंद्रों के साथ अनगिनत देवगण सम्मिलित हुए। शोभा-यात्रा में सनत्कुमारेन्द्र प्रभु पर छत्र करते हुए चलने लगे। शक्रेन्द्र और

ईशानेन्द्र समुज्ज्वल चंवर बीजते हुए शनैः शनैः कदम उठा रहे थे। माहेन्द्र हाथ में खड्ग, ब्रह्मोदर दर्पण, लांतकेन्द्र पूर्णकलश, शक्रेन्द्र स्वस्तिक लेकर तथा सहस्रारेन्द्र दिव्य धनुष्य चढ़ाकर आगे-आगे बढ़ रहे थे। प्राणतेन्द्र श्रीवत्स तथा अच्युतेन्द्र नंदावर्त धारण किये हुए यात्रा को मंगलमय बना रहे थे। शेष चमरादि इंद्र अपने-अपने आयुधों से सुसज्जित हो अपनी-अपनी पंक्ति का नेतृत्व कर रहे थे।

सहस्राग्र उद्यान में पहुंच कर अशोक वृक्ष के नीचे भगवान् ने शेष आभूषण उतारे और पंच-मुष्टि लोच किया। वासुदेव श्रीकृष्ण ने अवस्था में बड़े होने के कारण लुंचितकेश नेमिकुमार को आशीर्वाद देते हुए कहा—‘हे दमीश्वर ! आप शीघ्रातिशीघ्र अपने लक्ष्य को प्राप्त करें, धर्म का आलोक विश्व में फैलाएं।’

नेमिकुमार ने एक हजार विरक्त व्यक्तियों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। वासुदेव श्रीकृष्ण आदि सब उन्हें वंदना कर अपने महलों में लौट आये। दीक्षा के दिन भगवान् के तैला था। दूसरे दिन वरदत्त ब्राह्मण के यहां परमान्न से उनका पारणा हुआ। देवों ने पंच द्रव्य प्रकट किए। लोगों को सर्वत्र पता लग गया कि आज वरदत्त के यहां नेमिकुमार का पारणा हुआ है।

केवल ज्ञान

भगवान् नेमिनाथ की दीक्षा के बाद चौपन रात्रियां छद्मस्थ अवस्था में बीतीं। उत्कृष्ट विरक्ति से ध्यान के विविध आलम्बनों के द्वारा आत्मलीन होकर महान् कर्मनिर्जरा की। एकदा आप पुनः उज्जयंत (रेवतगिरि) पर्वत पर पधारे। उसी रात्रि में उन्होंने क्षपक श्रेणी लेकर केवलत्व को प्राप्त किया।

देवों ने उत्सव कर समवसरण की रचना की। द्वारिका के नागरिक भगवान् के सर्वज्ञ बनने की बात सुनकर हर्षविभोर हो उठे। वासुदेव कृष्ण सहित सभी उत्सुक लोगों ने रेवतगिरि पर भगवान् के दर्शन किये। महासती राजीमती भी भगवान् के दर्शनार्थ वहां पहुंच गई। प्रभु के प्रथम प्रवचन में तीर्थ स्थापित हो गया। वरदत्त आदि अनेक संयमोत्सुक व्यक्तियों तथा यक्षिणी आदि अनेक विरक्त महिलाओं ने संयम धारण कर लिया। समुद्रविजय आदि अनेक राजाओं और शिवादेवी, देवकी, रोहिणी आदि रानियों ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। भगवान् ने वरदत्त आदि ग्यारह व्यक्तियों को गणधर व यक्षिणी आर्या को प्रवर्तनी नियुक्त किया।

राजीमती की विरक्ति

महाराज उग्रसेन की पुत्री व श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा की छोटी बहिन राजीमती अत्यन्त रूपवान्, लावण्यमयी, सुशील व गुण संपन्न कन्या थी। कुमार अरिष्टनेमि के साथ अपने विवाह-संबंध से वह अत्यन्त प्रफुल्लित थी। वह अपने भाग्य की सराहना कर रही थी कि उसे त्रिलोक सुंदर व गुणवान् पति मिल रहे

हैं। उनकी इस हार्दिक अभिलाषा पर उस समय आघात लगा जब तोरण से पहले ही उनके भावी जीवन साथी वापस मुड़ गए। राजीमती तत्काल मूर्च्छित हो गई। शीतलोपचार से वह पुनः सचेत हुई और विलाप करने लगी-कहां मैं हतभागिनी कहां वे नर श्रेष्ठ! मुझे तो स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी कि कुमार नेमि जैसे नरशिरोमणि मेरे जीवन संगी बनेंगे। महापुरुष अपने दिये वचन को निभाते हैं। मेरे उपयुक्त न होने पर आप स्वीकृति ही नहीं देते। आपके द्वारा स्वीकृत होते ही मैं आपकी पत्नी बन चुकी। आपने मेरे भीतर आशा का दीप जलाकर अचानक बुझा दिया। प्राणनाथ! इसमें आपकी क्या गलती है। लगता है, इसमें मेरे ही कर्मों का कोई दोष है। थोड़ी देर बाद वह कुछ आश्वस्त बनी और संकल्प किया— 'मैं अब नेमिकुमार की पत्नी बन चुकी हूं। उन्होंने जिस पथ का अनुसरण किया। मैं भी उसी पथ का अनुगमन करूंगी।'

कुमार अरिष्टनेमि के छोटे भाई रथनेमि राजीमती के रूप-लावण्य पर मुग्ध हो गये। वे भाभी से मिलने उग्रसेन के प्रासाद में आ जाते और कुछ न कुछ भेंट देते। राजीमती अपने देवर की भेंट को सहज भाव से स्वीकार कर लेती। जब एक दिन मौका पाकर रथनेमि ने राजीमति को विवाह के लिये निवेदन किया तब उनको पता चला कि वह हमेशा इस तरह क्यों आता है। राजीमती ने उसे समझाने का प्रयत्न किया फिर भी उसने अपना प्रयास नहीं छोड़ा।

राजीमती ने देवर को समझाने के लिये एक युक्ति सोची और उसने भर पेट खीर खा ली। रथनेमि के महल में आते ही राजीमति ने कहा— एक थाल लाओ। उन्होंने मदन फल खाकर खीर का वमन कर दिया और कहा—'देवर जी! इसे खाओ।' रथनेमि ने मुंह बिचकाते हुए कहा-क्या मेरे साथ मजाक कर रही हो? क्या आप यह नहीं जानती कि वमन किया हुआ खाया क्या सूँघा भी नहीं जाता? क्या मुझे कुत्ता समझ रखा है?'

राजीमती ने बात को मोड़ देते हुए कहा—'देवरजी! जब तुम जानते हो कि वमन किया हुआ पदार्थ अपेय व अखाद्य है तो फिर मेरी आकांक्षा क्यों मन में रखते हो। मैं आपके नर श्रेष्ठ भाई द्वारा वमित-छोड़ी हुई हूं। खबरदार! कभी भी इस भावना से महल में न आना।' यह सुनकर रथनेमि बहुत लज्जित हुए। बिना एक शब्द बोले अपने महल में आ गये। कुछ समय बाद विरक्त बन मुनि बन गये। कुमार अरिष्टनेमि के प्रव्रज्या की बात सुनने पर राजीमती सैंकड़ों युवतियों के साथ साध्वी बन गई। दीक्षित होते समय वासुदेव श्रीकृष्ण ने आशीर्वाद दिया।

अरिष्टनेमि ने केवल ज्ञान प्राप्त होने के बाद तीर्थ की स्थापना की। साध्वी राजीमती अनेक साध्वियों के साथ भगवान् का दर्शन करने के लिए रेवतगिरि की ओर रवाना हुई। मार्ग में तेज अंधड़ आया और वारिस शुरू हो गई। इस कारण

सभी साधवियां बिखर गईं। साध्वी राजीमती भी अकेली रह गई। वर्षा से उनके कपड़े भीग गये थे। पास ही में गुफा थी। भीतर अंधेरा था। उन्हें अन्दर कोई भी दिखाई नहीं दिया। उन्होंने अपने कपड़ों को निचोड़ कर सुखाने के लिए फैला दिया।

आकाश में बिजलियां चमक रही थी। गुफा में रथनेमि ठहरे हुए थे। उस बिजली के प्रकाश में राजीमती को पूर्ण अनावृत्त अवस्था में देखा तो उसकी सोई वासना जाग उठी। वे तुरंत राजीमती के पास आये और भोग की प्रार्थना करने लगे। राजीमती निर्भय होकर कपड़ों से पुनः आवृत्त हुई और रथनेमि को विभिन्न हितकारी वचनों से समझाया। उनकी सुभाषित वाणी को सुनकर रथनेमि पुनः संयम में स्थिर हो गये। भगवान् के चरणों में पहुंचकर रथनेमि ने प्रायश्चित्त किया और सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बने। साध्वी राजीमती ने भी भगवान् के समवसरण में पहुंच कर वंदन किया और तप, जप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए मुक्ति श्री का वरण किया।

देवकी का छह पुत्रों से मिलन

चतुर्विध धर्मसंघ की स्थापना के बाद विचरते-विचरते भगवान् अरिष्टनेमि भदिलपुर नगरी पधारे। भगवान् की अमृतमयी देशना से विरक्त होकर देवकी के छह पुत्रों अनीकसेन, अजितसेन, अनिहत रिपु, देवसेन, शत्रुसेन और सारण ने दीक्षा ले ली। ये सुलसा गाथापत्नी के यहां बड़े लाड़ प्यार से पाले गये थे। भगवान् के साथ विचरते हुए द्वारिका पहुंचे। समवसरण जुड़ा, देशना हुई और लोग अपने-अपने घरों में गये। छहों मुनि बेले का पारणा लाने के लिये भगवान् से आज्ञा प्राप्त कर द्वारिका नगरी में दो-दो के सिंघाड़े में भिक्षा प्राप्त करने लगे। पहला सिंघाड़ा गोचरी करते हुए देवकी के प्रासाद में आया। देवकी ने भावपूर्वक मुनि युगल को शुद्ध भोजन प्रदान किया। देवकी विस्मित नेत्रों से मुनि के तेजस्वी शरीर को देखकर सोचने लगी-कितने सुंदर, लावण्य युक्त, अच्छे संस्थान वाले व पूर्ण युवा हैं। इनके भी कृष्ण के समान श्रीवत्स चिन्ह है। धन्य है इनकी मां जिनके ये लाल हैं। देवकी यह सोच ही रही थी। इतने में दूसरा मुनि सिंघाटक आया और देवकी से भिक्षा प्राप्त कर चला गया। उसके बाद तीसरा युगल भी वहां आ पहुंचा। देवकी ने उन्हें भी भक्तिपूर्वक दान प्रदान किया। तीसरा मुनियुगल भिक्षा लेकर चला गया। देवकी सोचने लगी— क्या द्वारिका नगरी में अन्यत्र कहीं भी भोजन उपलब्ध नहीं हुआ? तब ही मेरे घर पर मुनि तीन बार भिक्षा के लिए पधारे हैं। सचमुच द्वारिका में मुनियों को आहार नहीं मिल रहा होगा ! प्रभु से पूछ कर निर्णय करूंगी।

देवकी ने प्रभु के पास आकर पूछा— 'प्रभो ! मेरा तो अहोभाग्य है कि आज

मेरे घर पर तीन बार मुनि युगल पधारे। किन्तु द्वारिका में वैसे दान देने की भावना तो विद्यमान है न? साधुओं को शुद्ध आहार का योग तो मिलता है न ?” सुनकर प्रभु मुस्कराये। सहज मुद्रा में कहा—‘नहीं देवकी ! ऐसी बात नहीं है। तीन बार आने वाले वह एक युगल नहीं अलग-अलग थे’। सुनकर देवकी चौंक पड़ी। पुनः पूछा—‘प्रभो ! वे एक जैसे ही तो थे!’

प्रभु बोले— हां, ये सहोदर भाई हैं। रूप-रंग व संस्थान में सर्वथा समान हैं। देवकी-भगवन् ! इन कामदेव जैसे दिव्य रूप के धारक पुत्रों को किस माता ने जन्म दिया?’ प्रभु—‘देवकी ! इनकी माता तो तुम्हीं हो।’

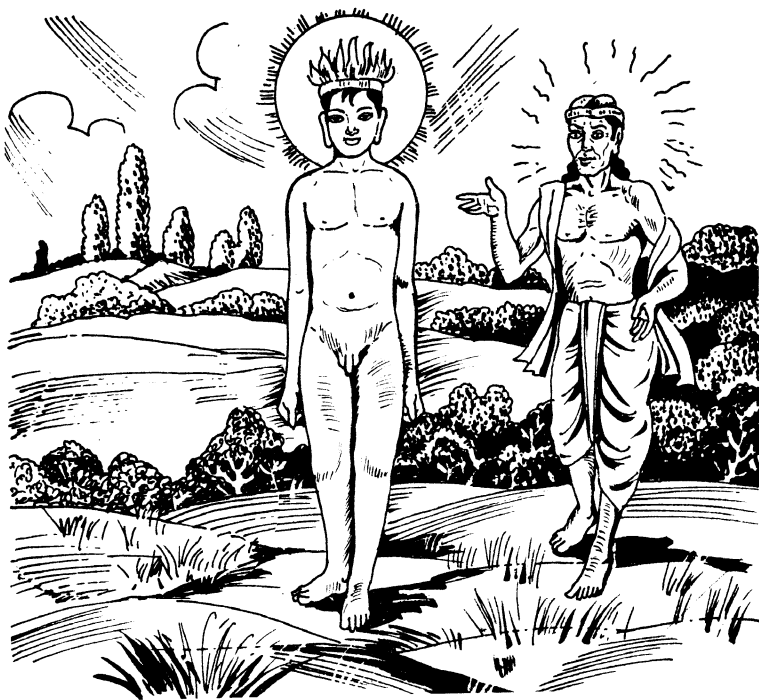
विस्मित देवकी को भगवान् ने आगे बताया—‘भदिलपुर की सुलसा गाथापत्नी की देव-भक्ति से प्रसन्न होकर हरिणगमेषी देव ने तुम्हारे इन पुत्रों को जन्मते ही वहां रख दिया और उसके मृत पुत्रों को तुम्हारे यहां। इन मृत पुत्रों को कंस ने फिकवा दिया था। देवकी! ये तुम्हारे ही अंगजात है। इनका पालन-पोषण हुआ है नाग गाथापति की पत्नी सुलसा की गोद में।’ प्रभु ने छहों मुनियों को उपस्थित होने का निर्देश दिया।

छहों मुनि उपस्थित हुए। एक जैसे छहों पुत्रों पर देवकी के हृदय में अपूर्व वात्सल्य उमड़ पड़ा। स्तनों से दूध की धारा बह चली। अनिमेष नेत्रों से वह उन मुनियों को देखने लगी। बात सुनकर वासुदेव श्रीकृष्ण, बलरामजी आदि पारिवारिक लोग भी आ गये। कृष्ण अपने अग्रजों को देखकर भाव-विह्वल हो उठे। अन्त में वंदन कर सब वापस चले गए। किन्तु देवकी उदास रहने लगी और सोचने लगी—‘सात पुत्रों को जन्म देकर भी मैंने एक को भी दूध नहीं पिलाया, गोद में नहीं खिलाया, अपना वात्सल्य नहीं दिया, फिर क्या है मां बनने में?’ इसी चिन्तन में वह रात-दिन अनमनी सी रहने लगी।

कृष्ण महाराज ने जब अपनी माता से उदासीनता का कारण पूछा तो देवकी की आंखों से अश्रुधारा बह चली। गद्गद् स्वर में अपनी मनोव्यथा सुनाती हुई बोली—‘कृष्ण ! सात-सात दिग्गज पुत्रों को जन्म देकर एक को भी मैंने दूध नहीं पिलाया, गोद में नहीं खिलाया। एक पुत्र को भी, यदि बाल-क्रीड़ा करते देख लेती तो मन में खटक नहीं रहती। कृष्ण महाराज तत्काल उठ कर पौषध शाला में आये, अटढम (तेला) तप करके कुल देव को याद किया। देव के प्रकट होने पर कृष्ण ने पूछा—‘मेरे छोटा भाई होगा या नहीं ?’ देव ने अपने दिव्य ज्ञान से देख कर कहा—‘तुम्हारे एक भाई और होगा, किन्तु वह बचपन में ही दीक्षित हो जायेगा।’ कृष्ण वासुदेव ने देवकी के पास आकर यह सूचना दी—‘स्वर्ग से एक और जीव आपकी कुक्षि से उत्पन्न होगा। इस प्रकार हम सात नहीं, आठ भाई हो जायेंगे।’ सुनकर देवकी अत्यधिक प्रसन्न हुई।

गजसुकुमाल की मुक्ति

कुछ समय पश्चात् देवकी के एक पुत्र का जन्म हुआ। वासुदेव कृष्ण ने अपने भाई का जन्मोत्सव विशेष रूप से मनाया। हाथी के तालु के समान सुकोमल शरीर वाला होने के कारण भाई का नाम 'गजसुकुमाल' रखा गया। गजसुकुमाल बड़े हुए। एकदा श्री कृष्ण ने सोमिल विप्र की सुंदर कन्या को देखा तो विप्र को पूछकर उसे गजसुकुमाल के लिए कुंआरे अंतः पुर में भेज दिया। गजसुकुमाल बचपन में भी बड़े समझदार थे। भगवान् अरिष्टनेमि द्वारिका पधारे। वासुदेव श्री कृष्ण के साथ राजकुमार गजसुकुमाल भी दर्शनार्थ आये, प्रवचन सुना और संसार से विरक्त हो गये। उन्होंने माता-पिता व भाई से दीक्षा की आज्ञा मांगी। सबने रोकने का भरसक प्रयास किया, पर वे अपने निर्णय पर पूर्ण अटल थे। श्री कृष्ण के अत्यन्त



आग्रह पर गजसुकुमाल ने एक दिन के लिए द्वारिका का राजा बनना स्वीकार किया। दूसरे दिन भगवान् के पास दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षित होते ही भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर वे महाकाल श्मशान में गये और वहां भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा में लीन हो गये।

गजसुकुमाल मुनि ध्यान निमग्न थे। उधर सोमिल नामक विप्र यज्ञ की

समिधा (लकड़ी) आदि लेकर आ रहा था। सहसा उसकी दृष्टि मुनि पर पड़ी। देखते ही वह आगबबूला हो उठा। मन ही मन कहने लगा—‘अरे मूढ़ ! साधु ही बनना था, तो फिर मेरी लड़की को कुंआरे अन्तःपुर में क्यों रखा ? उस बेचारी का जीवन ही बर्बाद कर दिया। ऐसे ही तो राजीमती को अन्त में साध्वी बनना पड़ा था। तू तो भिक्षु बन गया, किन्तु वह क्या करेगी?’ इस चिन्तन में उसका क्रोध और अधिक हो गया। उसने मुनि के मस्तक पर गीली मिट्टी से पाल बांध कर धधकते अंगारे उनके नवमुण्डित मस्तक पर रख दिये तथा स्वयं गलियों में छुपता हुआ घर की ओर जाने लगा।

इधर मुनि का मस्तक जलने लगा। किन्तु आत्मा और शरीर की भिन्नता के चिन्तन से मुनि नहीं हटे। कुछ ही क्षणों में इस परमोत्कर्ष चिन्तन से वे सर्वज्ञ बन गये और निर्वाण को प्राप्त कर लिया।

संध्या समय वासुदेव श्रीकृष्ण प्रभु के दर्शनार्थ आए। मुनि गजसुकुमाल को वहां न देख प्रभु से पूछा, तो प्रभु ने फरमाया—‘गजसुकुमाल मुक्त बन चुके हैं, तुम्हें कहां से मिलेंगे ?’ फिर पूछने पर उन्होंने सारी घटना सुना दी। क्षुब्धमना श्रीकृष्ण ने हत्यारे के बारे में पूछा तो भगवान् ने कहा—‘वापस राजमहल जाते हुए तुम्हें देखते ही जो व्यक्ति मर जायेगा, वही गजसुकुमाल का हत्यारा है।’

कृष्ण वासुदेव वहां से चले, शोकाकुल होने के कारण वे राजमार्ग से न जाकर भीतरी रास्ते से राजमहल गये। रास्ते में सोमिल मिल गया। कृष्ण वासुदेव को देखते ही भय से वहीं गिर पड़ा और मर गया। वासुदेव ने जान लिया कि हत्यारा यही है। रस्सी से उसका पैर हाथी के पैर के साथ बांध दिया गया और सारे शहर में घुमाया गया।

उत्कृष्ट तपस्वी ढंढण

एक बार भगवान् नेमिनाथ द्वारिका पधारे। देवों ने समवसरण की रचना की। प्रवचन के उत्सुक द्वारिका के नागरिक विशाल संख्या में पहुंचे। वासुदेव कृष्ण भी आए। प्रवचन हुआ। देशना समाप्ति के बाद वासुदेव कृष्ण ने पूछा—‘भन्ते ! आपके श्रमण संघ में वैसे तो सभी साधनाशील हैं, किन्तु सर्वोत्कृष्ट तपस्वी कौन है ? प्रभु ने कहा,— ‘वैसे तो सभी श्रमण साधनारत हैं, किन्तु तपस्या में उत्कृष्टता आज तुम्हारे पुत्र ढंढण को प्राप्त है। उसे दीक्षा लिये आज छह महिने बीत गये पर उसने मुख में पानी तक नहीं लिया’।

प्रभु ने आगे कहा—‘मैंने दीक्षा के दिन ही उसे कहा था—किसी दूसरे साधु के साथ जाओगे तो भोजन मिल जायेगा, वरना अन्तराय है, तब तक ये कर्म रहेंगे तब तक आहार पानी मिलेगा नहीं। ढंढण ने उसी क्षण मेरे से यह अभिग्रह ले लिया था कि उसे जिस दिन स्वयं की लब्धि का आहार मिलेगा, उसी दिन

वह ग्रहण करेगा। उससे पहले आहार मात्र का त्याग रहेगा। उस दिन से मुनि ढंढण नियमित गोचरी जाता है और समभाव से वापिस आकर स्वाध्याय-ध्यान में प्रवृत्त हो जाता है। वैसे छह महीने की तपस्या करना आसान नहीं है। वास्तव में ढंढण घोर तपस्वी है, उत्कृष्ट तपस्वी है।'

वासुदेव कृष्ण ने भावविह्वल होकर पूछा—'ढंढण मुनि अभी कहां हैं? मैं उनके दर्शन करूंगा।' प्रभु ने कहा—'राजमहल जाते हुए तुम्हें ढंढण के दर्शन रास्ते में हो जायेंगे।' वासुदेव कृष्ण वन्दन करके राजमहल की ओर चल पड़े। रास्ते में ढंढण मुनि गोचरी करते हुए मिले। वासुदेव कृष्ण हाथी से नीचे उतरे, विधिवत् वन्दना की। भगवान् नेमिनाथ के धर्मसंघ में उत्कृष्ट तपस्वी आप ही हैं, यह सुखद सूचना भी दी। मुनि मध्यस्थ भाव से आगे बढ़ गये। कृष्ण महाराज राजमहल की ओर चल पड़े।

मुनि कुछ कदम आगे बढ़े। एक श्रेष्ठी अपने भवन से नीचे उतरा, वन्दना की व भिक्षा के लिये प्रार्थना की। मुनि गये, केशरिया मोदक एक थाल में भरे हुए थे। मुनि ने गवेषणा की, मोदक लिये। मन में सोचा—'आज अन्तराय कर्म टूटा है, छह महीनों के बाद मुझे अपनी लब्धि का आहार मिला है। आज पारणा होगा।'

भगवान् के पास जाकर मुनि ने मोदक दिखलाए। पारणे की आज्ञा ली, प्रभु ने गम्भीर स्वर में कहा—'ढंढण ! तुझे पारणा करना नहीं कल्पता। यह आहार तुम्हारी लब्धि का नहीं, कृष्णजी की लब्धि का है। कृष्णजी ने जब तुम्हें राज पथ में वन्दना की उस समय श्रेष्ठी ने देख लिया था। कृष्ण महाराज प्रसन्न होंगे, इस भावना से उसने मोदक का दान दिया है। तुम्हारे से आकर्षित होकर या दान-भावना से दान नहीं दिया।'

भगवान् के वचनों को स्वीकार करते हुए ढंढण ने प्रार्थना की—'प्रभो ! आज्ञा दें, इन मोदकों का परिष्ठापन कर दूं ? मेरी लब्धि का न होने से मेरे लिए अखाद्य हैं, अभिग्रही होने के कारण दूसरों को दे नहीं सकता।' भगवान् ने आज्ञा दी। ढंढण जंगल की ओर चल पड़े। जंगल में अचित्त स्थान देख कर मोदकों को मिट्टी के साथ चूरने लगे। छह महीनों से भूखे होने पर भी उनकी भावना में कोई अन्तर नहीं पड़ा। प्रत्युत भावों की ऊर्ध्वगति और तीव्रता से होने लगी। इधर मोदक चूर रहे थे, उधर कर्म क्षीण हो रहे थे। कुछ ही समय में क्षपक-श्रेणी लेकर उन्होंने केवलत्व को प्राप्त किया। देवों ने केवल महोत्सव किया। अब ढंढण मुनि अन्तराय रहित थे। छह महीनों के बाद सर्वज्ञ बनकर उन्होंने पारणा किया।

द्वारिका-दहन की घोषणा

भगवान् नेमिनाथ ने अपने सर्वज्ञकाल में अनेक जनपदों की यात्रा की किन्तु

सर्वाधिक लाभ द्वारिका को मिला। अनेक बार वे वहां पधारे, पावस प्रवास भी किया। एक बार प्रभु द्वारिका पधारे, तो वासुदेव कृष्ण सहित राज परिवार के लोग व द्वारिका के नागरिक रेवतगिरि पर्वत पर समवसरण में आए। भगवान् ने प्रवचन किया। अनित्य भावना का विशेष विश्लेषण किया।

प्रवचन के बाद वासुदेव कृष्ण ने पूछा—‘भन्ते ! हर वस्तु अनित्य है, उत्पत्ति के बाद विनाश अनिवार्य है, अतः हमें बतायें कि साक्षात् स्वर्गपुरी सदृश इस द्वारिका का विनाश कब होगा?’ भगवान् ने कहा—‘आज से बारह वर्ष बाद, दीपायन ऋषि के क्रुद्ध होने के कारण द्वारिका का दहन होगा।’ दहन की बात सुनते ही सब कांप उठे। कृष्ण वासुदेव ने पुनः पूछा— ‘भन्ते ! दीपायन ऋषि द्वारिका का दहन क्यों करेगा?’ प्रभु ने बताया—‘मदिरा से उन्मत्त यादव कुमारों के सताने पर ऋषि क्रुद्ध होकर द्वारिका के दहन का निदान करेगा। वह मर कर देव होगा और द्वारिका का दहन करेगा?’

कृष्ण ने पूछा—‘मेरी मृत्यु किससे होगी?’

भगवान्—‘जराकुमार के बाण से।’

सब स्तंभित थे, विस्मित थे। अनेक व्यक्ति विरक्त होकर दीक्षित हो गये। दीपायन ऋषि स्वयं जंगल में रहने लगे। जराकुमार म्लान मना होकर वनवासी बन गया।

मदिरा-निषेध

नगर में चारों तरफ एक ही चर्चा थी। सर्वत्र आतंक सा छा गया था। सबने मिलकर निर्णय लिया कि दहन का हेतु मदिरा है तो इसे खत्म कर दो। मद्य के अभाव में ऋषि को कोई सतायेगा नहीं, बिना सताये ऋषि क्यों दहन करेगा? एक मद्य के निषेध से सारी समस्या हल हो जायेगी। इस निर्णय के अनुसार जितना मद्य-संग्रह था उसे दूर जंगलों में गिरवा दिया गया। नया बनाना सर्वथा बन्द करवा दिया तथा द्वारिका की सीमा में मद्य पर कड़ा प्रतिबंध लगा दिया।

दीक्षा की दलाली

कृष्ण वासुदेव ने द्वारिका-दहन की भविष्यवाणी के बाद द्वारिका में एक उद्घोषणा करवा कर लोगों को सूचित किया—‘किसी को अगर दीक्षा लेनी हो तो वह शीघ्रता करे, उनके अगर व्यावहारिक कठिनाई हो तो मैं दूर करूंगा। किसी के माता-पिता वृद्ध हों तो उनकी सेवा मैं करूंगा। अगर किसी की संतान छोटी है तो उसका पालन-पोषण मैं करूंगा। दीक्षा लेने वाले निश्चित होकर दीक्षा लें। मैं अभी गृहस्थ में हूँ, अतः व्यावहारिक जिम्मेदारी सारी मैं उठाऊंगा।’ इस घोषणा से प्रभावित होकर हजारों व्यक्ति साधु बने।

दीपायन का निदान

भवितव्यता मिटाई मिट नहीं सकती। मदिरा के भंडार समाप्त कर दिये गये थे। द्वारिका में पूर्णतया मद्य निषेध लागू हो गया था। पूरी जागरूकता बरतने के बावजूद भी जो निमित्त मिलना था वह तो मिला ही। पावस ऋतु में जोरों की वर्षा हुई। आस-पास के ताल-तलैया सब भर गये। शाम्ब आदि अनेक यादव कुमार भ्रमण के लिए निकले। घूमते-घूमते वे दूर जंगल में चले गये। प्यास लगी, वहीं पर गड़दों में एकत्रित पानी से प्यास बुझाई। उस पानी में गिराई हुई शराब बहकर आई हुई थी। प्यास तो बुझ गई किंतु उन्मत्तता आ गई। सभी मदहोश हो गये। संयोगवश थोड़ी दूरी पर उन्हें दीपायन ऋषि मिल गये। नशे में उन्मत्त यादव कुमारों ने ऋषि को खूब सताया। ऋषि लंबे समय तक शांत रहे, किंतु अन्त में युवकों की यातना से वे उत्तेजित हो उठे। सोचने लगे— 'ऐसे युवक ही अब द्वारिका में रहे हैं, बाकी तो सब दीक्षित हो चुके हैं। इनको तो भस्म करना ही ठीक है।' ऋषि ने गुस्से में चिल्लाकर कहा— 'तुम अभी सताते हो, मैं तुम्हारा बदला पूरी द्वारिका को जलाकर लूंगा।'

यह सुनते ही युवकों को होश आया। उनका नशा झटके के साथ उतर गया। सब पश्चात्ताप करने लगे। यादव कुमारों की उद्दण्डता का पता श्री कृष्ण को लगा। श्रीकृष्ण और बलराम जी ने आकर ऋषि का खूब अनुनय-विनय किया। अत्यन्त विनय करने के बाद भी दीपायन ऋषि ने सिर्फ इतना ही कहा— 'तुम दोनों भाइयों को छोड़ूंगा। शेष द्वारिका में कुछ नहीं बचेगा। सब कुछ स्वाहा करके ही मैं शांत बनूंगा।' स्पष्ट उत्तर मिलने पर श्रीकृष्ण और बलरामजी दोनों निराश होकर वापस आ गये।

तीर्थकरत्व की भविष्यवाणी

भगवान् नेमिनाथ पुनः द्वारिका पधारे। कृष्ण वासुदेव ने दर्शन किये, किन्तु आज वे खिन्नमना थे। प्रभु से कहने लगे— 'लोग भारी संख्या में संयम ले रहे हैं, क्या मेरे कोई अन्तराय है?' भगवान् ने कहा— 'कृष्णजी ! वासुदेव के साथ कुछ ऐसी नियति होती है कि वे साधु नहीं बनते, किन्तु तुम्हें विषाद नहीं करना चाहिये। अगली उत्सर्पिणी में आप 'अमम' नाम के बारहवें तीर्थकर बनोगे। ये बलरामजी आपके धर्म शासन में मुक्त बनेंगे।' यह सुनते ही सर्वत्र हर्ष छा गया।

भगवान् विहार कर गए। लोग धर्म की विशिष्ट उपासना करने लगे। उपवास, आर्यबिल विशेष रूप से होने लगे। इधर दीपायन आयुष्य पूर्ण कर अग्निकुमार देव के रूप में उत्पन्न हुआ। उन्होंने अवधि दर्शन से देखा। पूर्व वैर जागृत हुआ। तत्काल देव द्वारिका दहन के लिए पृथ्वी पर आ गया। किन्तु घर-घर में धर्म की समुचित उपासना देखकर वह द्वारिका को जला नहीं सका। वर्षों तक वह द्वारिका के

आस-पास घूमता रहा। छिद्र देखता रहा। कहीं कमी हो तो किसी तरह अपनी इच्छा पूरी करे। आयंबिल की सतत उपासना होने से वह वैसा नहीं कर सका।

ग्यारह वर्ष से ऊपर समय बीत गया। लोगों ने सोचा-संकट का समय निकल चुका है। अब इस तपस्या की क्या जरूरत है? विचारों में हास एक साथ ही आया और सबने तपस्या छोड़ दी। दीपायन को अवसर मिल गया। उसने अग्निवर्षा की और सब कुछ जलाना चाहा। वासुदेव कृष्ण और बलरामजी अपने पिता वसुदेव, माता रोहिणी और देवकी को रथ में बिठाकर, स्वयं रथ को चलाकर नगर से बाहर ले जाने लगे। किंतु राजमहल से बाहर आते-आते बीच में दीवार गिर पड़ी। कृष्ण और बलराम तो बाहर आ गये। किन्तु माता और पिता अन्दर ही रह गए। वसुदेवजी जी ने कहा—‘तुम हमारी चिन्ता छोड़ो और सकुशल जाओ। हम अब भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं।’

बलराम की दीक्षा

पूरी द्वारिका में स्त्री-पुरुषों व बच्चों का क्रंदन हो रहा था। बलदेव व वासुदेव को आज पहली बार अपनी मजबूरी का अनुभव हुआ। भारी मन से दोनों वहां से रवाना हुए। शत्रु राजाओं एवं मार्गवर्ती प्राकृतिक कठिनाइयों को पार करते हुए दुर्गम कौशंबी वन में दोनों भाई पहुंचे। वासुदेव को भयंकर प्यास लगी। भाई बलराम से उन्होंने कहा—‘दाऊ ! बड़ी जबर्दस्त प्यास लगी है। अब तो बिना पानी के एक डग भी नहीं रखा जाता। मुझे पानी पिलाओ।’

बलराम पानी की खोज में निकले। अत्यन्त क्लान्त होने से वासुदेव पीतांबर ओढ़ कर लेट गये। जरा कुमार उसी जंगल में वनवासी होकर रह रहा था। दैव योग से उसने पीतांबर ओढ़े श्री कृष्ण को हरिण समझ कर बाण चला दिया जो उनके दाएं पैर पर लगा। लगते ही वासुदेव बोले—‘कौन है यह बाण चलाने वाला! मेरे सामने तो आओ।’

श्री कृष्ण की आवाज जराकुमार से अपरिचित नहीं थी। निकट आकर बोले—यह तुम्हारा अभागा भाई जराकुमार हूं। तुम्हारे प्राणों की रक्षा हेतु वनवासी बना पर दुर्देव से मैं तुम्हारे प्राणों का ग्राहक बन गया।’ कृष्ण ने संक्षेप में द्वारिका दाह, यादव कुल विनाश आदि का वृत्तांत बताते हुए जराकुमार को अपनी कौस्तुभमणि दी और कहा—‘हमारे यादव कुल में केवल तुम ही बचे हो, अतः पाण्डवों को यह मणि दिखाकर उनके पास ही रहना। शोक का त्याग कर शीघ्र ही यहां से चले जाओ। बलराम जी आने ही वाले हैं। उन्होंने यदि तुम्हें देख लिया तो तुरन्त मार डालेंगे।’

श्रीकृष्ण के समझाने पर जरा कुमार ने पांडव मथुरा की ओर प्रस्थान कर दिया। प्यास के साथ बाण की तीव्र वेदना से पीड़ित श्री कृष्ण ने एक हजार वर्ष

की आयु पूर्ण कर अपनी जीवन लीला समाप्त की। थोड़ी देर बाद बलरामजी पानी लेकर पहुंचे। काफी देर विलाप किया। लंबे सनय तक कृष्ण के जागने की प्रतीक्षा में रहे। आखिर उनके सारथि सिद्धार्थ ने जो मुनि बनकर देव बन गये थे, आकर समझाया। बलराम जी मुनि बन गये। कठोर साधना कर पांचवें देवलोक में महर्द्धिक देव बने।

पांडवों की मुक्ति

श्री कृष्ण के अंतिम आदेश का पालन करते हुए जराकुमार पांडु मथुरा पहुंचे। पांडवों से मिले और द्वारिका दाह, यदु वंश विनाश और अपने बाण से श्रीकृष्ण के निधन के समाचार सुनाये। अपने अनन्य उपकारक श्रीकृष्ण की मृत्यु की बात सुनकर पांडव व द्रौपदी विलाप करने लगे। उन्हें कृष्ण के बिना सारा जगत् सूना लगने लगा। उन्हें इस असार संसार से विरक्ति हो गयी।

आचार्य धर्मघोष पांच सौ मुनियों के साथ पांडु मथुरा पधारे। पांडवों ने प्रवचन सुना और विरक्त हो गये। जराकुमार को राज्य सौंपकर उनके पास दीक्षा ले ली। दीक्षित होते ही पांचों पांडव कठोर तपस्या करने लग गये। पांचों मुनियों के मन में भगवान् के दर्शन करने की भावना जागी। गुरु आज्ञा प्राप्त कर ये प्रस्थित हुए। उज्जयंत गिरि से बारह योजन दूर हस्त कल्प नगर में पधारे। वहां युधिष्ठिर मुनि स्थान पर रहे। शेष चारों मुनि— भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव भिक्षार्थ नगर में निकले। वहां उन्होंने नगर जनों से सुना कि भगवान् अरिष्टनेमि ने निर्वाण प्राप्त कर लिया है, तो बड़े खिन्न हुए। स्थान पर आकर युधिष्ठिर मुनि को निवेदन किया। सबने मिलकर शत्रुंजय पर्वत पर संथारा किया और केवल ज्ञान प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बने। आर्या द्रौपदी भी साधुत्व का पालन करती हुई पंचम देवलोक में देव बनी। इतिहास प्रसिद्ध मुनि थावच्चा पुत्र भी भगवान् के शिष्य बने। शुकदेव संन्यासी भी तत्त्व समझ कर मुनि बने।

भगवान् अरिष्टनेमि के शासन काल में अंतिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त हुए। कंपिलपुर नरेश ब्रह्म पिता व चूलनी माता थी। बचपन बड़ा कष्ट में बीता। आखिर वे छह खंड के चक्रवर्ती सम्राट् बने।

निर्वाण

भगवान् ने अपने भव-विपाकी कर्मों (वेदनीय, नाम, गोत्र, आयुष्य) का अंत निकट देखकर पांच सौ छत्तीस चरम शरीरी (तद्भव मोक्ष जाने वाले) मुमुक्षुओं के साथ रेवतगिरि पर्वत पर आजीवन अनशन व्रत स्वीकार कर लिया। भगवान् ने तीस दिनों के अनशन में नश्वर शरीर को छोड़कर सिद्धत्व को प्राप्त कर लिया। चौसठ इंद्रों व देवताओं की भारी भीड़ भगवान् के शरीर के निहरण समारोह में आई। जनता की भीड़ का तो ठिकाना ही क्या! जिधर देखो उधर आदमी ही आदमी

नजर आ रहे थे। सबके हृदय में भगवान् के विरह का भारी विषाद था।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	११
० केवलज्ञानी	—	१५००
० मनः पर्यवज्ञानी	—	१०००
० अवधिज्ञानी	—	१५००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	१५००
० चतुर्दश पूर्वी	—	४००
० चर्चावादी	—	८००
० साधु	—	१८,०००
० साध्वी	—	४०,०००
० श्रावक	—	१,६९,०००
० श्राविका	—	३,३६,०००

एक झलक—

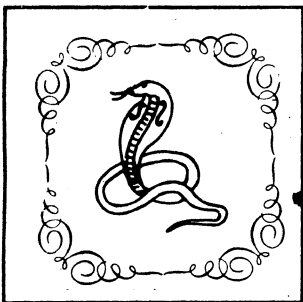
० माता	—	शिवा
० पिता	—	समुद्रविजय
० नगरी	—	सौरीपुर
० वंश	—	हविंश
० गोत्र	—	गौतम
० चिन्ह	—	शख
० वर्ण	—	श्याम
० शरीर की ऊंचाई	—	१० धनुष्य
० यक्ष	—	गोमेध
० यक्षिणी	—	अंबिका
० कुमार काल	—	३०० वर्ष
० राज्य काल	—	नहीं
० छद्मस्थ काल	—	५४ दिन
० कुल दीक्षा काल	—	७०० वर्ष
० आयुष्य	—	१ हजार वर्ष

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	—	कार्तिक कृष्णा १२	अपराजित
० जन्म	—	सावन शुक्ला ५	सौरीपुर
			चित्रा
			चित्रा

१५४/तीर्थकर चरित्र

० दीक्षा	—	सावन शुक्ला ६	द्वारिका	चित्रा
० केवलज्ञान	—	आसोज कृष्णा १५	रेवतगिरि	चित्रा
० निर्वाण	—	आषाढ शुक्ला ८	रेवतगिरि	चित्रा



(२३)

भगवान् श्री पार्श्वनाथ

प्रथम व द्वितीय भव

भगवान् पार्श्वनाथ के दस भवों का विवेचन मिलता है। पोटनपुर नगर के नरेश अरविन्द थे। उनकी रानी रतिसुंदरी थी। नरेश के पुरोहित का नाम विश्वभूति था। उसकी पत्नी अनुद्धरा थी। पुरोहित के दो पुत्र थे— कमठ और मरुभूति। कमठ कुटिल प्रकृति का था जबकि मरुभूति भद्र प्रकृति का। यह मरुभूति पार्श्व का जीव था। कमठ व मरुभूति का विवाह क्रमशः वरुणा व वसुन्धरा के साथ हुआ।

कमठ को परिवार का भार सौंप कर पुरोहित विश्वभूति ने दीक्षा ले ली। मरुभूति हरिश्चन्द्र आचार्य के पास श्रावक बन गया। मरुभूति की पत्नी वसुन्धरा अत्यन्त रूपवती थी। कमठ ने उसे चाल में फंसा कर अपनी प्रेमिका बना लिया। एक दिन दोनों को व्यभिचार में रत देखकर मरुभूति ने राजा से शिकायत की। राजा ने कमठ को बुलाया और उसे गधे पर बिठाकर शहर में घुमाया और नगर से निष्कासित कर दिया।

कमठ क्रोधित होकर तापस बन गया। कालांतर में उसकी उग्र तपस्वी के रूप में प्रसिद्धि हुई। मरुभूति क्षमा मांगने के लिए कमठ के पास आश्रम में आया। मरुभूति को देखते ही कमठ ने क्रुद्ध होकर एक बड़ी शिला उठाकर उसके माथे पर दे मारी, जिससे वह वहीं पर ढेर हो गया। वह मरकर विन्ध्यगिरि में हथिनियों का यूथपति बना। कमठ की पत्नी वरुणा पति के बुरे कामों से शोक ग्रस्त होकर मरी और वह उसी अटवी में यूथपति की प्रिय हथिनी बनी।

तृतीय भव

पोतनपुर नरेश अरविन्द ने अपने पुत्र महेन्द्र को राज्य भार देकर दीक्षा स्वीकार की। विचरते-विचरते मुनि अरविन्द विन्ध्य अटवी में पहुंचे और कायोत्सर्ग में लीन हो गये। उस समय वह हाथी अपनी हथिनियों के साथ सरोवर में जल क्रीड़ा करके निकला। अजनबी व्यक्ति को देखकर हाथी मुनि पर झपटा पर सहसा उनके पास आकर रुक गया। मुनि के प्रखर आभामंडल के प्रभाव से उसकी क्रूरता समाप्त हो गई और वह मुनि को एकटक देखने लगा।

अवधिज्ञान से उसके पूर्व भव को जानकर मुनि ने उसे संबोधित किया। हाथी के पास जो हथिनी खड़ी थी, वह पूर्व भव में कमठ की पत्नी वरुणा थी। दोनों को जाति स्मरण ज्ञान हो गया। हाथी अब श्रावक बन गया। यथा संभव वह सूखी घास व पत्ते खाता। शुष्क आहार से उसका शरीर क्षीण हो गया।

एक दिन पानी पीने के लिए सरोवर में गया। वहां वह दलदल में फंस गया। प्रयत्न करने पर भी वह निकल नहीं पाया। उधर कमठ के द्वारा अपने भाई की हत्या करने से आश्रम के सारे तापस नाराज हो गये और उसे निकाल दिया। वह मरकर कुक्कुट सर्प बना। वह सर्प वहां पहुंचा और हाथी को जहरीला डंक मारा। हाथी के शरीर में जहर व्याप गया। समभाव पूर्वक आयु पूर्ण कर हाथी आठवें सहस्रार देवलोक में महर्द्धिक देव बना। वरुणा का जीव हथिनी भी मृत्यु पाकर दूसरे देवलोक में देवी बनी। कमठ का जीव मरकर पांचवीं नरक में नैरयिक बना।

चौथा व पांचवां भव

• पूर्व विदेह के सुकच्छ विजय में तिलका नगरी थी। उसमें विद्युत्वेग विद्याधर राज्य करता था। उसकी रानी कनक तिलका थी। मरुभूति (पार्श्व का जीव) का जीव आठवें देवलोक से च्यवकर कनक तिलका के गर्भ में पुत्र रूप में जन्मा। नाम रखा किरणवेग। युवा होने पर पद्मावती आदि अनेक राजकन्याओं के साथ उसका विवाह हुआ। पिता की दीक्षा के बाद वह राजा बन गया। किरणवेग ने भी कालान्तर में अपने पुत्र किरणतेज को राज्य देकर दीक्षा ग्रहण की।

मुनि किरणवेग एक बार हिमगिरि पर्वत की गुफा में ध्यान कर रहे थे। जिस कुक्कुट सर्प ने हाथी को काटा था वही पांचवीं धूमप्रभा नरक से निकल कर उसी पर्वत क्षेत्र में विशालकाय अजगर बन गया। धूमता हुआ ज्योंही वहां आया और मुनि किरणवेग को देखा, उसका पूर्व वैर जागृत हो गया। उसने तत्काल मुनि को निगल लिया। समभाव से अपना आयुष्य संपूर्ण कर मुनि किरणवेग बारहवें अच्युत स्वर्ग में देव बने। अजगर भी मरकर छठी तमः प्रभा नरक में उत्पन्न हुआ। (महाविदेह क्षेत्र का यह एक आश्चर्य हुआ। नियम यह है कि अजगर आदि उर परिसर्प जाति के जीव पांचवीं नरक तक उत्पन्न होते हैं)

छठा एवं सातवां भव

जंबू द्वीप के पश्चिम महाविदेह की सुकच्छ विजय के अश्वपुर नगर में राजा वज्रवीर्य व महारानी लक्ष्मीवती के किरणवेग मुनि का जीव वज्रनाभ नामक पुत्र हुआ। युवावस्था में विवाह किया और कालांतर में राजा बने। पुत्र चक्रायुध को राज्य देकर वज्रनाभ ने मुनि क्षेमंकर के पास दीक्षा अंगीकार की।

अजगर का जीव नरक से निकल कर ज्वलन गिरि के भयंकर जंगल में कुरंग नाम का भील हुआ। स्वभाव से वह बड़ा क्रूर था। जंगल के वन्य प्राणियों के साथ

वह अत्यन्त क्रूरता पूर्वक व्यवहार करता था।

घूमते विचरते मुनि वज्रनाभ उस ज्वलनगिरि जंगल में पहुंचे। एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ मुनि को देख कर कुरंग का वैर जाग उठा। तत्काल धनुष उठाया और बाण चढ़ाकर मुनि पर चलाया। मुनि का प्राणांत हो गया। वे ग्रैवेयक में अहमिन्द्र बने। जीवन भर हिंसक प्रवृत्तियों में रत रहने के बाद वह भील सातवीं नरक का नैरयिक बना।

तीर्थकर गोत्र का बंध

जंबू द्वीप के पूर्व महाविदेह में पुराणपुर के राजा कुलिसबाहु की धर्मपत्नी सुदर्शना को एकदा रात्रि में चौदह स्वप्न आये। महारानी जागृत होते ही रोमांचित हो उठी। राजा को जगाकर उसने सारा घटना क्रम बतलाया। हर्ष विभोर राजा ने कहा—‘रानी ! हमें तो प्रतीक्षा केवल पुत्र की थी, किन्तु हमारे राजमहल में तो कोई इतिहास पुरुष पैदा होने वाला है। सचमुच तेरी कुक्षि पवित्र हैं इस संतान से हम विश्वविश्रुत हो जायेंगे। रात्रि का शेष समय अब धर्म-जागरण में पूरा करो, किसी दुःस्वप्न से स्वप्न फल नष्ट न हो जाये।’

गर्भकाल पूरा होने पर पुत्र का जन्म हुआ। राजा ने जन्मोत्सव किया तथा पुत्र का नाम स्वर्णबाहु रखा। स्वर्णबाहु जब पढ़-लिखकर तैयार हुआ तब राजा कुलिसबाहु ने उसको आदेश दिया— अब तुम्हें थोड़ा प्रशासन का अनुभव भी प्राप्त करना चाहिए। इस पर राजकुमार प्रतिदिन राजकार्य में अपना समय लगाने लगा।

एक बार स्वर्णबाहु अश्व पर बैठकर घूमने गया। अश्व बेकाबू हो गया। वह कुमार को गहन जंगलों में ले गया। गाल्व ऋषि के आश्रम के पास घोड़ा थक कर उतर गया। कुमार उतरा, आसपास घूमने लगा। उसने आश्रम के निकट एक लताकुंज में कुछ कन्याओं को क्रीड़ा करते हुए देखा। उनमें एक कन्या विशेष रूपवती एवं लावण्यवती थी। उसका नाम पद्मा था। देखते ही कुमार उस सुन्दरी पर आसक्त हो गया। वह उसके रूप को टकटकी लगाकर देखने लगा।

कन्या के ललाट पर चंदन आदि विशेष सुगंधित द्रव्यों का विलेपन किया हुआ था। उसकी गंध से आकर्षित होकर पास के झुरमुटों में से भ्रमरों का झुण्ड कन्या पर मंडराने लगा। कन्या के कई बार हाथ से दूर करने पर भी भ्रमर ललाट पर आ-आकर गिर रहे थे। सहसा भयत्रस्त कन्या चिल्लाई, शेष लड़कियां भी भयभीत हो गईं। कुमार ने अवसर देखकर अपने उत्तरीय से भंवरो को हटाया। कुमार द्वारा अयाचित सहायता करने से सभी कन्यायें उसकी ओर आकर्षित हुईं, परिचय पूछा। कुमार ने अपना नाम तथा परिचय दिया। परिचय पाकर सभी प्रफुल्लित हो उठी। उनमें से एक युवती बोली—“राजकुंवर ! हम धन्य हैं। आज हमें जिनकी प्रतीक्षा थी, वे हमें मिल गये हैं। आज ही प्रातः राजमाता रत्नावली

के पूछने पर गाल्व ऋषि ने कहा था— पद्मा भाग्यशालिनी है, आज स्वर्णबाहु नामक राजकुमार आयेगा और वही इनका पति होगा। स्वर्णबाहु साधारण राजकुमार नहीं है, कुछ समय में चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा।’

राजकुमार को कन्या का परिचय देती हुई युवती बोली— ‘यह राजा खेचरेन्द्र की पुत्री पद्मा है, हम सब इनकी सहेलियां हैं। राजा के शरीरांत के पश्चात् पद्मा की सुरक्षा की दृष्टि से महारानी आश्रम में रहती हैं। वह यह सब बता ही रही थी कि इतने में गाल्व ऋषि और रानी रत्नावली वहीं आ गए। उन्होंने आग्रहपूर्वक कुंवर के साथ राजकुमारी पद्मा का गंधर्व विवाह कर दिया।

पीछे से सेना के सैनिक कुमार को खोजते-खोजते वहां आ पहुंचे। कुमार को वहां पत्नी सहित देखकर वे विस्मित हो उठे।

स्वर्णबाहु अपनी पत्नी पद्मा को लेकर अपने नगर पहुंचा। राजा कुलिसबाहु भी पुत्रवधू को देखकर अत्यधिक प्रसन्न हुए। विवाह के उत्सव के साथ उन्होंने पुत्र का राज्याभिषेक भी कर दिया। राजा स्वयं साधना-पथ पर अग्रसर हो गये।

कालान्तर में स्वर्णबाहु की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। उससे सभी देश विजित कर वे सार्वभौम चक्रवर्ती बने। सुदीर्घकाल तक राज्य का संचालन करते रहे। एकदा वे तीर्थकर जगन्नाथ के समवसरण में दर्शनार्थ गये। समवसरण में प्रवेश करते ही उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अपना पूर्वभव देखते ही उन्होंने विरक्त होकर पुत्र को राज्य सौंपा तथा स्वयं जिन-चरणों में दीक्षित होकर साधनामय जीवन बिताने लगे।

उग्र तपस्या तथा ध्यान साधना से उन्होंने महान् कर्म-निर्जरा की। तीर्थकर गोत्र का बन्ध किया। एक बार वे जंगल में कायोत्सर्ग कर रहे थे। अनेक योनियों में भटकता हुआ कुरंग भील का जीव सिंह बना। मुनि को देखते ही क्रुद्ध होकर वह उन पर झपटा। मुनि ने अपना अन्त समय निकट देखकर अनशन कर लिया तथा समाधिपूर्वक मरण प्राप्त कर महाप्रभ विमान में सर्वाधिक ऋद्धि वाले देव बने।

जन्म

परम सुखमय देवायु भोगकर वे इसी भरत क्षेत्र की वाराणसी के नरेश अश्वसेन की महारानी वामादेवी की पवित्र कुक्षि में अवतरित हुए। चौदह महास्वप्नों से सभी जान गये कि हमारे राज्य में तीर्थकर पैदा होंगे। सर्वत्र हर्ष का वातावरण छा गया। सब प्रसव की प्रतीक्षा करने लगे।

गर्भकाल पूरा होने पर पौष कृष्णा दशमी की मध्य रात्रि में भगवान् का सुखद प्रसव हुआ। देवेन्द्रों के उत्सव के बाद राजा अश्वसेन ने राज्य भर में जन्मोत्सव का विशेष आयोजन किया। पुत्र जन्म की खुशी का लाभ राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को मिला। उत्सव के दिनों में कर-लगान आदि सर्वथा समाप्त कर दिये गये।

बंदी-गृह खाली कर दिये गये और याचकों को अयाचक बना दिया गया।

नाम के दिन विराट् प्रीतिभोज रखा गया। नाम देने की चर्चा में राजा अश्वसेन ने कहा— 'इसके गर्भकाल में एक बार मैं रानी के साथ उपवन में गया। वहां अंधेरी रात्रि में एक कालिन्दर सर्प आ निकला। काली रात और काला नाग, कैसे दृष्टिगत हो? फिर भी पार्श्व में चलता हुआ सर्प रानी को दिखाई दे गया। वह मुझे जगाकर वहां से अन्यत्र ले गई तभी मैं जीवित बच सका। मेरी दृष्टि में यह गर्भ का ही प्रभाव था, अतः बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा जाये।' सभी ने बालक को इसी नाम से पुकारा।

विवाह

तारुण्य में प्रवेश करते ही पार्श्वकुमार के सुगठित शरीर में अपूर्व सौंदर्य निखर आया। उनके सौन्दर्य की चर्चा दूर-दूर तक फैल गई।

कुशस्थलपुर नरेश प्रसेनजित की पुत्री राजकुमारी प्रभावती ने पार्श्वकुमार के रूप-सौंदर्य का बखान सुनकर मन ही मन प्रतिज्ञा कर ली कि मेरे इस जन्म के पति पार्श्वकुमार ही हैं। विश्व के शेष युवक मेरे भाई के समान हैं। माता-पिता भी इस प्रतिज्ञा को सुनकर प्रसन्न हुए। वे जल्दी ही अपने मंत्री को वाराणसी भेजने वाले थे कि उन्हीं दिनों कलिंग का युवा नरेश यवन प्रभावती के सौंदर्य की चर्चा सुनकर उससे विवाह के लिए आतुर हो उठा। किन्तु जब उसे प्रभावती की प्रतिज्ञा का पता चला तो रुष्ट होकर बोला— कौन होता है पार्श्वकुमार ? मेरे होते हुए प्रभावती से कोई भी विवाह नहीं कर सकता। उसने तत्काल ससैन्य कुशस्थलपुर को घेर लिया तथा राजा प्रसेनजित से कहलवाया—या तो प्रभावती को दे दो या फिर युद्ध करो।

प्रसेनजित धर्मसंकट में पड़ गया। कन्या की इच्छा के विरुद्ध उसका विवाह कैसे किया जाए? युद्ध करना भी आसान नहीं है। प्रसेनजित ने एक दूत वाराणसी भेजा तथा राजा अश्वसेन के समक्ष सारी स्थिति रखी। दूत से जानकारी मिलने पर अश्वसेन ने क्रुद्ध होकर सेना को तैयार होने का आदेश दे दिया। पार्श्वकुमार भी रणभेरी सुनकर पिताजी के पास आये और स्वयं के युद्ध में जाने की इच्छा प्रकट की। अश्वसेन ने पुत्र का सामर्थ्य देखकर सहर्ष उसे जाने की अनुमति दे दी। इधर शक्रेन्द्र ने अपने सारथी को शस्त्र आदि से सज्जित रथ देकर पार्श्वकुमार की सेवा में भेजा। देव-सारथी ने उपस्थित होकर पार्श्व को नमस्कार किया और इंद्र द्वारा भेजे गये रथ पर बैठकर युद्ध में पधारने की प्रार्थना की। पार्श्वकुमार उसी रथ में बैठकर गगन मार्ग से कुशस्थलपुर की तरफ चले। चतुरंगिणी संन उनके पीछे-पीछे जमीन पर चल रही थी।

वाराणसी से प्रस्थान करते ही पार्श्वकुमार ने एक दूत यवनराज के पास भेजा।

उसने जाकर यवनराज से कहा—‘राजन् ! परम कृपालु देवेन्द्र पूज्य पार्श्वकुमार ने आपसे कहलवाया है कि कुशस्थलपुर नरेश ने अश्वसेन राजा की शरण ग्रहण की है; अतः कुशस्थलपुर का घेरा खत्म करो, अन्यथा आपकी कुशल नहीं है।’ उत्तेजित यवन राजा ने प्रत्युत्तर में दूत से कहा—‘ओ दूत ! तुम्हारे दूधमुँहे पार्श्वकुमार से कहो कि वह इस युद्धाग्नि से दूर रहे अन्यथा असमय में ही मारा जाएगा।’

दूत लौट गया। पार्श्वकुमार ने उसे दुबारा भेजा। वापिस जाकर उसने वही बात यवन राजा से कही। दूत की बात सुनकर पास में बैठे कुछ दरबारी उत्तेजित हो उठे, किन्तु वृद्ध मंत्री ने उन्हें शांत करते हुए कहा—‘पार्श्वकुमार की महिमा हम अन्य सूत्रों से भी सुन चुके हैं। देवेंद्र उनकी सेवा करते हैं, फिर जानबूझकर हम पर्वत से क्यों टकरायें? देवों को जीत सकें, यह हमारे लिए सम्भव नहीं है। हमें अपनी सेना और इज्जत को नहीं गंवाना चाहिए।’ यवन राजा को यह बात जंच गई। देवेन्द्र द्वारा प्रदत्त गगनगामी रथ का भी उस पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसने तुरन्त युद्ध का विचार त्याग दिया और पार्श्व के सम्मुख जाकर सेवा साधने लगा।

राजा प्रसेनजित ने जब सेना से मुक्त नगर को देखा तो वह हर्ष विभोर हो उठा। उसने राजकुमार पार्श्व की अगवानी की तथा नम्रतापूर्वक प्रार्थना की—‘राजकुमार ! राज्य का संकट तुमने समाप्त किया है तो फिर प्रभावती की इच्छा भी पूरी करो। इससे विवाह करके इसकी प्रतिज्ञा भी अब आप ही पूरी कर सकते हैं।’

पार्श्वकुमार ने मधुरता से कहा—‘मुझे आपके राज्य का संकट समाप्त करना था, कर दिया। शादी के लिए मैं नहीं आया अतः उसके बारे में कैसे सोच सकता हूँ?’ पार्श्वकुमार ने वाराणसी की ओर प्रास्थान कर दिया, साथ में यवनराज व प्रसेनजित दोनों राजा भी थे। वहां जाकर प्रसेनजित ने महाराज अश्वसेन से आग्रह किया। अश्वसेन ने कहा— ‘मैं भी चाहता हूँ कि यह शादी करे, किन्तु यह इतना विरक्त है कि कह ही नहीं सकता। किसी भी समय कोई कदम उठा सकता है। फिर भी प्रभावती की प्रतिज्ञा तो पूर्ण करनी ही है।’

राजा ने पार्श्वकुमार को किसी तरह से समझा-बुझाकर उनका विवाह कर दिया। पिता के आग्रह से उन्होंने शादी तो की, किन्तु राजा का पद स्वीकार नहीं किया।

नाग का उद्धार

पार्श्वकुमार एक बार महल से नगर का निरीक्षण कर रहे थे। उन्होंने देखा कि नागरिकों की अपार भीड़ एक ही दिशा में जा रही है। अनुचर से पता लगा—उद्यान में कमठ नामक एक घोर तपस्वी आये हुए हैं। पंचाग्नि तपते हैं, लोग

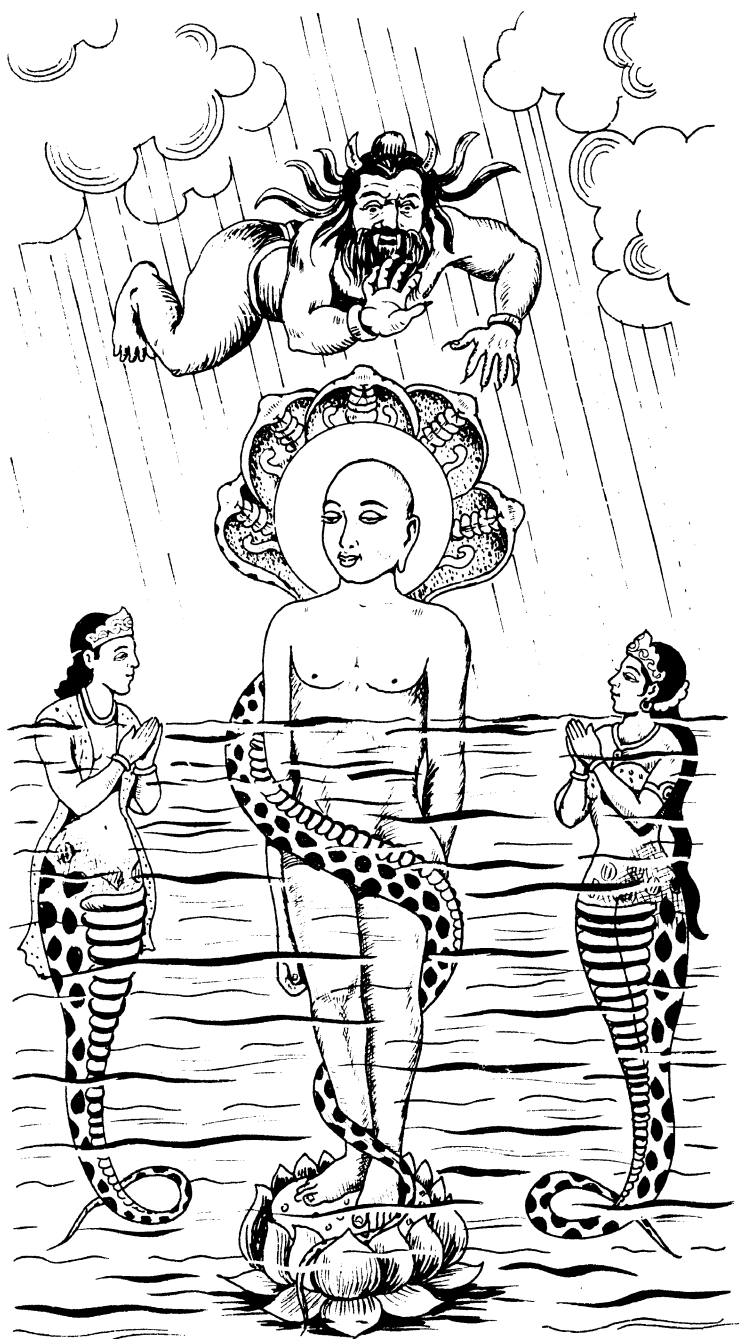
उन्हीं के दर्शनार्थ जा रहे हैं। कुतूहलवश पार्श्वकुमार भी वहां गये। अग्नि ज्वाला आकाश को छू रही थी, बड़े-बड़े लकड़ जल रहे थे। पार्श्व ने अवधिज्ञान से जलते हुए लकड़ों में एक नाग-दम्पती को देखा। उन्होंने तत्काल तपस्वी से कहा— धर्म तो अहिंसा में है, अहिंसा विहीन धर्म कैसा ? तुम जो पंचाग्नि तप रहे हो इसमें तो एक नाग और नागिनी जल रहे हैं। तपस्वी के प्रतिकार करने पर पार्श्व ने लकड़ को चिरवाया। उसमें से जलते हुए नाग दम्पती बाहर आकर तड़फड़ाने लगे। पार्श्व ने उन्हें नमस्कार महामंत्र सुनवाया तथा तपस्वी पर क्रोध नहीं करने की सलाह दी। उसी समय दोनों के प्राण छूट गये। मरकर वे नागकुमार देवों के इन्द्र व इन्द्राणी— धरणेन्द्र व पद्मावती के नाम से उत्पन्न हुए।



तापस का प्रभाव घट गया। चारों ओर उसका तिरस्कार होने लगा। उसने क्रुद्ध होकर अनशन कर लिया। मरकर वह मेघमाली देवता बना।

दीक्षा

भोगावली कर्मों के परिपाक की परिसमाप्ति पर भगवान् पार्श्व दीक्षा के लिये उद्यत बने। लोकांतिक देवों ने आकर उनसे जन-कल्याण के लिए निवेदन किया। वर्षादान देकर पौष कृष्ण एकादशी के दिन भगवान् ने सौ व्यक्तियों के साथ



वाराणसी के आश्रमपद उद्यान में पंचमुष्टि लोच किया। देव और मनुष्यों की भारी भीड़ के बीच सावद्य योगों का सर्वथा त्याग किया। उस दिन प्रभु के अट्ठम तप (तेला) था। दूसरे दिन उद्यान से विहार कर कोपकटक सन्निवेश में पधारे, वहां धन्य गाथापति के घर पर परमान्न से पारणा किया। देवों ने देव-दुंदुभि द्वारा दान का महत्त्व बताया।

उपसर्ग

भगवान् अब वैदेह बनकर विचरने लगे। अभिग्रहयुक्त साधना में संलग्न हुए। विचरते-विचरते वे शिवपुरी नगरी में पधारे। वहां कोशावन में ध्यानस्थ खड़े हो गये। कुछ समय बाद प्रभु वहां से विहार कर आगे तापसाश्रम में पहुंचे तथा वहीं पर वट वृक्ष के नीचे ध्यान मुद्रा में खड़े हो गये।

इधर 'कमठ' तापस ने देव होने के बाद अवधि-दर्शन से भगवान् पार्श्व को देखा। देखते ही पूर्व जन्म का वैर जाग पड़ा। भगवान् को कष्ट देने के लिए वहां आ पहुंचा। पहले तो उसने शेर, चीता, व्याघ्र, विषधर आदि के रूप बनाकर भगवान् को कष्ट दिये। किन्तु प्रभु मेरु की भांति अडोल बने रहे। अपनी विफलता से देव और अधिक क्रुद्ध हो उठा। उसने मेघ की विकुर्वणा की। वारों और घनघोर घटाएं छाने लगीं। देखते-देखते मुसलाधार पानी पड़ने लगा। बढ़ता-बढ़ता वह घुटने, कमर छाती को पार करता हुआ नासाग्र तक पहुंच गया। फिर भी प्रभु अडोल थे। तभी धरणेन्द्र का आसन कंपित हुआ। अवधि ज्ञान से उसने भगवान् को पानी में खड़े देखा। सेवा के लिए तत्काल दौड़ आया। वन्दन करके उसने प्रभु के पैरों के नीचे एक विशाल नाल वाला पद्म (कमल) बनाया। स्वयं ने सात फणों का सर्प बन कर भगवान् के ऊपर छत्री कर दी। प्रभु के तो समभाव था, न कमठ पर रोष और न धरणेन्द्र पर अनुराग। कमठासुर देव, फिर भी वारिश करता रहा। धरणेन्द्र ने फटकार कर कमठ से कहा—'रे दुष्ट ! अब भी तू अपनी धृष्टता नहीं छोड़ता? प्रभु तो समता में लीन हैं और तू अधमता के गर्त में गिरता ही जा रहा है !'

धरणेन्द्र की फटकार से कमठ भयभीत हुआ। अपनी माया समेट कर प्रभु से क्षमायाचना करता हुआ चला गया। उपसर्ग शांत होने पर धरणेन्द्र भी भगवान् की स्तुति कर लौट गया।

केवल ज्ञान

भगवान् ने तयासी रातें इसी प्रकार अभिग्रह और ध्यान में बिताई। चौरासीवें दिन उन्होंने आश्रमपद उद्यान में धातकी वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुये क्षपक श्रेणी ली। धातिक-कर्मों को क्षय कर केवलत्व को प्राप्त किया।

देवेन्द्र ने केवल-महोत्सव किया। समवसरण की रचना की। वाराणसी के

हजारों लोग सर्वज्ञ भगवान् के दर्शनार्थ आ पहुंचे। प्रभु ने प्रवचन दिया। उनके प्रथम प्रवचन में ही तीर्थ की स्थापना हो गई। अनेक व्यक्तियों ने आगार व अणगार धर्म को स्वीकार किया।

चातुर्याम धर्म

भगवान् पार्श्वनाथ तो इसके अंतिम निरूपक थे। इसके पश्चात् भगवान् महावीर ने पांच महाव्रत धर्म की व्याख्या दी थी, अतः पार्श्वनाथ का धर्म 'चातुर्याम-धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। चौबीस तीर्थकरों में प्रथम और अन्तिम तीर्थकर पांच महाव्रत रूप संयम धर्म का प्रवर्तन करते हैं। शेष बावीस तीर्थकर चातुर्याम धर्म के प्ररूपक होते हैं। 'चातुर्याम' और 'पंचयाम' भी शब्द-भेद ही हैं। साधना दोनों की समान है। चातुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य को पृथक् याम (महाव्रत) नहीं माना गया, किन्तु ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह के अन्तर्गत ले लिया गया। स्त्री द्विपद परिग्रह में मान्य थी। ब्रह्मचारी स्त्री का त्याग करता है, अतः अपरिग्रह में ब्रह्मचर्य सहज ही आ जाता है। चातुर्याम धर्म का विकास ही पंच महाव्रत धर्म हैं।

अप्रतिहत प्रभाव

भगवान् पार्श्व का प्रभाव मिश्र, ईरान, साइबेरिया, अफगानिस्तान आदि सुदूर देशों में भी गहरा फैला हुआ था। तदयुगीन राजा तथा लोग पार्श्व के धर्म की उपासना विशेष रूप से करते। प्रसिद्ध चीनी यात्री हेनसांग ने जब उन प्रदेशों की यात्रा की, तो वहां उसने अनेक निर्ग्रन्थ मुनियों को देखा था। महात्मा बुद्ध का काका स्वयं भगवान् पार्श्वनाथ का श्रमणोपासक था। दक्षिण में भी पार्श्व के अनुयायी पर्याप्त मात्रा में थे।

करकंडु आदि चार प्रत्येकबुद्ध राजा भी भगवान् पार्श्व के शिष्य बने थे। कई इतिहासकार तो यह भी मानते हैं कि महात्मा बुद्ध ने छः वर्ष तक भगवान् पार्श्व के धर्म शासन में साधना की थी। उस समय के सभी धर्म-सम्प्रदायों पर पार्श्व की साधना-पद्धति का विशेष प्रभाव था। उनके शासनकाल में आर्य शुभदत्त, आर्य हरिदत्त, आर्य समुद्रसूरि, आर्य केशी श्रमण जैसे प्रतिभाशाली व महाप्रभावक आचार्य हुए।

निर्वाण

विभिन्न प्रदेशों की पदयात्रा करके भगवान् ने लाखों लोगों को मार्गदर्शन दिया। अंत में वाराणसी से आमलकल्या आदि विभिन्न नगरों में होते हुए प्रभु सम्मेद शिखर पर पधारे। तेतीस चरम शरीरी मुनियों के साथ अंतिम अनशन किया। एक मास के अनशन में चार अघाति कर्मों को क्षर, कर निर्वाण को प्राप्त किया। देवों, इन्द्रों, मनुष्यों एवं राजाओं ने मिलकर भगवान् के पार्थिव शरीर का अंतिम संस्कार किया।

प्रभु का परिवार—

० गणधर	—	१०
० केवलज्ञानी	—	१०००
० मनःपर्यवज्ञानी	—	७५०
० अवधिज्ञानी	—	१४००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	११००
० चतुर्दश पूर्वी	—	३५०
० चर्चावादी	—	६००
० साधु	—	१६,०००
० साध्वी	—	३८,०००
० श्रावक	—	१,६४,०००
० श्राविका	—	३,३९,०००

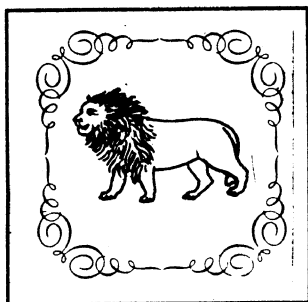
एक झलक—

० माता	—	वामा
० पिता	—	अश्वसेन
० नगरी	—	वाराणसी
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	सर्प
० वर्ण	—	नील
० शरीर की ऊँचाई	—	९ हाथ
० यक्ष	—	पार्श्व
० यक्षिणी	—	पद्मावती
० कुमार काल	—	३० वर्ष
० राज्य काल	—	नहीं
० छद्मस्थ काल	—	८४ दिन
० कुल दीक्षा पर्याय	—	७० वर्ष
० आयुष्य	—	१०० वर्ष

पंच कल्याणक—

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	—	चैत्र कृष्णा ४	प्राणत
० जन्म	—	पोष कृष्णा १०	वाराणसी
			विशाखा

० दीक्षा	—	पोष कृष्णा ११	वाराणसी	विशाखा
० केवलज्ञान	—	चैत्र कृष्णा ४	वाराणसी	विशाखा
० निर्वाण	—	सावन शुक्ला ८	सम्मेद शिखर	विशाखा



(२४)

भगवान् श्री महावीर

आत्मा की कोई आदि नहीं है। जैन दर्शन में कोई आत्मा प्रारंभ से ही परमात्मा नहीं होती। वह कर्म बंध से भारी बनती है तो उसका नरक गमन हो जाता है और वहां उसे कष्ट उठाना पड़ता है। जब अशुभ कर्म से हल्की होती है और पुण्य का बल होता है तो वह स्वर्गीय सुखों को प्राप्त करती हैं। संपूर्णतः कर्म मुक्त अवस्था ही मोक्ष की अवस्था है। अन्य भव्य आत्माओं की तरह महावीर की आत्मा थी। उस आत्मा ने अपने कर्तृत्व से जो कुछ किया उसी के अनुरूप उसने सुख-दुःख को प्राप्त किया। भगवान् महावीर के सताइस भवों का वर्णन मिलता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इनकी आत्मा ने मात्र इतने ही भव किए हैं। जिस भव में उन्होंने प्रथम बार सम्यक्त्व को प्राप्त किया वहां से इन भवों की संख्या ली गई है।

पहला भव- नयसार (मनुष्य)

जंबू द्वीप के पश्चिम महाविदेह में महावप्र नामक विजय के जयन्ती नाम की नगरी थी। वहां का राजा शत्रुमर्दन था। उसके राज्य में पृथ्वी प्रतिष्ठान गांव के अधिकारी का नाम था नयसार।

एक समय राजाज्ञा प्राप्त कर लकड़ी लाने के लिए जंगल में गया। साथ में कई व्यक्ति थे। मध्याह्न का समय हुआ। एक बड़े वृक्ष की छांव में नयसार अपने व्यक्तियों के साथ भोजन करने बैठा। उसी समय उसे दूर एक साधु-संघाटक दिखा। साधु एक सार्थ के संग चल रहे थे। सार्थ के आगे निकल जाने पर वे मार्ग भूल गये और उस चिलचिलाती दुपहरी में उस प्रदेश में आ गये जहां नयसार की गाड़ियों का पड़ाव था।

मुनियों को देखते ही नयसार के हृदय में भक्ति के भाव जागे। वह उठा, सामने गया, भाव पूर्ण वंदना की। बातचीत से पता चल गया कि ये मुनि रास्ता भूल कर आये हैं। ये न केवल भूखे हैं अपितु प्यास के कारण इनका गला भी सूख रहा है। इनके बोलने में भी तकलीफ हो रही है। उसने बड़ी श्रद्धा के साथ मुनियों को निर्दोष आहार-पानी बहराया। मुनियों ने वृक्ष की छाया में आहार-पानी लिया।

नयसार उठा और साथ चलकर मार्ग बताया। मुख्य मार्ग पर आकर नयसार ने नमस्कार किया। मुनियों ने उसे उपदेश दिया। उपदेश का नयसार पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसी नयसार के भव में पहली बार उन्हें सम्यक्त्व का उपार्जन हुआ।

दूसरा भव- स्वर्ग

सौधर्म (पहले) देवलोक में एक पत्न्योपम स्थिति वाले देव बने।

तीसरा भव- मनुष्य (मरीचि)

देवगति की आयु भोगकर नयसार का जीव चक्रवर्ती भरत का पुत्र मरीचि राजकुमार बना। भगवान् ऋषभदेव का एक बार अयोध्या नगरी में पदार्पण हुआ, समवसरण जुड़ा, भगवान् की देशना हुई। देशना से प्रभावित होकर राजकुमार मरीचि विरक्त बना और भगवान् के पास दीक्षित हो गया। चारित्र की आराधना करते हुए उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया।

मरीचि सुकुमार थे। एक बार ग्रीष्मकाल में भीषण ताप का परीषह उत्पन्न हुआ, भयंकर प्यास लगी और उनका मन इस संयम मार्ग से विचलित हो गया। मरीचि सोचने लगे- इतना कष्ट पूर्ण संयम का पालन मेरे से नहीं हो सकता क्योंकि मेरे में सहिष्णुता की कमी है। आखिर मरीचि ने निर्णय लिया कि एक बार जब घर छोड़ दिया तो पुनः गृह प्रवेश नहीं करूंगा। किन्तु साधु वेश में रहकर नियमों का पालन नहीं करूं तो आत्म-प्रवंचना होगी। इस आधार पर उसने अपने मन से एक नये वेष की परिकल्पना की और उसे धारण किया। उसने अपने वेष की कल्पना इस प्रकार की—

“जिनेन्द्र मार्ग के श्रमण मन, वचन और काया के अशुभ व्यापार रूप दंड से मुक्त जितेन्द्रिय होते हैं। पर मैं मन, वाणी और काया से अगुप्त-अजितेन्द्रिय हूं। इसलिये मुझे प्रतीक रूप से एक त्रिदंड रखना चाहिये।”

“श्रमण सर्वथा प्राणातिपात विरमण के धारक सर्वथा हिंसा के त्यागी होने से मुंडित होते हैं, पर मैं पूर्ण हिंसा का त्यागी नहीं हूं। मैं स्थूल हिंसा से निवृत्ति करूंगा और शिखा सहित क्षुर मुंडन कराऊंगा।”

“श्रमण धन-कंचन रहित एवं शील की सौरभ वाले होते हैं किन्तु मैं परिग्रहधारी और शील-मुनि चर्या की सुगन्ध से रहित हूं अतः मैं चन्दन आदि का लेप करूंगा।”

“श्रमण निर्मोही होने से छत्र नहीं रखते पर मैं मोह-ममता से युक्त हूं, अतः छत्र धारण करूंगा और उपानद् (चप्पल) खड़ाऊ भी पहनूंगा।”

“श्रमण निरम्बर और शुक्लाम्बर होते हैं, जो स्थविर कल्पी हैं वे निर्मल मनोवृत्ति के प्रतीक श्वेत वस्त्र धारण करते हैं, पर मैं कषाय से कलुषित हूं अतः मैं काषाय वस्त्र गेरुए, वस्त्र धारण करूंगा।”

“पाप-भीरु श्रमण जीवाकुल समझकर सचित्त जल आदि का आरंभ नहीं करते, किन्तु मैं परिमित जल का स्नान-पानादि में उपयोग करूंगा।”

इस प्रकार के वेष को धारण कर मरीचि भगवान् के साथ विचरण करने लगा। मरीचि अपने पास आने वाले लोगों को भगवान् का मार्ग बताता और भगवान् के पास शिष्य बनने के लिए भेज देता।

एक बार चक्रवर्ती भरत ने भगवान् से प्रश्न पूछा—‘भंते ! आपकी सभा में ऐसा कोई जीव है जो इस अवसर्पिणी काल में आपके समान तीर्थकर बनेगा।’

भगवान् ने कहा ‘भरत ! इस सभा में तो कोई जीव नहीं है। समवसरण के बाहर तुम्हारा पुत्र मरीचि है वह इसी भरत क्षेत्र में अंतिम तीर्थकर बनेगा। साथ ही इसी भरत क्षेत्र में त्रिपृष्ठ नाम से पहला वासुदेव बनेगा, महाविदेह क्षेत्र की मूका नगरी में प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती बनेगा।’

भरत जी जाते समय मरीचि के पास रुके और यह संवाद सुनाया। भरत जी की बात सुनकर मरीचि अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बोलने लगा—

आद्योहं वासुदेवानां, पिता मे चक्रवर्तिनाम्।

पितामहो जिनेन्द्राणाम्, ममाहो उत्तमं कुलम्॥

मेरा कुल कितना ऊंचा है। मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती हैं, मेरे दादा पहले तीर्थकर हैं। मैं भी तीर्थकर व पहला वासुदेव बनूंगा और चक्रवर्ती भी बनूंगा। अहो! मेरा कुल कितना उत्तम है ! कितनी ऋद्धि ! कितनी समृद्धि ! इस प्रकार त्रिदंड को उछालता हुआ नाचने लगा। इस कुल मद के कारण मरीचि के नीच गोत्र का बंध हो गया।

एक दिन मरीचि बीमार हो गया। किसी ने भी उसकी सेवा नहीं की। उस कष्ट में मरीचि ने निर्णय लिया कि वह अपना शिष्य बनायेगा। मरीचि स्वस्थ हुआ, उसने पूर्ववत् जन उद्बोधन का क्रम चालू किया। अपना कोई भी शिष्य नहीं बनाया। उसने सोचा-मुनि बनना मेरे शिष्यत्व से उत्तम है। एक बार राजकुमार कपिल आया। उसे भी भगवान् के पास दीक्षा लेने के लिए भेजा, पर उसका वहां मन नहीं जमा। पुनः मरीचि के पास आकर कहा— मैं तो आपका ही शिष्य बनूंगा।

आखिर मरीचि ने उसे अपना शिष्य बना लिया। मरीचि सदैव भगवान् के मत को सर्वश्रेष्ठ बताता था। वह अपनी चर्या को दुर्बल मानता था किन्तु उसने अपने शिष्य कपिल के व्यामोह में यह कहना शुरू कर दिया— ‘भगवान् के मार्ग में भी धर्म है और मेरे मार्ग में भी धर्म है।’ इस प्रकार मरीचि ने त्रिदंडी संन्यासी के रूप में जीवन बिताया।

चौथा भव-स्वर्ग

ब्रह्म (पांचवां) देवलोक में दस सागरोपम की स्थिति वाले देव बने।

पांचवां भव-मनुष्य

ब्रह्म देवलोक की आयु सम्पन्न कर महावीर का जीव कोल्लाक सन्निवेश में कौशिक नाम के ब्राह्मण रूप में मनुष्य जीवन को प्राप्त किया। जीवन के संध्या काल में वह त्रिदंडी तापस बना। उसका आयुमान ८० लाख पूर्व का था। इस भव के बाद अनेक छोटे भव किये जो २७ भवों की गिनती में नहीं लिये गये हैं।

छठा भव-मनुष्य

थुना नगरी में पुष्यमित्र नाम का ब्राह्मण हुआ। आयुमान ७२ लाख पूर्व का था। कुछ काल तक गृहस्थाश्रम में रहकर परिव्राजक बना।

सातवां भव-स्वर्ग

सौधर्म (प्रथम) देवलोक में देव बना।

आठवां भव- मनुष्य

देवायु भोगकर नयसार का जीव चैत्य सन्निवेश में अग्निहोत्र ब्राह्मण हुआ। अग्निहोत्र अंत में परिव्राजक बना। इसकी सर्वायु ६४ लाख पूर्व थी।

नौवां भव-स्वर्ग

ईशान (दूसरा) देवलोक में मध्यम स्थिति वाला देव बना।

दसवां भव-मनुष्य

नयसार का जीव मंदिर सन्निवेश में अग्निभूति ब्राह्मण हुआ। आखिर में उसने परिव्राजक दीक्षा स्वीकार की। इसका आयुमान ५६ लाख पूर्व था।

ग्यारहवां भव-स्वर्ग

सनत्कुमार (तीसरा) देवलोक में देव बना।

बारहवां भव-मनुष्य

देवायु भोगकर श्वेतांबिका नगरी में भारद्वाज नाम का ब्राह्मण हुआ। भारद्वाज ने परिव्राजक दीक्षा ली। इसकी संपूर्ण आयु ४४ लाख पूर्व थी।

तेरहवां भव-स्वर्ग

माहेन्द्र (चौथे) देवलोक में देव बने। यहां से च्यवकर अनेक छोटे भव भी किये।

चौदहवां भव-मनुष्य

राजगृह नगर में स्थावर नाम का ब्राह्मण हुआ। अंत में परिव्राजक बना। इसका आयुष्य ३४ लाख पूर्व था।

पन्द्रहवां भव-स्वर्ग

ब्रह्म (पांचवें) देवलोक में देव बने।

सोलहवां भव-मनुष्य (विश्वभूति)

राजगृह नगर में विश्वनंदी राजा राज्य करता था। उसका भाई विशाखभूति युवराज था। राजा विश्वनंदी के पुत्र का नाम विशाखनंदी था। युवराज विशाखभूति की रानी का नाम धारिणी था। इसकी कोख से नयसार का जीव पांचवें देवलोक से च्यवकर पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। इसका नाम दिया गया विश्वभूति। मरीचि के भव के बाद इस सोलहवें भव में पुनः राज परिवार में जन्म लिया।

विश्वभूति ने जब यौवन वय में प्रवेश किया तो उसका अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह कर दिया गया। एक दिन विश्वभूति अपनी रानियों एवं दासियों के साथ जल क्रीड़ा करने गया। कुछ क्षणों के बाद राजा विश्वनंदी का पुत्र विशाखनंदी भी अपनी रानियों के साथ घूमने के लिए उसी उद्यान में आया। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि विश्वभूति पहले से ही उद्यान में जल क्रीड़ा कर रहा है तो उसे बड़ा क्षोभ हुआ। उसे बिना मन बाहर ही रहना पड़ा। विशाखनंदी की मां की दासियां भी पुष्प चुनने के लिए उद्यान में आईं तो उन्हें भी निराश लौटना पड़ा।

दासियों ने राजमहल आकर महारानी प्रियंगु को सारी जानकारी देते हुए कहा—‘मौज-मजा तो विश्वभूति लूट रहा है जबकि हकदार आपका पुत्र विशाखनंदी है।’ इस पर रानी अत्यन्त कृपित हुई। इसे अपना अपमान समझा और कोप भवन में चली गयी। यह सब सुनकर महाराज चिंतातुर हो गए। राजा ने समझाने की बहुत कोशिश की पर रानी की हठ के सामने उन्हें झुकना पड़ा। विश्वभूति को दूर भेजने की युक्ति निकाली। छल-कपट से राजा ने युद्ध की रणभेरी बजवा दी-हमारा सामंत पुरुषसिंह विद्रोही हो गया है। वह प्रजा को नाना रूप से कष्ट दे रहा है। उसके साथ मैं युद्ध करने जा रहा हूं।’

यह समाचार जलक्रीड़ा करते विश्वभूति ने भी सुना। तत्काल वह राजमहल में आया और राजा से विनती की-आप जैसे सामर्थ्यवान को ऐसे सामंत के विरुद्ध युद्ध के लिए जाना शोभा नहीं देता। मैं स्वयं वहां जाने के लिए तत्पर हूं। आप मुझे आशीर्वाद दें। मैं अतिशीघ्र उसे आपके चरणों में उपस्थित करूं। विश्वभूति की यह बात सुनकर राजा ने जाने की आज्ञा दे दी। सेना लेकर वह पुरुषसिंह का दमन करने चला।

विश्वभूति के चले जाने के बाद विशाखनंदी ने अपनी रानियों व दासियों के साथ उद्यान में प्रवेश किया और आनंदपूर्वक क्रीड़ा करने लगा।

विश्वभूति जब सामंत पुरुषसिंह की जागीर में पहुंचा तो वहां उसका भव्य स्वागत हुआ। उसका अवज्ञा या विद्रोह का समाचार बिल्कुल असत्य निकला। परस्पर बातचीत के बाद विश्वभूति लौटा। लौटते समय उद्यान रक्षक से पता चला

कि विशाखनंदी अपने अंतः पुर के साथ जल विहार कर रहा है।

विश्वभूति न केवल बलवान् था, अपितु बुद्धिमान भी था। सारे भेद को तुरंत समझने में उसे देर नहीं लगी कि महाराज ने अपने पुत्र के सुख हेतु उसे उद्यान से हटाने के लिए यह पुरुषसिंह के विद्रोह का नाटक रचा है। इस कुटिल चाल से उसे राजा व उसके पुत्र के प्रति बहुत गुस्सा आया। क्रोधावेश में उसने पार्श्व स्थित ताल वृक्ष को मुष्टि प्रहार कर जोर से झकझोरा। वृक्ष पर लगे फल दनादन गिरने लगे। उसने द्वारपाल को संबोधित करते हुए कहा— 'सुनो, द्वारपाल! मुझे अपनी कुल-मर्यादा व परंपरा के प्रति तनिक भी आदर नहीं होता तो मैं तुम्हारे राजकुमार व झूठे राजा को इन फलों के समान मुष्टि प्रहार से धराशायी कर देता, समाप्त कर देता।' विश्वभूति का शरीर क्रोध से कांपने लगा।

कुछ क्षणों के बाद उसका गुस्सा शांत हुआ, संवेग का भाव जगा और सोचने लगा-देखो, मैं तो बड़ों के प्रति इतना आदर व प्यार करता था परन्तु ये सब मेरे साथ कपटपूर्ण व्यवहार करते हैं। यह सच है कि यह संसार ही ऐसा है जहां छल-प्रपंच भरा हुआ है।' इसी चिंतन में उसने यह निर्णय ले लिया कि उसे संयम स्वीकार कर आत्म कल्याण करना है। यह निर्णय करने के साथ ही वह राजा (चाचा) व माता-पिता के पास न आकर सीधे उस प्रदेश में विचर रहे आर्य संभूत के पास पहुंचा और उल्लसित भाव से चारित्र अंगीकार किया।

विश्वभूति के मुनि बनने का संवाद मिलते ही राजा विश्वनंदी अपने पुत्र विशाखनंदी व पूरे परिवार को साथ लेकर आया और अपने अपराध के लिए बार-बार क्षमा मांगी और मुनि-धर्म छोड़कर घर आकर राज्य भार संभालने का आग्रह किया। मुनि विश्वभूति इस प्रलोभन में नहीं फंसे। अपने गुरु की सेवा में रहकर तप-जप के द्वारा आत्मा को भावित करने लगे। निरन्तर लंबी-लंबी तपस्याओं से उनका शरीर कृश हो गया। अब गुरु आज्ञा से एकाकी विहार करने लग गये।

उग्र तपस्वी मुनि विश्वभूति मासखमण की तपस्या का पारणा करने हेतु मथुरा नगरी पधारे। उस समय विशाखनंदी भी अपने ससुराल मथुरा आया हुआ था। कृशकाय मुनि को दूर से ही उसके आदमियों ने पहचान लिया। बाद में विशाखनंदी ने भी पहचान लिया। विश्वभूति को देखते ही विशाखनंदी क्रोधित हो गया। उस समय मार्ग से गुजर रही गाय की टक्कर से मुनि गिर गये। उस पर विशाखनंदी ने अट्टहास किया और आनंद मनाते हुए व्यंग्य की भाषा में बोला— 'मुष्टि प्रहार से फल गिराने वाला बल अब कहां गया।' यह सुनते ही मुनि की दृष्टि उस पर पड़ी और उसे पहचान लिया। मुनि भी क्षमा धर्म से विचलित हो गये और आवेश में बोले— अभी भी मैं पहले की भांति बलशाली हूं। तपस्या से कृश जरूर हूँ पर दुर्बल नहीं हूँ।' अपने बल एवं शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए मुनि ने उसी गाय

को दोनों सिंगों से मजबूत पकड़कर आकाश में उठाकर घुमाया और उसी आवेश में मुनि ने निदान कर लिया- मेरी आज तक की तपस्या का कोई फल हो तो मुझे आगे इतना प्रबल बल प्राप्त हो कि विशाखनंदी को मार सकूँ।' इस निदान का उसने प्रायश्चित्त नहीं किया। उनका आयुष्य करोड़ वर्ष का था।

सतरहवां भव-स्वर्ग

महाशुक्र (सातवें) देवलोक में देव बने।

अठारहवां भव-मनुष्य (वासुदेव)

महाशुक्र देवलोक से च्यवकर नयसार का जीव त्रिपृष्ठ राजकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ। पोतनपुर नगर का राजा प्रजापति था। उसकी दो रानियां थी भद्रा व मृगावती। भद्रा की कुक्षि से राजकुमार अचल का जन्म हुआ। मृगावती से त्रिपृष्ठ का जन्म हुआ। दोनों राजकुमार सब विद्याओं में पारंगत बनकर पिता का सहयोग करने लगे। ये दोनों भाई इस अवसर्पिणी के क्रमशः पहले बलदेव व वासुदेव बने।

प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव तीन खंडों का अधिपति था। रत्नपुर नगर उसकी राजधानी थी। वह अत्यन्त शूरवीर, पराक्रमी व संग्राम का शौकीन था। अश्वग्रीव ने सोचा— तीनों खंडों में मेरे से अधिक कोई भी बलवान नहीं है जो मुझे संग्राम में जीत सके या मुझे पराधीन कर सके। यदि कोई ऐसा है तो उसका पता लगाना चाहिये। एक अष्टांग निमित्त के जानकार ज्योतिषी को इस संदर्भ में पूछा तो उसने कहा-‘जो राजकुमार आपके राजदूत चंडवेग को अपमानित या पराजित करेगा तथा शालिक्षेत्र में रक्षा के लिए भेजे गये राजा-राजकुमारों में जो वहां आतंक फैला रहे शेर को मारेगा उसी राजकुमार के हाथों से आपकी मृत्यु होगी।’

अश्वग्रीव भयातुर हो गया। राजदूत चंडवेग कई राजधानियों में प्रतिवासुदेव का कार्य करता हुआ पोतनपुर राजसभा में पहुंचा। राजसभा में उस समय संगीत का कार्यक्रम चल रहा था।

महाराज प्रजापति, राजकुमार अचल, त्रिपृष्ठ व अन्य आनंद ले रहे थे। राजदूत के आकस्मिक आगमन पर राजा स्वयं खड़ा हुआ और उसे योग्य आसन दिया। राजा ने प्रतिवासुदेव का कुशल क्षेम पूछा। राजकुमार त्रिपृष्ठ के मन में रंग में भंग करने पर दूत के प्रति क्रोध जाग उठा। राजा ने दूत को भेंट आदि देकर ससम्मान विदा किया, पर राजकुमार ने रास्ते में हड़प लिया और उसका अपमान किया। दूत के अपमान की बात सुनकर अश्वग्रीव भयातुर हो गया और सोचा— नैमित्तज्ञ की पहली बात तो मिल गई है।

उन दिनों अश्वग्रीव के राज्य में शालिखेत में एक शेर का जबर्दस्त आतंक छाया हुआ था। अश्वग्रीव की और से शेर को मरवाने के उपाय व्यर्थ चले जाने

पर उन क्षेत्रों की सुरक्षा हेतु बारी-बारी से एक-एक राजा की नियुक्ति कर दी। उस नियुक्ति के क्रम में महाराज प्रजापति का क्रम भी आया। वे जाने के लिए उद्यत हुये तो राजकुमार त्रिपृष्ठ ने आग्रहपूर्वक पिता को रोका। अपने भाई अचल के साथ उस क्षेत्र में पहुंच गये। त्रिपृष्ठ ने सोचा- 'लोगों में छाये भय के आतंक को मिटाने के लिए शेर को समाप्त कर दूं।'

दोनों भाइयों ने लोगों से सारी जानकारी प्राप्त की और शस्त्रास्त्र से सज्जित होकर शेर की गुफा की ओर बढ़े। वहां दोनों ने जोर से नाद किया। शेर इस आवाज से क्रुद्ध हो गया। वह गुफा से बाहर आया। उसको पैदल चलते देख त्रिपृष्ठ ने सोचा— यह पैदल है तो मैं रथ पर कैसे बैठूं। राजकुमार रथ से नीचे उतर कर चलने लगे। शेर के पास कोई हथियार नहीं तो मैं हथियार कैसे रखूं। इस चिंतन के साथ अपने हथियार रथ में रख दिये। शेर भयंकर दहाड़ के साथ त्रिपृष्ठ पर झपटा, पर उसने विद्युत्वेग से लपक कर शेर के दोनों जबड़ों को पकड़कर पुराने बांस की तरह चीर डाला।

शेर के मरने की बात सुनकर अश्वग्रीव भयाक्रांत हो उठा और उसे यह लगने लगा कि यह राजकुमार उसका काल है। कुछ सोच-विचार के बाद उसने प्रजापति को संदेश भेजा— आपके दोनों राजकुमारों ने जो वीरतापूर्ण कार्य किया है उसके लिए हम उन्हें पुरस्कृत करना चाहते हैं अतः उन्हें यहां भेजो।'

संदेश के उत्तर में त्रिपृष्ठ ने उत्तर में कहा— 'जो राजा एक शेर को भी नहीं मार सका उस राजा के हाथ से हम किसी भी प्रकार का पुरस्कार नहीं लेंगे।'

यह सुनकर प्रतिवासुदेव तिलमिला उठा और अपनी चतुरंगिनी सेना के साथ युद्ध भूमि में आ डटा। दोनों का परस्पर लोम हर्षक युद्ध हुआ। आखिर अश्वग्रीव को सुदर्शन चक्र से मारकर त्रिपृष्ठ पहले वासुदेव व अचल पहले बलदेव बने। इसी के साथ वे तीन खंड के एक छत्र स्वामी हो गये। पोतनपुर में एक बार ग्यारहवें— तीर्थकर भगवान् श्रेयांस नाथ का पदार्पण हुआ। दोनों भाइयों ने भगवान् का प्रवचन सुना। इससे त्रिपृष्ठ को सम्यक्त्व प्राप्त हुई, किन्तु कुछ समय बाद वह प्रकाश समाप्त हो गया। दोनों ही भगवान् के भक्त बने रहे।

वासुदेव त्रिपृष्ठ एक क्रूर शासक थे। उन्हें अनुशासन का भंग कतई पसंद नहीं था। एक बार रात्रि में संगीत हो रहा था। चक्रवर्ती स्वयं पल्लक पर शय्यापालक से यह कह कर सो गए कि मुझे नींद आने पर संगीत बन्द करवा देना। कुछ समय में उन्हें नींद आ गई, किन्तु संगीत-रसिक शय्यापालक ने संगीत बंद नहीं करवाया। त्रिपृष्ठ जब वापिस जागे, तो संगीत चलता हुआ देखकर वे एकदम क्रुद्ध हो उठे। पूछने पर शय्यापालक ने निवेदन किया— मेरा अपराध क्षमा करें, संगीत मधुर चल रहा था, अतः बंद नहीं किया गया। वासुदेव त्रिपृष्ठ ने क्रोधित होकर

शीशा गर्म करवाया और शय्यापालक के कानों में डलवा दिया। शय्यापालक ने तड़फ-तड़फकर वहीं पर प्राण दे दिये। इस प्रकार उस जन्म में उन्होंने अनेक हिंसक काम किये। वहां से मरकर वे सातवीं नरक में गये। जैन-दर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि भले ही तीर्थंकर बनने वाले जीव भी क्यों न हों, कर्म अगर असत् किये हैं तो अधम गति में जाना ही होगा। महावीर के सत्ताईस पूर्व जन्मों से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। चारों गतियों में आचरणानुसार उनके जीव को जाना पड़ा था।

वासुदेव त्रिपृष्ठ की सर्वायु ८४ लाख वर्ष थी। उसमें पचीस हजार वर्ष बाल्यावस्था में, पचीस हजार वर्ष मांडलिक राजा के रूप में तथा एक हजार वर्ष दिग्विजय करने में लगे, अवशिष्ट ८३ लाख ४९ हजार वर्ष वासुदेव के रूप में व्यतीत हुए। वासुदेव की मृत्यु के बाद बलदेव अचल ने भगवान् के पास दीक्षा ली और सिद्धत्व को प्राप्त किया।

उन्नीसवां भव-नरक

सातवीं नरक में अप्रतिष्ठान नरकावास में तेतीस सागरोपम आयु वाले नैरयिक बने।

बीसवां भव-तिर्यच

शेर की योनि में उत्पन्न हुए।

इक्कीसवां भव-नरक

चौथी नरक में दस सागरोपम आयु वाले नैरयिक बने। नरक से निकलकर नयसार के जीव ने अनेक छोटे-छोटे क्षुद्र भवों में परिभ्रमण किया। वे इन सत्ताइस भवों की गिनती में नहीं है।

बाइसवां भव-मनुष्य

रथनुपुर नगर में प्रियमित्र राजा राज्य करता था। उसकी महारानी विमला की कुक्षि से नयसार का जीव राजकुमार के रूप में जन्मा। उसका नाम दिया गया विमल। यौवन वय में आने पर उसका विवाह कर दिया। अपने पुत्र को योग्य समझकर प्रियमित्र ने राज्य भार सौंप दिया तथा स्वयं दीक्षित हो गये।

राजा विमल बड़ा ही नीति निपुण व सरल परिणामी था, करुणाशील था। एक बार किसी कारण से पास के जंगल प्रदेश में गया। वहां उसने देखा कि एक शिकारी ने जाल लगाकर कई हिरण व हिरणियों को पकड़ रखा है। निरपराध पशुओं की यह दशा देखकर राजा विमल के भीतर दया के भाव जागे। उसने शिकारी को निकट बुलाया और उसे समझाकर शिकार का त्याग कराया। प्रसंगवश उन जानवरों को अभयदान मिल गया। अंत में उन्होंने चारित्र ग्रहण किया।

राजा विमल के इस भव में अगला भव मनुष्य के रूप में निर्णीत हुआ। संयमी

व्यक्ति की ही नहीं सम्यक्त्वी व्यक्ति की भी गति वैमानिक देवलोक की होती है। लगता ऐसा है कि जब राजा के मनुष्य भव का बंध हुआ था उस समय उन्हें सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुई हो। यदि सम्यक्त्वी अवस्था में अथवा चक्रवर्ती पद की पुण्य प्रकृति का बंध होने के बाद मनुष्य भव का निर्धारण हुआ है तो उसे उस क्षेत्र का 'अछेरा' समझना चाहिये।

तेइसवां भव-मनुष्य (चक्रवर्ती)

पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में मूका नगरी थी। वहां का राजा था धनंजय। उसकी पटरानी धारिणी देवी के गर्भ में नयसार के जीव ने जन्म लिया। चौदह महास्वप्नों से जन्म लेने वाले इस बालक का नाम रखा गया प्रियमित्र।

प्रियमित्र को राज्य भार सौंपकर राजा-रानी दीक्षित हो गये। आयुधशाला में एक बार चक्र रत्न उत्पन्न हुआ। चक्र की सहायता से छह खंडों को जीतकर चक्रवर्ती बने। लंबे समय तक चक्रवर्ती पद भोगकर पोट्टिलाचार्य के पास दीक्षा स्वीकार की। प्रियमित्र की सर्वायु ८४ लाख पूर्व थी।

चौबीसवां भव-स्वर्ग

महाशुक्र (सातवें) देवलोक में सर्वार्थ नामक विमान में महर्द्धिक देव बने। देव का आयुमान सतरह सागरोपम था।

पचीसवां भव-मनुष्य

सातवें देवलोक से च्यव कर नयसार का जीव जंबू द्वीप के भरत क्षेत्र की छत्रा नाम की नगरी में राजकुमार नंदन के रूप में जन्मा। पिता महाराज जितशत्रु व माता महारानी भद्रा थी।

महाराज जितशत्रु ने नंदन को राजा बना दिया और स्वयं ने संयम व्रत ग्रहण कर लिया। अब नंदन राजा बन गया। राजा नंदन की आयु पचीस लाख वर्ष की थी। इसमें चौबीस लाख वर्ष गृहस्थान्तरा में बिताये। एक लाख वर्ष की आयु जब शेष रही तब पोट्टिलाचार्य के पास संयम-धर्म को प्राप्त किया। आचार्य के पास ग्यारह अंगों का अध्ययन कर राजर्षि नंदन कठोर तपस्वी बन गये। एक लाख वर्ष की संयम पर्याय में निरंतर मास-मासरवमण की तपस्या की। इस एक लाख वर्ष की चारित्र पर्याय में ग्यारह लाख साठ हजार मासरवमण किये। तप का पारणा काल तीन हजार तीन सौ तेतीस (३३३३) वर्ष, तीन मास और उनतीस दिनों का रहा। तप व अर्हत् भक्ति के द्वारा नंदन मुनि ने तीर्थकर नाम कर्म की प्रकृति का उपार्जन किया। अंतः में दो मास का अनशन कर समाधि-मरण को प्राप्त किया।

छबीसवां भव-स्वर्ग

प्राणत (दसवें) देवलोक के पुष्पोत्तर विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए। वहां

बीस सागरोपम की आयु थी।

सताइसवां भव-भगवान् महावीर

भगवान् ऋषभ तीसरे आरे (काल विभाग) के अन्त में हुए थे और भगवान् महावीर ने चौथे आरे के अन्त में जन्म लिया था। इस अवसर्पिणी काल के वे अंतिम तीर्थंकर थे। आज का जैन-दर्शन उनकी वाणी का ही फलित है। भगवान् महावीर इतिहासकारों की दृष्टि में महान् क्रांतिकारी, परम अहिंसावादी तथा उत्कृष्ट साधक थे। उन्होंने पशु-बलि का विरोध किया, जातिवाद को अतात्त्विक माना और दास प्रथा को हिंसाजनक बतलाया। धर्म के ठेकेदारों ने तब धर्म को अपने-अपने कठघरों में बन्द कर रखा था। उस समय जन साधारण तक धर्म का स्रोत प्रवाहित करने का कठिनतम कार्य भगवान् महावीर ने ही किया। स्वयं राजमहल में जन्म लेकर भी दलित वर्ग को गले लगाया, उसे धर्म का अधिकार प्रदान किया। सचमुच भगवान् महावीर अपने युग के मसीहा थे।

वैशाली का वैभव

भगवान् महावीर के समय वैशाली नगरी का बहुत नाम था। किसी जमाने में वह बड़ी नगरी थी। रामायण में बतलाया गया है कि वैशाली बड़ी विशाल रम्य नगरी थी। जैन आगमों में वर्णन आता है कि बारह योजन लंबी और नौ योजन चौड़ी यह अत्यन्त रमणीय नगरी तीन बड़ी दिवारों से घिरी हुई थी। संसार की सबसे पुरानी गणतांत्रिक शासन प्रणाली उस समय वैशाली में प्रचलित थी। हैहय वंश के राजा चेटक इस गणतंत्र के प्रधान थे। इनके नेतृत्व में वैशाली की ख्याति, वैभव एवं समृद्धि अपने उत्कर्ष पर थी।

राजा चेटक के सात पुत्रियां थी, जिन्हें बड़े-बड़े राजाओं के साथ ब्याही गई थी। वे इस प्रकार हैं—

१. उदयन (सिंधु-सौवीर)	—	प्रभावती
२. दधिवाहन (अंग)	—	पद्मावती
३. शतानीक (वत्स)	—	मृगावती
४. चंडप्रद्योतन (अवंती)	—	शिवा
५. नंदीवर्धन (क्षत्रिय कुंडग्राम)	—	ज्येष्ठा
६. श्रेणिक (मगध)	—	चेलना
७. साध्वी बनी	—	सुज्येष्ठा

वैशाली के पश्चिम भाग में गंडकी नदी बहती थी। उसके पश्चिम तट पर स्थित ब्राह्मण कुंड ग्राम, क्षत्रिय कुंड ग्राम, वाणिज्य ग्राम, कमरिग्राम और कोल्लाग सन्निवेश आदि अनेक उपनगर वैशाली के वैभव को वृद्धिगत कर रहे थे।

ब्राह्मण कुंडग्राम और क्षत्रिय कुंड ग्राम एक दूसरे के पूर्व पश्चिम थे। ब्राह्मण

कुंडग्राम में मुख्यतः ब्राह्मणों की बस्ती थी। इस बस्ती के नायक थे कोडाल गोत्रीय ऋषभदत्त उसकी पत्नी देवानंदा जालंधर गोत्रीया ब्राह्मणी थी। ऋषभदत्त व देवानंदा भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे।

क्षत्रिय कुंडग्राम में ज्ञात वंशीय क्षत्रियों की बस्ती थी। उसके नायक थे काश्यप गोत्री महाराज सिद्धार्थ। वे वैशाली गणराज्य के सक्रिय राजन्य पुरुष थे। उनकी रानी त्रिशला वैशाली के सम्राट् चेटक की बहिन एवं बालिष्ठ गोत्रीया क्षत्रियाणी थी। सिद्धार्थ व त्रिशला भगवान् पार्श्व की श्रमण परंपरा को मानते थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम नंदिवर्धन था। नंदिवर्धन का विवाह सम्राट् चेटक की पुत्री ज्येष्ठा के साथ हुआ।

अवतरण

देवायु भोगकर नयसार का जीव भरत क्षेत्र के ब्राह्मणकुण्ड ग्राम के प्रमुख ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में अवतरित हुआ। माता देवानन्दा ने चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्न पाठकों ने एक मत से निर्णय दिया— अंतिम तीर्थकर आपके घर में अवतरित हुए हैं। स्वप्न फल सुनकर सभी प्रसन्न हुए। देवानन्दा विशेष जागरूकता के साथ गर्भ का पालन करने लगी।

गर्भ साहरण

शक्रेन्द्र महाराज ने एक बार अवधि-दर्शन से ऋषभदत्त के घर देवानन्दा की कुक्षि में प्रभु के अविकसित शरीर को विकसित होते देखा। इन्द्र ने सोचा— 'तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव केवल सत्तासीन कुल में ही उत्पन्न होते हैं। यह आश्चर्य है कि भगवान् का अवतरण ब्राह्मण जैसे याचक कुल में हुआ है। तीर्थकर सदैव प्रभावशाली कुल में जन्म लेते हैं। वर्तमान में क्षत्रिय वर्ग का प्रभाव अधिक है। सत्ता भी उनके हाथ में है, अतः प्रभु के शरीर का साहरण करके क्षत्रिय कुल में अवस्थित करना चाहिए।'

शक्रेन्द्र ने इसी विचार से हरिणगमेशी देव को बुलाकर निर्देश दिया— 'अन्तिम तीर्थकर देवानन्दा की कुक्षि में हैं, उन्हें क्षत्रियकुण्ड नगर के राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला की कुक्षि में स्थापित करो तथा महारानी त्रिशला के जो गर्भ है उसे देवानन्दा की कुक्षि में स्थानान्तरित करके मझे सूचित करो।'

इन्द्र की आज्ञा पाकर हरिणगमेशी देव चला, देवानन्दा गहरी नींद में सो रही थी। गर्भकाल की वह तयारीवी रात्रि थी। देव ने भगवान् को नमस्कार कर गर्भ-साहरण की अनुज्ञा मांगी और भगवान् के अर्ध-विकसित डिम्ब का सजगता से साहरण किया तथा महारानी त्रिशला की कुक्षि में स्थापित कर गर्भ की अदला-बदली की प्रक्रिया पूर्ण की। साहरण काल में दोनों माताओं को अवस्वापिनी निद्रा दी गई थी। उसी रात्रि में देवानन्दा और त्रिशला दोनों ने चौदह महारवण

देखे। देवानन्दा को स्वप्न जाते हुए नजर आये और महारानी त्रिशला को स्वप्न आते हुए प्रतीत हुए। यह दिन आसोज कृष्णा १३ का था।

महारानी त्रिशला ने अपने स्वप्नों के बारे में महाराज को बताया। सुबह स्वप्न पाठकों को बुलाया गया और उन्हें स्वप्नों का अर्थ पूछा तो उन्होंने कहा— 'महाराज! महारानी के गर्भ में होने वाले अंतिम तीर्थकर का जीव आया है।' राजा ने स्वप्न पाठकों को विपुल दान-दक्षिणा दी।

त्रिशला की कुक्षि में भगवान् के अवस्थित होने के बाद सिद्धार्थ राजा का जनपद व भण्डार धन-धान्य से सम्पन्न हो गया। देव-सहयोग से राजभण्डार में अप्रत्याशित रूप से अर्थ की वृद्धि हुई। राजा सिद्धार्थ का मान-सम्मान आसपास के जनपदों में सहसा बढ़ता चला गया।

गर्भ में प्रतिज्ञा

भगवान् को गर्भ में आये सात महीने पूरे हो गये, तब एक बार वे यह सोचकर निश्चल हो गये कि मेरे हलन-चलन से माताजी को वेदना होती होगी। गर्भ का स्पन्दन बन्द होते ही माता त्रिशला चौंक उठी। गर्भ के अनिष्ट-भय से हतप्रभ हो गई। कुछ ही क्षणों में रोने-बिलखने लगी। सभी चिन्तित हो उठे। कुछ समय पश्चात् प्रभु ने अवधि दर्शन से पुनः देखा तो उन्हें सारा ही दृश्य हृदयविदारक नजर आया। तत्काल उन्होंने स्पन्दन प्रारम्भ कर दिया तब कहीं जाकर सबको शांति मिली। भगवान् ने अपने पर माता-पिता का इतना स्नेह देखकर यह प्रतिज्ञा कर ली कि माता-पिता के स्वर्गवास के बाद ही दीक्षा लूंगा, इससे पूर्व नहीं।

महावीर का जन्म

गर्भ काल पूर्ण होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की मध्य रात्रि में महावीर का उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में जन्म हुआ। छप्पन दिग्कुमारियां आईं और उन्होंने सारा प्रसूति कर्म किया। जन्मोत्सव मनाने के लिए सर्वप्रथम सौधर्म देवलोक के इन्द्र आये। उन्होंने नवजात शिशु को कर में लिया। उनके ही प्रतिरूप को माता के पास रखा। पांच रुप धारण कर इन्द्र बालक को मेरु पर्वत के पुंडरीक वन में गये। वहां एक शिला पट्ट पर अपनी गोद में शिशु को लेकर इन्द्र पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये। उस समय अन्य तिरेसठ इन्द्र व देवगण भी उपस्थित हुए। आभियोगिक देव जल लेकर आए। सब इन्द्र-इंद्रानियों व देवों ने जन्माभिषेक किया।

इन्द्र की आशंका

इस अवसरपिणी काल के चौबीस तीर्थकरों में अंतिम तीर्थकर का शरीर प्रमाण काफी छोटा होता है। अभिषेक से ठीक पहले सौधर्मन्द्र के मन में शंका हुई कि यह नन्हा सा शरीर अभिषेक की इतनी जल धारा को कैसे सह पायेगा।

महावीर अवधि ज्ञानी थे। वे इन्द्र की शंका को समझ गये। तीर्थकर अनंत

बली होते है। शरीर के छोटे-बड़े होने में कोई अंतर नहीं पड़ता। यह बताने के लिए उन्होंने अपने बाएं पैर के अंगूठे से मेरु पर्वत को जरा सा दबाया तो वह कंपायमान हो उठा। मेरु पर्वत के अचानक प्रकंपित होने से इन्द्र सकपका गये। यह सब जानने के लिए उन्होंने अवधि दर्शन लगाया तो उन्हें पता चला कि स्वयं भगवान् ने अनंतबली होने की बात बताने के लिए अपने अंगूठे से पर्वत को हिलाया है। अभिषेक के बाद बालक को पुनः माता के पास रख लिया।



नगर में उत्सव

राजा सिद्धार्थ ने मुक्त हृदय से दस दिन का उत्सव मनाया। प्रजा के आनंद व उत्साह की सीमा नहीं रहे। क्षत्रिय कुंड की सजावट इंद्र पुरी को भी मात कर रही थी। नागरिकों का कर माफ कर दिया। कैदियों को बंधन मुक्त कर दिया। नाम के दिन पारिवारिक जनों का प्रीतिभोज रखा गया। समस्त पारिवारिक लोगों ने नवजात शिशु को देखकर आशीर्वाद दिया। नाम की परिचर्चा में राजा सिद्धार्थ ने कहा— 'इसके गर्भकाल में धन-धान्य की अप्रत्याशित वृद्धि हुई थी अतः बालक का नाम वर्धमान रखा जाये।' सभी ने बालक को इसी नाम से पुकारा। बाद में प्रभु के अन्य नाम— महावीर, श्रमण, ज्ञातपुत्र आदि भी प्रचलित हुए।

बाल क्रीड़ा

वर्धमान कुमार ने आठवें वर्ष में प्रवेश किया। एक बार वे अपने समवयस्क साथियों के साथ 'आमलकी' खेल खेलने लगे। उस समय सौधर्मेन्द्र ने अपनी सभा में बालक वर्धमान के बुद्धि कौशल व साहस की प्रशंसा की और कहा— 'उनके साहस का मुकाबला मनुष्य और तिर्यच क्या देव शक्ति भी नहीं कर सकती। एक देव को इन्द्र की इस बात में अतिशयोक्ति दिखाई दी। वह बालक वर्धमान को पराजित करने के लिए नीचे आया जहां वे खेल रहे थे। वर्धमान उस समय साथी बालकों के संग वृक्ष पर चढ़े हुए थे। वह देव भयंकर सर्प का रूप बना कर उसी वृक्ष की एक शाखा पर लिपट गया और फुफकार करने लगा। सारे बच्चे सर्प को देखकर चिल्ला उठे— 'बचाओ ! बचाओ !! जहरीला सर्प पेड़ पर है।' वर्धमान थोड़े आगे बढ़े और उस सर्प को पकड़ कर दूर फैंक दिया।

पुनः खेल प्रारंभ हुआ। बालक अब 'तिंदूसक' खेल खेलने लगे। इसमें यह नियम था कि अमुक वृक्ष को लक्ष्य करके बच्चे दौड़ते हैं। जो लड़का सबसे पहले उस वृक्ष का स्पर्श कर लेता है वह विजयी और शेष पराजित हो जाते हैं। बालक रूपधारी देव खेल में कुमार वर्धमान से हार गया। नियमानुसार कुमार उसकी पीठ पर बैठे। वह ज्यों-ज्यों दौड़ता है उसका शरीर लंबा होता गया। दैत्याकार व प्रलंब देह को देखकर सब बच्चे चिल्ला कर भागने लगे। इस चिल्लाहट को सुनकर आस-पास में लोग काफी संख्या में इकट्ठे हो गये। इस दैवी माया को समझते कुमार को देर नहीं लगी। कुमार ने उसकी पीठ पर मुष्टि प्रहार किया। वर्धमान के तीव्र प्रहार को देव सह नहीं सका। वह तुरंत नीचे बैठ गया। उसे निश्चित विश्वास हो गया कि कुमार को हराना उसकी शक्ति के बाहर है। तुरंत वह अपने वास्तविक रूप में आकर बोला— 'कुमार ! इन्द्र ने जैसी आपकी प्रशंसा की, वैसे ही आप है। मैं तुम्हारा परीक्षक बनकर आया था और प्रशंसक बनकर जा रहा हूं। आप सचमुच में महावीर हो।'।

पाठशाला में

बाल-क्रीड़ा के बाद प्रभु जब आठ वर्ष के हुए तो महाराज सिद्धार्थ बालक वर्धमान को पाठशाला में ले गये। शक्रेन्द्र को अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि राजा त्रिज्ञानज्ञ प्रभु को पढ़ाने के लिए पाठशाला ले जा रहे हैं। कलाचार्य इनको क्या पढ़ायेगा ? किन्तु लोगों को पता नहीं है। शक्रेन्द्र स्वयं आये, पाठशाला के उपाध्याय एक पट्ट पर आसन लगाकर बैठे थे। वर्धमान कुमार को नीचे बिठाया गया था। अध्ययन प्रारम्भ होने ही वाला था कि इन्द्र एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाकर उपाध्याय के पास पहुंचे और व्याकरण सम्बन्धी जिज्ञासाएं प्रस्तुत की। उपाध्यायजी प्रश्न सुनकर चकरा गये। हतप्रभ हो आकाश की ओर देखने लगे।

तब वृद्ध विप्र ने बालक वर्धमान से भी वे ही सवाल पूछे, वर्धमान ने सहज भाव से सारे प्रश्नों के उत्तर दे दिये। उत्तर सुनकर कलाचार्यजी विस्मित हो उठे। सोचने लगे— 'इसे मैं क्या पढ़ाऊंगा ? यह तो स्वयं दक्ष है।' उन्होंने तत्काल अपना आसन छोड़ा और नीचे आ बैठे। इन्द्र ने अपना रूप बदलकर वर्धमान का परिचय दिया। सभी प्रसन्न होकर वर्धमान को पुनः राजमहल में ले आए। महावीर के मुख से निकले हुए वचन 'ऐन्द्र व्याकरण' के रूप में प्रसिद्ध हुए।

विवाह

वर्धमान के तारुण्य में प्रवेश करते ही सिद्धार्थ उनके विवाह की तैयारी करने लगे। वर्धमान को विवाह के लिए तैयार करने का काम उनके युवा मित्रों को सौंपा गया। एक दिन उनकी मित्रों से लम्बी बहस चल पड़ी। विवाह के पक्ष और विपक्ष में दलीलें दी जाने लगीं। इसी बीच माता त्रिशला ने वर्धमान से आकर कहा— 'विवाह करने की तेरी इच्छा नहीं है, किन्तु मेरी है। ऐसा मानकर तुझे विवाह करना ही पड़ेगा। तुमने कभी मेरे मन को नहीं दुखाया, मुझे विश्वास है, अब भी नहीं दुखाएगा।'।

वर्धमान कुमार अपने भोगावली कर्मों की स्थिति देखकर माताजी की मनुहार पर मौन बने रहे। माताजी ने तुरन्त घोषणा कर दी कि वर्धमान का विवाह होगा।

महाराज सिद्धार्थ ने बसंतपुर नगर के राजा समरवीर की पद्मावती रानी से उत्पन्न पुत्री यशोदा के संग परम हर्षोल्लास के साथ उनका विवाह कर दिया। अनासक्त भाव से भोग भोगते हुए वे समय बिताने लगे। यशोदा से एक पुत्री भी उत्पन्न हुई। उसका नाम प्रियदर्शना रखा गया। युवा होने पर उसका विवाह राजकुमार जमालि से हुआ।

दिगम्बर परम्परा में वर्धमान के विवाह की बात नहीं है। वे भगवान् को बाल ब्रह्मचारी मानते हैं।

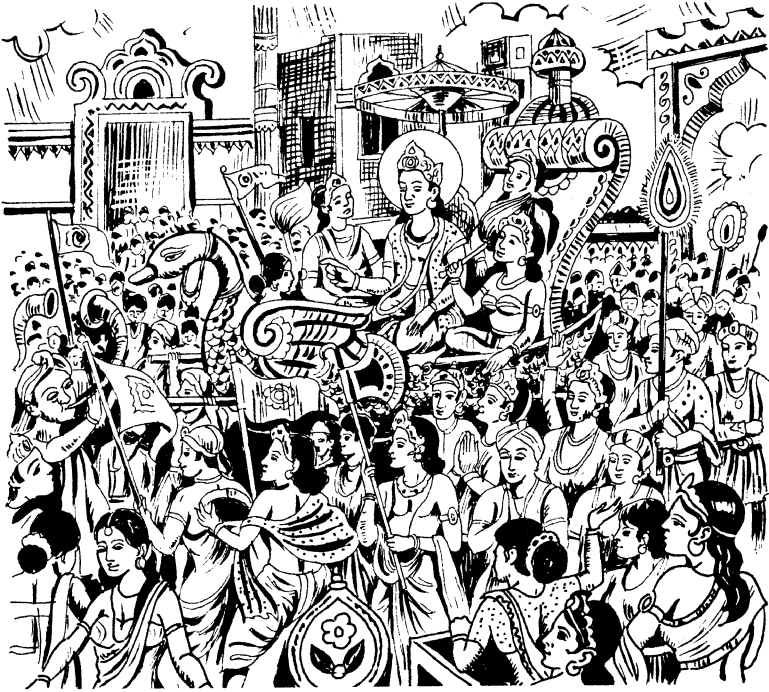
दीक्षा

महावीर के पिता सिद्धार्थ व माता त्रिशला भगवान् पार्श्व की परंपरा के श्रमणोपासक थे। महावीर प्रारंभ से विरक्त थे, पर माता-पिता के अत्यंत स्नेह के कारण दीक्षा की बात को प्रकट नहीं कर रहे थे। उन्होंने गर्भ में ही यह निर्णय कर लिया था कि माता-पिता के रहते वे दीक्षा नहीं लेंगे।

महावीर अठाइस वर्ष के हुए। माता-पिता ने अनशन स्वीकार कर समाधि मरण प्राप्त किया और वे बारहवें अच्युत देवलोक में महर्धिक देव बने। माता-पिता के स्वर्गवास के बाद महावीर ने अपने बड़े भ्राता नन्दिवर्धन से कहा— 'भाईजी ! अब मुझे दीक्षा की आज्ञा दीजिये।'।

नंदीवर्धन— 'भाई ! यह तुम क्या कह रहे हो ! अभी माता-पिता के वियोग के दुःख को भूला ही नहीं हूं तुम भी छोड़ने की बात कर रहे हो । जब तक हमारा मन स्वस्थ न हो जाये तब तक जाने की बात मत करो ।'

महावीर- बड़े भाई की आज्ञा का उल्लंघन करना ठीक नहीं पर आप मेरी गृहवास की अवधि तो निश्चित कर दे ।'



नंदीवर्धन— 'कम से कम दो वर्ष तक ।' महावीर दो वर्ष तक गृहवास में और रहे । इस अवधि में उन्होंने त्यागमय जीवन जीया । वे रात्रि भोजन नहीं करते, अचित्त जल पीते, भूमि पर सोते और ब्रह्मचर्य का पालन करते । काय प्रक्षालन में भी अचित्त जल का उपयोग करते । बेले-बेले तप करते । एक वर्ष पूर्ण होने पर नौ लोकांतिक देव सामूहिक रूप से महावीर के पास आये-और नमस्कार करके निवेदन किया— 'भगवन् । अब आप जनहित में दीक्षा अंगीकार करे और धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करें ।'

महावीर ने वर्षीदान प्रारंभ किया । देव सहयोग से प्रतिदिन एक प्रहर तक एक करोड़ आठ लाख मुद्राओं का दान करते । इस तरह पूरे वर्ष तीन अरब अदासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान दिया । वर्षीदान के बाद महावीर के काका सुपार्श्व व भाई नंदीवर्धन ने महावीर के दीक्षा महोत्सव की तैयारियां शुरु

कर दी। महावीर ने स्नान किया, चंदन आदि का लेप कर सुंदर परिधान व अलंकार धारण किये। देव-निर्मित विशाल एवं भव्य 'चंद्रप्रभा सुख पालिका' में महावीर बैठे। देवों व मनुष्यों ने रांगुक्त रूप से उसे उठाया। इसमें अनगिनत देवी-देवता, हजारों स्त्री, पुरुषों, राजा नंदीवर्धन के पूरे लाव लश्कर के साथ सुख पालिका ज्ञात खंड वन में अशोक वृक्ष के नीचे रखी। सुखपालिका से उतर कर महावीर ने अपने समस्त वस्त्रालंकार उतार दिये। मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी, दिन का तीसरा प्रहर, पूर्वाभिमुख महावीर ने पंचमुष्ठी लोच किया। शक्रेन्द्र ने केशों को थाल में लिया और उन्हें क्षीर समुद्र में प्रवाहित कर दिया।

महावीर ने 'णमो सिद्धांण' कहते हुए देव-मनुष्यों की विशाल परिषद् के बीच यह प्रतिज्ञा की **सर्व्वं मे अकरणिज्जं पावं कम्मं** अब से मेरे लिए सब पाप कर्म अकरणीय है। यह कहते हुए उन्होंने सामायिक चारित्र स्वीकार किया। दीक्षित होते ही उन्होंने अभिग्रह ग्रहण किया— केवल ज्ञान होने तक मैं व्युत्सृष्ट देह रहूंगा अर्थात् देव, मनुष्य तथा तिर्यच (पशु जगत) जीवों की ओर से जो भी उपसर्ग समुत्पन्न होगा उसको समभाव पूर्वक सहन करूंगा। पारिवारिक व अन्य सभी से विदा लेकर भगवान ने वहां से विहार कर दिया।

सौधर्मेन्द्र ने उस समय भगवान् के कन्धे पर देव दूष्य वस्त्र रख दिया। ज्ञात खंड से विहार करके मुहूर्त भर दिन शेष रहते कुमरि ग्राम पहुंचे और वहां ध्यानावस्थित हो गये।

प्रथम उपसर्ग

भगवान् कुमरिग्राम के बाहर ध्यानारूढ़ हो गये। कुछ ग्वाले आये और अपने बैलों को संभला कर गांव में चले गये। कुछ समय के बाद वे ग्वाले पुनः आये और बोले— 'बाबा, मेरे बैल यहीं चर रहे थे किधर गये?' प्रभु मौन थे। सारी रात खोजने पर भी ग्वालों को बैल नहीं मिले। संयोगवश वे बैल चरकर रात्रि को प्रभु के पास आकर बैठ गये थे। ग्वाले रात भर भटकते हुए प्रातः काल पुनः उधर से निकले तो उन्होंने बैलों को वहीं पर देखा। वे रात भर के झुंझलाये हुए तो थे ही, क्रुद्ध हो उठे। बकने लगे— बाबा क्या है! धूर्त है, बैल यहीं थे इसने बताये नहीं ! यों कहकर वे प्रभु पर कोड़े बरसाने लगे। तभी इन्द्र ने अवधि-दर्शन से देखा तथा वहां आकर मूर्ख ग्वालों को समझाया।

शक्रेन्द्र ने भगवान् से प्रार्थना की— 'प्रभो ! आपके कर्म बहुत हैं, अतः उपसर्ग काफी होंगे। मुझे आज्ञा दें, मैं सेवा में रहूँ।' भगवान् ने मुस्कराकर कहा— 'देवेन्द्र ! अरिहन्त कभी दूसरों के बल पर साधना नहीं करते। अपने सामर्थ्य से ही वे कर्मों का क्षय करते हैं, अतः मुझे किसी की सहायता नहीं चाहिए।'।

दूसरे दिन वहां से विहार कर कोल्लाग सन्निवेश में आये और वहां बहुल

ब्राह्मण के घर परमान्न (खीर) से बेलें का प्रथम पारणा किया। दान की महिमा गाते हुए देवों ने पंच द्रव्य प्रकट किये।

उपसर्ग व कष्ट प्रधान साधना

भगवान् महावीर के छद्मस्थ काल की साधना उपसर्ग, कष्ट : घटना प्रधान रही। प्राचीन आचार्यों के अभिमत में तेईस तीर्थकर के कर्म दलिक एक तरफ और भगवान् महावीर के कर्म एक तरफ। इसमें भी महावीर के कर्म अधि-क थे। इस कारण महावीर की साधना बड़ी कष्ट पूर्ण व प्रखर रही।

आचारांग सूत्र व कल्प सूत्र में भगवान् की साधना का विस्तृत वर्णन मिलता है कि दीक्षित होने के बाद महावीर ने देव दूष्य वस्त्र के अतिरिक्त कुछ नहीं रखा। लगभग तेरह मास तक वस्त्र भगवान् के कंधे पर रहा। उसके बाद उस वस्त्र के गिर जाने से वे पूर्ण रूप से अचेत हो गये।

दीक्षा के समय उनके शरीर पर जो सुगंधित विलेपन किया गया था, उससे आकृष्ट होकर भ्रमर व सुगंध प्रेमी कीट भगवान् के शरीर पर चार माह तक मंडराते रहे, मांस को नोचते रहे, रक्त पीते रहे, पर महावीर ने उफ तक नहीं किया। उस सुगंध से प्रभावित होकर मनचले युवक भगवान् के पास आते और निवेदन करते आपके शरीर में अत्यधिक सुगंध आ रही है। हमें भी कोई उपाय बतायें व चूर्ण दें जिससे हमारे शरीर में सुवास फैले। मौन रहने के कारण वे युवक उन्हें छेड़ते, कष्ट देते और चले जाते। आपके रूप-सौन्दर्य, सुगठित व बलिष्ठ शरीर को देखकर स्वेच्छा विहारिणी युवतियां अपनी काम पीपासा शांत करने के लिए आती। वे अपने हाव-भाव प्रदर्शित करती, कटाक्ष करती, विविध नृत्य व भावों से आकर्षित करने का प्रयास करती, पर महावीर तो मेरु पर्वत की भांति अडोल रहते। उन पर इनका कोई असर नहीं होता! आखिर हार कर उन्हें कष्ट देती हुई चली जाती।

साधना काल में वे कभी निर्जन झोंपड़ी, कभी प्याऊ या कुटिया, कभी खंडहर या धर्मशाला में कभी यक्ष मंदिर व श्मशान में निवास करते। शीत काल में भयंकर ठंड के समय दूसरे साधक सर्दी से बचने के लिए गर्म स्थानों में रहते, कपड़े ओढ़ते, पर महावीर उस सर्दी में भी खुले बदन खुले स्थान में खड़े रहते और सर्दी से बचाव की इच्छा तक भी नहीं करते। अपनी बाहुओं को नहीं समेटते। खुले शरीर होने से सर्दी गर्मी के अलावा दंश-मशक (मच्छर) का भी पूरा परीषह रहता। कभी सर्प आदि विषैले व काक, गीध आदि तीक्ष्ण चोंच वाले पक्षियों के प्रहार भी सहन करते। कभी-कभी लोग उन्हें चोर या जासूस समझ कर पीटते, अपमानित करते। भयंकर दैवी उपसर्गों को भी समभाव से सहते।

साधनाकाल में महावीर ने प्रायः नींद नहीं ली। जब उन्हें निद्रा सताती वे खड़े हो जाते या कुछ समय चंद्रमण कर नींद को भगा देते थे। विहार के प्रसंग

में भगवान् अगल-बगल व पीछे मुड़ कर नहीं देखते। मार्ग में वे किसी से बोलते नहीं थे। प्रायः तप में रहते। पारणे में जो रूखा-सूखा ठंडा-बासी भोजन मिल जाता उसे वे अनासक्त भाव से ग्रहण कर लेते। रोग उत्पन्न होने पर औषध-सेवन नहीं करते। आंख में रजकण पड़ने पर भी उसे निकालने तक भी इच्छा नहीं रखते। शरीर को कभी भी नहीं खुजलाते। इस प्रकार देह से विदेह होते हुए प्रतिक्षण प्रतिपल जागरूक व सजग रहकर ध्यान व कायोत्सर्ग से अपनी आत्मा को भावित करते।

साधना का पहला वर्ष

कोल्लाग सन्निवेश से विहार कर भगवान् मोराक सन्निवेश पधारे। वहां “दुईज्जन्तक” तापसों का आश्रम था। आश्रम का कुलपति महाराज सिद्धार्थ का मित्र था। प्रभु को आते देख कुलपति सामने आये, स्वागत किया और वहां ठहरने की प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना पर महावीर ने वहीं ठहरने का निश्चय किया और एक रात्रि प्रतिमा धारण कर ध्यानावस्थित हो गये। दूसरे दिन जब महावीर विहार करने लगे तो कुलपति ने आश्रम में चातुर्मास व्यतीत करने का निवेदन किया। ध्यान-योग्य एकांत स्थल को देख कर उस प्रार्थना को महावीर ने स्वीकार कर लिया। कुछ समय तक आसपास के गांवों में विचरण कर पुनः वर्षावास के लिए उसी आश्रम में आ गये और पर्ण-कुटी में रहने लगे।

उस वर्ष वर्षा के अभाव में हरी घास व दूब नहीं उग पाई। आस-पास के जंगल में चरने वाले पशु पर्याप्त खाद्य के अभाव में आश्रम की पर्ण कुटीरों की सूखी घास को चरने लगे। आश्रम के तापस पर्णकुटीरों की रक्षा हेतु डंडे लेकर जानवरों को भगा देते। महावीर अपने ध्यान में संलग्न थे। जो अपने शरीर की भी सार संभाल छोड़ चुके हैं वे इस पर्णकुटीर का कैसे ध्यान रखेंगे ? महावीर जिस कुटीर में थे, उसके घास को पशुओं ने खाना शुरू कर दिया। तापसों ने कुलपति से शिकायत की कि आप कैसे अतिथि को ले आये जो अपनी कुटीर की भी रक्षा नहीं कर रहा है।

कुलपति महावीर के पास आये और मृदु उपालंभ देते हुए कहा— ‘कुमार ! पक्षी भी अपने नीड़ की रक्षा करते हैं। तुम तो क्षत्रिय राजकुमार हो। तुम्हें तो अपनी कुटी की रक्षा स्वयं जागरूकता से करनी चाहिए।’

महावीर को यह बात नहीं जची। उन्होंने सोचा— “अब यहां मेरा रहना अप्रीतिकर रहेगा, इसलिये यहां रहना उपयुक्त नहीं।” ऐसा सोचकर उन्होंने चातुर्मास का एक पक्ष बिता कर वहां से विहार कर दिया। उस समय भगवान् ने निम्नोक्त पाँच प्रतिज्ञाएं ग्रहण की—

१. अप्रीतिकारक स्थान में नहीं रहूंगा।

२. सदा ध्यान में अवस्थित रहूंगा।
३. नित्य मौन रखूंगा।
४. हमेशा हाथ में ही भोजन करूंगा।
५. गृहस्थों का कभी विनय नहीं करूंगा।

शूलपाणि यक्ष का उपद्रव

मोराक सन्निवेश के आश्रम से विहार कर भगवान् अस्थिग्राम पधारे। एकांत स्थल की खोज में नगर के बाहर शूलपाणि यक्ष के मंदिर में ठहरने की भगवान् ने गांव वालों से अनुमति मांगी। गांव वालों ने कहा— 'बाबा ! रहो भले, पर इस मंदिर में एक यक्ष रहता है जो स्वभाव का बड़ा क्रूर है। रात्रि में वह किसी को नहीं रहने देता, इसलिए आप अन्यत्र ठहरें तो ठीक रहेगा।' सायंकाल पुजारी इन्द्रशर्मा ने पूजा करने के बाद भगवान् को यक्ष के भयंकर उत्पात की सूचना दी, फिर भी महावीर ध्यानावस्थित रहे।

रात्रि में अंधकार व्याप्त होने के बाद यक्ष प्रकट हुआ। लोगों के मना करने के बावजूद भगवान् के वहां रहने से यक्ष ने इसे अपने प्रति धृष्टता समझी। यक्ष ने भयंकर अट्टहास किया जिससे पूरा वनप्रदेश कांप उठा। गांववासियों की छतियां धड़कने लगी, हृदय दहल उठे, पर भगवान् निश्चल खड़े रहे। अब यक्ष ने हाथी, पिशाच आदि रूप बनाकर महावीर को विविध कष्ट दिये। भगवान् के आंख, कान आदि सात स्थानों में ऐसी भयंकर वेदना उत्पन्न की कि सामान्य प्राणी के प्राण पखेरू उड़ जाये, पर महावीर कष्टों को सहते रहे। अंत में वह भगवान् की दृढ़ता एवं अपूर्व साहेष्णुता के सामने हार गया। शांत होकर यक्ष भगवान् के चरणों में गिर पड़ा और अपने कृत्य के लिए क्षमा मांगते हुए नमस्कार कर चला गया। फिर शेष रात्रि उपसर्गरहित बीती।

स्वप्न-दर्शन

उसी रात्रि के अंतिम प्रहर में भगवान् को मुहूर्त भर नींद आ गई। यह उनके साधना काल की प्रथम व चरम नींद थी। उस समय भगवान् ने दस स्वप्न देखे—

१. अपने हाथ से ताड़-पिशाच को पछाड़ना।
२. अपनी सेवा करता श्वेत कोकिल।
३. अपनी सेवा करता विचित्र वर्णवाला कोकिल
४. देदीप्यमान दो रत्नमालाएं।
५. श्वेत वर्ण वाला गौवर्ग।
६. विकसित पद्म सरोवर।
७. अपनी भुजाओं से समुद्र को पार करना।

८. उदीयमान सूर्य की किरणों का प्रसार ।
९. अपनी आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को लपेटना ।
१०. मेरु पर्वत पर आरोहण करना ।

गांव वालों ने यह अनुमान लगा लिया कि यक्ष ने महावीर को मार डाला । उसी अस्थिग्राम में उत्पल नैमित्तज्ञ रहता था । किसी समय वह भगवान् पार्श्व की परंपरा का साधु था । बाद में गृहस्थ होकर निमित्त ज्योतिष से अपनी आजीविका चलाता था । उत्पल, इन्द्रशर्मा पुजारी व अन्य गांववालों के साथ यक्ष मंदिर में पहुंचा । वहां पर भगवान् को ध्यानावस्थित अविचल खड़े देखा तो सबके आश्चर्य एवं आनन्द की सीमा नहीं रही । रात में देखे हुए भगवान् के स्वप्नों का उत्पल क्रमशः फल बताने लगा—

१. आप मोहनीय कर्म का अंत करेंगे ।
२. आपको शुक्ल ध्यान प्राप्त होगा ।
३. आप द्वादशांगी रूप श्रुत का उपदेश देंगे ।
४. इसका फल नैमित्तज्ञ बता नहीं पाया ।
५. चतुर्विध संघ की स्थापना करेंगे ।
६. देवता आपकी सेवा करेंगे ।
७. आप संसार समुद्र को पार करेंगे ।
८. आपको केवल ज्ञान प्राप्त होगा ।
९. आप द्वारा प्रतिपादित दर्शन व आपका यश दिग्दिगंत तक फैलेगा ।
१०. समवसरण में व्यापक धर्म का प्रतिपादन करेंगे ।

चौथे स्वप्न का फल नैमित्तज्ञ नहीं जान सका । इसका फल स्वयं प्रभु ने बताया—
'मैं साधु और गृहस्थ इन दो धर्मों की प्ररूपणा करूंगा ।'

अस्थिग्राम के इस पावस-प्रवास में फिर कोई उपसर्ग नहीं हुआ । भगवान् ने पन्द्रह-पन्द्रह उपवास की आठ तपस्याएं कीं ।

साधना का दूसरा वर्ष

अस्थिग्राम पावस के पश्चात् महावीर मोराक सन्निवेश पधारे । वहां अच्छंदक नामक एक अन्यतीर्थी पाखंडी रहता था । जो ज्योतिष, तंत्र-मंत्रादि में अपनी आजीविका चलाता था । उसका सारे गांव में प्रभाव था । उसके प्रभाव को समाप्त करने के लिए तथा प्रभु का नाम फैलाने के लिए सिद्धार्थ नामक व्यंतर देव ने गांव वालों को चमत्कार दिखाया । इससे अच्छंदक का प्रभाव निष्प्रभ हो गया । अपनी घटती महत्ता को देख वह महावीर के पास आया और करुण स्वर में प्रार्थना करने लगा— 'भगवन् ! आप अन्यत्र चले जायें क्योंकि आपके यहां रहने से मेरी आजीविका नष्ट हो जायेगी और मैं दुःखी हो जाऊंगा' । ऐसी परिस्थिति में भगवान् ने वहां

रहना उचित नहीं समझा और वहां से वाचाला की ओर विहार कर दिया।

वाचाला के दो सन्निवेश थे एक उत्तर वाचाला व दूसरा दक्षिण वाचाला। दोनों सन्निवेश के बीच सुवर्ण बालुका व रौप्य बालुका नामक दो नदियां बहती थी। भगवान् दक्षिण वाचाला से उत्तर वाचाला की ओर जा रहे थे। सुवर्ण बालुका नदी के किनारे भगवान् के कंधे पर इन्द्र द्वारा डाला गया देवदूष्य वस्त्र वहीं कांटों में उलझकर पीछे रह गया। महावीर आगे चले और बाद में कभी वस्त्र ग्रहण नहीं किया। इस तरह तेरह महीनों के बाद वे पूर्ण अचेल हो गये।

चण्डकौशिक का उद्धार

उत्तर वाचाला जाने के लिए दो मार्ग थे। एक कनकखल आश्रम के भीतर से होकर जाता था, दूसरा आश्रम के बाहर होकर। भीतर वाला मार्ग सीधा होने पर भी भयंकर एवं उजड़ा हुआ था। बाहर का मार्ग लंबा व टेढ़ा होने पर भी निरापद था। प्रभु भीतर के मार्ग से चले। मार्ग पर ग्वाल मिले। उन्होंने कहा— ‘देवार्थ ! यह मार्ग ठीक नहीं है। इस रास्ते पर एक भयानक दृष्टिविष सर्प रहता है जो राहगीरों को जलाकर भस्म कर देता है। आप इस मार्ग से न जाकर बाहर के मार्ग से जाएं तो अच्छा रहेगा।’

महावीर ने उनकी बात पर न तो ध्यान दिया न ही उत्तर। वे चलते हुए सर्प के बिल के पास ध्यानारूढ़ हो गये। सारे दिन आश्रम क्षेत्र में घूमकर सर्प जब अपने स्थान पर लौटा। उसकी दृष्टि ध्यान में खड़े भगवान् पर पड़ी तो वह क्रुद्ध हो गया। उसने अपनी विषभरी दृष्टि भगवान् पर डाली। साधारण प्राणी तो उस सर्प के एक बार के दृष्टिपात से जलकर भस्म हो जाता था, किन्तु भगवान् पर उस विषमयी दृष्टि का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। तीन बार भयंकर दृष्टि डालने पर भी जब कोई असर नहीं पड़ा तो उसका क्रोध सीमा लांघ गया। उसने भगवान् के पैरों पर डंक लगाया और श्वेत रुधिर की धारा बह चली। रक्त में दूध का स्वाद पाकर चंडकौशिक स्तब्ध रह गया। वह एकटक प्रभु की शांत व सौम्य मुखमुद्रा को नीहारने लगा।

चंडकौशिक को शांत देख महावीर ने कहा— “उवसम भो चंडकोसिया”। शांत हो चंडकौशिक। चंडकौशिक यह नाम तो मैंने कहीं सुना है। इस ऊहापोह में उसे जाति स्मरण ज्ञान हो गया। उसे अपने पिछले तीन भव याद आ गये। पहले भव में वह तपस्वी मुनि था। एक बार तपस्या का पारणा करने जाते समय मेंढकी दबकर मर गई। शिष्य के द्वारा दो-तीन बार याद दिलाने पर कि आप इसकी आलोचना करें, तो वह तपस्वी क्रुद्ध हो गया और शिष्य को मारने के लिए उठा। क्रोधावेश में ध्यान न रहने से एक स्तम्भ से सिर टकरा गया, फलतः उसी समय कालधर्म को प्राप्त कर ज्योतिष्क जाति में देव बना। देवानु भोगकर तीसरे भव में कनकखल

आश्रम के पांच सौ तापसों के कुलपति की पत्नी की कुक्षि से पुत्र रूप में जन्मा नाम रखा गया कौशिक। प्रवृत्ति उग्र होने से सब उसे चंडकौशिक कहने लगे। उसका आश्रम व उसके पार्श्ववर्ती वनप्रदेश के प्रति गहरा ममताभाव था। एक बार 'सेयविया' के राजकुमारों ने वन प्रदेश में कुछ उजाड़ कर दिया। सूचना मिलने पर उन राजकुमारों के पीछे वह हाथ में परशु लिए दौड़ा। राजकुमार भाग निकले। चंडकौशिक दौड़ता हुआ गड़डे में गिर पड़ा। परशु की धार अत्यन्त तीक्ष्ण थी। उस पर गिरने से चंडकौशिक का शिरच्छेद हो गया। वहां से इसी आश्रम क्षेत्र में आशीविष सर्प बन गया।

अब चंडकौशिक प्रतिबुद्ध हो चुका था। उसने यह संकल्प ले लिया— "अब मैं किसी को भी नहीं सताऊंगा और न आज से जीवनपर्यन्त भोजन, पानी ग्रहण करूंगा"। इस संकल्प के साथ सर्प ने अपने मुंह को बिल में डाल दिया, शेष शरीर को बिल से बाहर। उसके बदले स्वरूप को देखकर आबाल वृद्ध दूध, घी आदि से पूजा अर्चना करने लगे। इससे सर्प के शरीर पर चींटियां लगने लगीं। चींटियों ने उसके शरीर को छलनी बना दिया। इस प्रकार वेदना को समभाव से सहकर सर्प आठवें स्वर्ग में देव रूप में उत्पन्न हुआ। ऐसे थे पतित पावन महावीर।

भगवान् का नौकारोहण

चंडकौशिक का उद्धार कर भगवान् उत्तर वाचाला पधारे। वहां नाग के सदन में पन्द्रह दिन की तपस्या का खीर से पारणा किया। वहां से श्वेत नगरी पधारे। नगरी के राजा ने भगवान् का भावभीना सत्कार किया। श्वेतांबिका से सुरभिपुर जाते हुए मार्ग में गंगा नदी आई। गंगा को पार करने के लिए नौका पर आरूढ़ हो गये। गंगा मध्य पहुंचने पर सुदंष्ट्र देव ने भयंकर तूफान खड़ा कर नौका को उलटने की कोशिश की, पर भक्त नागकुमार देव कम्बल और शम्बल ने उस देव के प्रयत्न को सफल नहीं होने दिया।

धर्म चक्रवर्ती

नौका से उतर कर भगवान् गंगा के किनारे थूनाक सन्निवेश पधारे और वहां ध्यानमुद्रा में अवस्थित हो गये। गांव के पुष्य नामक निमित्तज्ञ ने भगवान् के चरण चिन्ह देखकर सोचने लगा-इन चिन्हों वाला अवश्य ही कोई चक्रवर्ती या सम्राट् होना चाहिए। लगता है कि किसी संकट के कारण अकेला घूम रहा है। यह देखने के लिए चरण-चिन्हों का अनुसरण करता हुआ भगवान् के पास आया। वहां एक भिक्षुक को देखकर उसके मन में ज्योतिष शास्त्र से श्रद्धा हिल गई। वह अपने शास्त्रों को गंगा में फेंकने के लिए उद्यत हुआ तभी इन्द्र ने साक्षात् होकर कहा- 'पंडित! शास्त्र ठीक कह रहा है। इससे श्रद्धा को मत हिलाओ। यह साधारण पुरुष नहीं धर्म चक्रवर्ती है। यह देवेन्द्रों व नरेन्द्रों के भी वंदनीय हैं।' ऐसा सुनकर

पुष्प बहुत प्रसन्न हुआ और वंदना करता हुआ चला गया।

थूनाक सन्निवेश से प्रभु राजगृह पधारे। वहां तन्तुवायशाला में चातुर्मास बिताने लगे। मंखलिपुत्र युवा गोशालक भी चातुर्मास बिताने उसी शाला में ठहरा हुआ था। पहले मासखमण का पारणा भगवान् ने विजय सेठ के यहां किया। देवों ने पंच द्रव्य प्रकट किये। प्रभु के अतिशय प्रभाव को देखकर गोशालक आकर्षित हुआ और उनसे स्वयं को उनका शिष्य बनाने की प्रार्थना की। भगवान् मौन रहे। उस चातुर्मास में भगवान् ने चार मासखमण किये। चातुर्मास परिसमाप्ति पर भगवान् ने उसको शिष्य रूप में स्वीकार कर लिया। इसके बाद छह वर्ष तक गोशालक प्रभु के साथ विचरता रहा।

साधना का तीसरा वर्ष

चातुर्मास समाप्ति के बाद भगवान् कोल्लाग सन्निवेश पधारे। वहां से सुवर्णखल, नंदपारक आदि क्षेत्रों में होते हुए चंपा पधारे। यहीं तीसरा चातुर्मास व्यतीत किया। इस चातुर्मास में भगवान् ने दो-दो मास की तपस्या की।

साधना का चौथा वर्ष

चंपा से विहार कर कालाय सन्निवेश पधारे। वहां से पतकालय, कुमार सन्निवेश होते हुए चोराक सन्निवेश पहुंचे। वहां पर चोरों व डाकुओं का अत्यधिक भय था। इसलिए पहरेदार पूर्ण सतर्क थे। महावीर व गोशालक को देखकर उनके संशय जागा। पूछने पर महावीर मौन रहे। इस पर पहरेदारों ने क्रोधित होकर महावीर को पीटना शुरू कर दिया। उसी सन्निवेश में उत्पल निमित्तज्ञ की बहनें जयंती व सोमा रहती थी। उन्हें जब इस बात का पता चला तो तुरन्त आई, महावीर का सही परिचय दिया, तब पहरेदारों ने क्षमा मांगते हुए छोड़ दिया। उस वर्ष का चातुर्मास भगवान् ने पृष्ठ चंपा में किया। वहां विविध अभिग्रह युक्त चातुर्मासिक तप स्वीकार किया।

साधना का पांचवां वर्ष

पृष्ठ चंपा का चातुर्मास संपन्न कर प्रभु कयंगला व श्रावस्ती नगरी पधारे। साथ में गोशालक भी था। श्रावस्ती से विहार कर जंगल में हलिदुग नामक विशाल वृक्ष के नीचे पधारे और ध्यानारूढ़ हो गये। पार्श्व में लगी भयंकर आग उस वृक्ष के नीचे भी आ गई जिससे भगवान् के पैर झुलस गये। वहां से भगवान् नांगला, आवत्ता व चोराक सन्निवेश होते हुए कलंबुआ पधारे। कलंबुआ के अधिकारी मेघ और कालहस्ती जमींदार होते हुए भी आस-पास के गांवों में डाका डाला करते थे। जब महावीर वहां पहुंचे तो कालहस्ती अपने साथियों के साथ डाका डालने जा रहा था। मार्ग में महावीर से जब भेंट हुई तो उनसे पूछा— “तुम कौन हो ?” महावीर ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इस पर कालहस्ती ने उन्हें खूब पीटा, फिर

भी महावीर नहीं बोले।

इस पर कालहस्ती ने महावीर को अपने बड़े भाई मेघ के पास भिजवाया। मेघ ने उनको गृहस्थाश्रम में एक बार क्षत्रिय कुंड में देखा था अतः देखते ही उसने पहचान लिया। मेघ ने न केवल महावीर को मुक्त किया अपितु उनका सत्कार किया और उनसे क्षमा याचना भी की।

महावीर ने सोचा— मुझे अभी बहुत कर्म क्षय करने हैं। यहां जगह-जगह परिचित व्यक्ति भी मिल जाते हैं इसलिए अनार्य देश में जाना चाहिए जिससे सर्वथा अपरिचित होने पर कर्म क्षय का अच्छा अवसर मिल सके। ऐसा विचार कर भगवान् ने लाढ़ देश की ओर विहार किया। लाढ़ देश उस समय पूर्ण अनार्य माना जाता था। उस देश के दो भाग थे— वज्र भूमि व शुभ भूमि। इनको उत्तर राढ़ व दक्षिण राढ़ भी कहा जाता था। लाढ़ देश में भगवान् के सामने भयंकर उपसर्ग उपस्थित किये गये, कुछ उपसर्ग (परीषह) इस प्रकार हैं—

- ० भगवान् को ठहरने के लिए अनुकूल आवास नहीं मिल पाता। दूर-दूर तक गांव उपलब्ध नहीं होने से भगवान् को भयंकर अरण्य में ही ठहरना पड़ता।
- ० रूखा-सूखा, बासी भोजन भी मुश्किल से मिलता।
- ० कभी-कभी गांव में पहुंचने से लोग उन्हें मारने लग जाते और उन्हें दूसरे गांव जाने को बाध्य कर देते।
- ० लोग उन पर विविध रूप से प्रहार करते, जिससे उनका शरीर क्षत-विक्षत हो गया।
- ० उन्हें बार-बार गेंद की तरह उछाला गया, पटका गया।
- ० कुत्ते महावीर को काटने दौड़ते तो लोग उन कुत्तों को रोकते नहीं। अधिकांश तो ऐसे ही थे जो छू-छू कर कुत्तों को काटने के लिए प्रेरित करते।

इस तरह अनार्य प्रदेश में समभावपूर्वक उपसर्ग सहते हुए महान् कर्म-निर्जरा की। आर्य प्रदेश की ओर पुनः आते हुए सीमा पर पूर्ण कलश नामक अनार्य गांव में पधारे। रास्ते में चोर मिले। चोरों ने अपशकुन समझ कर तीक्ष्ण शस्त्रों से प्रहार करने लिए तत्पर हुए तो इन्द्र ने स्वयं उपस्थित होकर उनके इस प्रयास को विफल कर दिया। आर्य देश में पहुंचकर भगवान् ने मलय देश की राजधानी भद्रिला नगरी पधारे। वहां प्रभु ने चातुर्मास कर चातुर्मासिक तप किया।

साधना का छठा वर्ष

भद्रिला से विहार कर कदली समागम, जंबू संड होते हुए तंबाय सन्निवेश पधारे। वनं पार्श्व परंपरा के मुनि नंदिषेण से गोशालक की तक़रार हो गई। वहां के नृपय सन्निवेश पधारने पर उन्हें गुप्तचर समझकर पकड़ लिया। परिचय पूछने

पर मौन रहने से उनकी पिटाई शुरू कर दी। भगवान् पार्श्व की परंपरा में पहले शिष्याएं रही विजया एवं प्रगल्भा नाम की परिव्राजिकाएं आई और समझा-बुझाकर छोड़ा दिया। सबने भगवान् से क्षमा याचना की। कूपिय सन्निवेश से भगवान् ने वैशाली की ओर विहार कर दिया।

गोशालक यह कहकर भगवान् से अलग हो गया— 'आपके साथ रहने से मुझे भी कष्ट पाना पड़ता है। आप मेरा कोई भी बचाव नहीं करते इसलिए मैं आपको छोड़कर अकेला ही विहार कर रहा हूं।' यह कहकर वह राजगृह की ओर रवाना हो गया।

वैशाली में लोहार की कर्मशाला में अनुमति लेकर भगवान् ध्यानारूढ़ हो गए। कर्मशाला के एक कर्मकार-लुहार जो छह महीनों से अस्वस्थता के कारण आ नहीं पा रहा था, स्वस्थ होने पर शुभ दिन देखकर आया। सामने खड़े भगवान् को अपशकुन समझ हथोड़े से मारने दौड़ा तो उसके हाथ सहसा वहीं स्तंभित हो गये और उसका प्रहार विफल हो गया।

वैशाली से विहार कर ग्रामक सन्निवेश में विभेलक यक्ष के स्थान में भगवान् ध्यानासीन हो गये। भगवान् के तपोमय जीवन से प्रभावित होकर यक्ष गुणोत्कीर्तन करने लगा। वहां से भगवान् शालिशीर्ष के रमणीय उद्यान में पधारे। "कटपूतना" नामक व्यंतर देवी ने भगवान् को बहुत कष्ट दिये। अंत में शांत होकर भगवान् से क्षमायाचना कर चली गई। बाद में भदिया नगरी में भगवान् ने पावस प्रवास किया। वहां उन्होंने चातुर्मासिक तप किया। गोशालक भी छह मास तक विविध कष्टों को भोगता हुआ पुनः भगवान् के चरणों में पहुंचकर साथ में रहने लगा।

साधना का सातवां वर्ष

भदिया नगरी से मगध की ओर विहार किया और चातुर्मास आलंभिया नगर में चातुर्मासिक तप के साथ संपन्न किया। यह वर्ष भगवान् के बिना उपसर्ग के बीता।

साधना का आठवां वर्ष

चातुर्मास समाप्ति पर विहार कर भगवान् कुण्डाक, महना सन्निवेश व बहुसाल होते हुए लोहार्गल पधारे। शत्रु पक्ष का आदमी समझकर महावीर को राजा जितशत्रु के सामने उपस्थित किया गया। वहीं अस्थि गांव का नैमित्तज्ञ उत्पल बैठा था। उसने भगवान् को पहचान लिया। वह तत्काल उठा और उनके चरणों में वंदन करने के बाद राजा को भगवान् का परिचय दिया। भगवान् को ससम्मान विदा किया। वहां से पुरिमताल, शकटमुख, उन्नाग होते हुए राजगृह में चातुर्मास संपन्न किया। वहां उन्होंने चातुर्मासिक तप किया।

साधना का नौवां वर्ष

चातुर्मास के बाद विशेष कर्मों को खपाने के लिए वज्रभूमि, शुभभूमि जैसे अनार्य प्रदेशों में भगवान् पधारे। वहां अरण्य में, खंडहरों में भगवान् ध्यान करते। अनार्य लोगों ने वहां उनको बहुत कष्ट दिये। उन्हें समभाव पूर्वक सहनकर प्रभु ने महान् कर्म निर्जरा की। वहां उनको चातुर्मास के योग्य स्थान नहीं मिलने से चलते-फिरते चातुर्मास व्यतीत किया।

साधना का दसवां वर्ष

अनार्य भूमि से विहार कर भगवान् आर्य देश के कूर्म भूमि पधारे। गोशालक भी साथ था। रास्ते में सात पुष्पवाले एक तिल के पौधे को देखकर गोशालक ने पूछा— ‘भगवन् ! यह पौधा फलयुक्त होगा ?’

भगवान् ने कहा— ‘हां, यह पौधा फलेगा और सात फूलों के जीव इसकी एक फली में उत्पन्न होंगे।’ गोशालक ने भगवान् के कथन को मिथ्या प्रमाणित करने के लिए उस पौधे को उखाड़कर फेंक दिया। संयोगवश उसी समय थोड़ी वर्षा हुई और वह पुनः खड़ा हो गया। कुछ समय के बाद जब भगवान् उधर से गुजरे तो गोशालक ने कहा— ‘प्रभो ! आपकी भविष्यवाणी गलत हो गई।’

भगवान् ने कहा— ‘तूने जिस तिल के पौधे को उखाड़ा था वह वहीं पुनः उग गया।’ गोशालक को इस पर विश्वास नहीं हुआ। उसने पौधे की फली को तोड़कर देखा तो उसे सात ही तिल मिले। इस घटना से उसका विश्वास ओर दृढ़ हो गया कि जगत् में सब कुछ नियति के अनुसार होता है तथा जो जीव जिस योनि में है वह मर कर उसी योनि में उत्पन्न होता है।

कूर्म ग्राम के बाहिर वैश्यायन तापस सूर्य के सम्मुख दोनों हाथों को ऊपर उठाकर विशेष आतापना कर रहा था। तेज धूप से आकुल होकर उसकी जटा से जुएं नीचे गिर रही थी। वैश्यायन तापस उन्हें उठा-उठाकर पुनः जटा में डाल रहा था। गोशालक ने जब यह देखा तो बोल पड़ा— ‘अरे ! तू तपस्वी है या जूओं का शय्यातर (घर)’ फिर भी तापस शांत रहा। बार-बार गोशालक के बोलने से वह तापस क्रुद्ध हो गया। गोशालक को मारने के लिए वह पांच-सात हाथ पीछे हटा और उसने तेजोलेश्या का प्रयोग किया। आग के गुब्बारे गोशालक की ओर आने लगे। भय के मारे गोशालक भागा और भगवान् के चरणों में छुप गया। भगवान् ने अनुकंपावश शीतल लेश्या प्रयोग कर उसकी तेजो लेश्या को निरस्त कर दिया। गोशालक को सुरक्षित देख तापस भगवान् की शक्ति को समझ गया और विनम्र शब्दों में भगवान् से क्षमा याचना की।

गोशालक ने भगवान् से तेजो लेश्या की प्राप्ति का उपाय पूछा तो भगवान् ने बता दिया। तेजो लेश्या की साधना के लिए वह भगवान् से पृथक् हो गया और

श्रावस्ती में हालाहला कुंभारिण के घर पर रहकर तेजो लेश्या की साधना करने लगा ।

भगवान् द्वारा बताई गई विधि के अनुसार छह मास तक तप, आर्यबिल एवं आतापना करके गोशालक ने तेजो लेश्या प्राप्त कर ली । प्रथम परीक्षण के रूप में उसने कुएं पर प्रयोग पानी भरती हुई एक दासी पर किया । तेजो लेश्या प्राप्त होने के बाद गोशालक ने छह दिशाचरो से निमित्त शास्त्र पढ़ा जिससे सुख-दुःख लाभ-हानि, जीवन-मरण— इन छह बातों में सिद्ध वचन हो गया । तेजो लेश्या और निमित्त ज्ञान जैसी असाधारण शक्तियों से गोशालक का महत्त्व बढ़ गया, उसके अनुयायी बढ़ने लगे । वह अपने आजीवक संप्रदाय का प्रवर्तक-आचार्य बन गया ।

भगवान् जब वैशाली पधारे, वहां बालक उनको पिशाच समझकर सताने लगे । उस समय महाराज सिद्धार्थ के मित्र नरेश शंख उधर से गुजर रहे थे, उन्होंने उन बालकों को हटाया और महावीर को वंदन कर चले गये ।

वैशाली से वाणिज्य ग्राम की ओर चले । मार्ग में गंडकी नदी पार करने के लिए नौका पर चढ़े । नदी पार उतरने पर नाविक ने किराया मांगा, पर महावीर मौन रहे । इस पर गुस्से होकर नाविक ने गर्म बालू पर महावीर को खड़ा कर दिया । संयोगवश शंख नरेश का भानेज चित्र वहां आ पहुंचा । उसने नाविक को समझाया तब कहीं जाकर महावीर मुक्त हुए । वाणिज्य ग्राम में अवधिज्ञानी आनंद श्रावक (भगवान् के प्रमुख दस श्रावकों में प्रमुख आनंद नहीं, यह पार्श्व परंपरा का था) ने भगवान् को वंदन कर कहा— ‘भगवन् ! अब आपको अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्राप्त होगा ।’ वाणिज्यग्राम से श्रावस्ती पधार कर चातुर्मास किया ।

साधना का ग्यारहवां वर्ष

श्रावस्ती से विहार कर भगवान् सानुलटिठय सन्निवेश में पधारे । वहां सोलह की तपस्या की तथा इसमें भद्र प्रतिमा, महाभद्र व सर्वतोभद्र प्रतिमा स्वीकार की । इनमें विविध रूपों में ध्यान-साधना की । इस तपस्या का पारणा आनंद गाथापति की दासी द्वारा फेंके जाने वाले भोजन से किया ।

संगम के उपसर्ग

दृढभूमि में भगवान् पोलाश चैत्य में तेले की तपस्या कर अचित्त पुद्गल पर अनिमेष दृष्टि से ध्यान किया । इन्द्र ने अपने अवधि ज्ञान से भगवान् को देखा व उनके ध्यान, तपस्या व साधना का महिमा-बखान करते हुए कहा— ‘भगवान् महावीर का धैर्य व साहस इतना गजब का है कि मानव तो क्या हम देवता भी उन्हें विचलित नहीं कर सकते ।’

सब देवों ने इन्द्र का अनुमोदन किया, पर संगम देव को यह बात नहीं जची । उसने कहा— ‘देवेन्द्र ! ऐसी झूठ-मूठ प्रशंसा क्यों करते हो, मुझे छह महिने का

समय दो। मैं उन्हें विचलित कर दूंगा।” इन्द्र को बिना मन यह वचन देना पड़ा—संगम मृत्युलोक में आया और भगवान् के सामने अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों का जाल बिछा दिया। संगम ने एक रात में उगणीस मारणांतिक कष्ट दिये। एक कष्ट ही व्यक्ति की मृत्यु के लिए काफी था, ऐसे उगणीस कष्टों को भगवान् का वज्र जैसा कठोर शरीर सहता रहा। उगणीस मारणांतिक कष्ट इस प्रकार थे—

१. प्रलयकारी धूलि पात
२. वज्रमुखी चींटियों द्वारा काटना।
३. तीक्ष्ण मच्छरों द्वारा खून चूसना।
४. दीमकों द्वारा चमड़ी को चट करना।
५. बिच्छुओं का डंक मारना।
६. नेवलों द्वारा मांस को नोचना
७. भीमकाय सर्पों के द्वारा डंक प्रहार।
८. चूहों द्वारा शरीर को काटना तथा उन पर पेशाब करना जिससे भयंकर जलन।
९. हाथी-हथिनी के द्वारा सूंड से उछालना व दांतों से प्रहार करना।
१०. पिशाच रूप बनाकर भयानक किलकारी करना।
११. बाघ बनकर शरीर का विदारण करना।
१२. सिद्धार्थ व त्रिशला का रूप बनाकर हृदय विदारक विलाप करना।
१३. भगवान् के पैरों के बीच आग जलाकर भोजन पकाना।
१४. चांडाल का रूप बनाकर भगवान् के शरीर पर पक्षियों का पिंजरा लटकाना तथा उसके द्वारा चोंच, नख आदि से प्रहार।
१५. भयंकर आंधी में शरीर को उड़ाना।
१६. चक्रवाती हवा में भगवान् की काया को चक्र की भांति घुमाना।
१७. कालचक्र का प्रयोग जिससे भगवान् घुटने तक जमीन में धंस गये।
१८. विमान पर बैठकर देव बोला— “कहिए आपको स्वर्ग चाहिए या अपवर्ग?”
१९. लावण्यमयी अप्सरा द्वारा रागपूर्ण हावभाव की प्रस्तुति।

आवश्यक चुर्चि में बीस परीषहों का विवेचन मिलता है। नौवें उपसर्ग में हाथी-हथिनी का जो संयुक्त है वहां वह पृथक्-पृथक् है।

भगवान् जहां पधारते वहां संगम घरों में सेंध मारकर चोरी करता, घरों से वस्तुएं उठा लाता। इस पर लोग जब उसे पीटते तो वह बोलता— “मुझे क्यों पीटते हो, मैंने तो मेरे गुरु की आज्ञा का मात्र पालन किया है।” लोग महावीर को पकड़ते रस्सियों से बांधते, पीटते। कोई परिचित मिल जाता तो उन लोगों को समझाकर छोड़ा देते।

तोसलि गांव में चोरी करके संगम भगवान् के पास आकर छुप गया और वहां शस्त्र रख दिये। अधिकारियों ने उनको कुख्यात चोर समझ कर फांसी की सजा सुना दी। प्रभु को फांसी के तख्ते पर चढ़ाया, गले में फंदा कसा और नीचे से तख्ती हटा दी। हटाते ही फंदा टूट गया। इस तरह सात बार चढ़ाने पर भी फंदा टूटता गया। विस्मित एवं प्रभावित अधिकारी उनको महापुरुष समझकर मुक्त कर दिया।

संगम ने इस तरह छह महिने तक अगणित दारुण कष्ट दिये। इन्द्र द्वारा दी गई अवधि समाप्त होने को थी। संगम द्वारा इतने उपसर्ग देने पर इन्द्र बड़े खिन्नमना थे। इसी कारण छह महिने से स्वर्ग में नाटक आदि बंद थे। सूर्योदय होने को था तब अंतिम प्रयास में बात-बात में फंसाने की चेष्टा करते हुए संगम ने कहा— 'महावीर ! मैंने तुमको इतने कष्ट दिये, तकलीफ दी, बताओ, मैं तुम्हें कैसा लगता हूं।'

महावीर ने कहा— "संगम ! एक व्यापारी के माल फंसा हुआ था। उसे अपने देश की याद आ गई। वह जल्दी से जल्दी उस माल को सलटाकर देश जाना चाहता था। उस समय एक दलाल ने आकर उस सेठ से कहा— सेठजी ! मैं आपका माल सवाये दाम पर बिका सकता हूं। बता, संगम ! वह दलाल सेठ को कैसा लगेगा।'

संगम— "वह तो अत्यन्त प्रिय लगेगा। सेठ को जल्दी जाना था इसलिए माल जल्दी सलटाना वह भी सवाये दाम पर बिकाना। यह सब होने पर दलाल का अच्छा लगना ही है।"

महावीर— 'संगम ! बस, उसी दलाल की तरह तुम भी मेरे लिए बहुत प्रिय हो। एक तो मुझे जल्दी मोक्ष प्राप्त करना है। उसके लिए कर्मों का क्षय करना जरूरी है। मैं उसके लिए प्रयत्न कर रहा हूं पर तुम्हारे कारण मुझे जल्दी कर्म क्षय का अवसर मिला है इसलिए तुम तो मेरे लिए दलाल की भांति हो।"

इतना सुनते ही संगम लाल-पीला हो गया। धोबी जैसे पत्थर पर कपड़े फटकाता है उसी तरह महावीर के दोनों पैर पकड़कर फटकाने के लिए उद्यत हुआ तभी इन्द्र ने ललकारते हुए संगम से कहा— 'मूर्ख ! यह क्या कर रहा है, देख, सूर्योदय हो गया है। तुम्हारी अवधि पूर्ण हो चुकी है। जो महापुरुष छह महिनों में नहीं डिगा, वह क्या एक क्षण में विचलित हो जायेगा। 'इन्द्र ने इस पर संगम को देवलोक से निष्कासित कर दिया। कहा जाता है कि अभी भी वह अपने परिवार के साथ मेरु पर्वत की चूलिका पर अपना समय व्यतीत कर रहा है।

छह महिने की उपसर्ग सहित सर्वाधिक लंबी तपस्या का भगवान् ने वज्रगांव में पारणा किया, देवों ने पंच द्रव्य प्रकट किये। वहां से आलंभिया, श्वेतांबिका,

सावत्थी, कौशाम्बी, वाराणसी, राजगृह और मिथिला आदि क्षेत्रों में परिभ्रमण करते हुए वैशाली पधारे। वहां चातुर्मासिक तप के साथ चातुर्मास किया।

जीर्ण सेठ की उत्कट भावना

वैशाली में जिनदत्त नामक श्रेष्ठी रहता था। आर्थिक स्थिति कमजोर होने से वह जीर्ण सेठ के रूप में प्रसिद्ध हुआ। वह भगवान् के हमेशा दर्शन करने जाता और अपने घर पारणा के लिए भावपूर्ण प्रार्थना करता। पूरे चातुर्मास वह इसी तरह भावना भाता रहा।

चातुर्मास परिसमाप्ति पर भगवान् आहार के लिए निकले और भिक्षाटन करते हुए पूरण सेठ के घर पहुंचे। भगवान् को देखकर पूरण सेठ ने दासी को आदेश दिया और उसने कुलत्थ बहराये। देवों ने पंच द्रव्य प्रकट किये। जब देवों ने दिव्य वृष्टि के साथ “अहोदानं” की देव-दुंदुभि की तो जीर्ण सेठ के भावना की श्रृंखला टूटी। वह घर पर बैठा भगवान् के पधारने की बाट जोह रहा था। इस उत्कट भावना में जीर्ण सेठ ने बारहवें देवलोक का आयुष्य बांधा। भगवान् को जब उत्कृष्ट दानी के बारे में पूछा गया तो उन्होंने जीर्ण सेठ को सबसे बड़ा दानी बताया।

साधना का बारहवां वर्ष : चमरेन्द्र की शरण

वैशाली का पावस प्रवास संपन्न कर भगवान् सुंसुमार पधारे। वहां अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हो गये। उस समय भगवान् बेले-बेले की तपस्या कर रहे थे। उस समय असुरों की राजधानी चमरचंचा में “पूरण” बाल तपस्वी का जीव इन्द्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसने अवधि ज्ञान से अपने ऊपर शक्रेन्द्र को दिव्य भोग भोगते देखा। इस पर उसे बहुत गुस्सा आया तब सामानिक इन्द्रों ने बताया—‘शक्रेन्द्र सदा इसी स्थान का उपयोग करते आये हैं।’ इतने पर भी चमरेन्द्र को संतोष नहीं हुआ।

शक्रेन्द्र की ऋद्धि-सिद्धि विनष्ट करने हेतु भगवान् के पास आया और कहा—‘मैं आपकी शरण लेकर शक्र की शोभा को समाप्त करने जा रहा हूं।’ उसने वैक्रिय रूप बनाया, शक्रेन्द्र की राज्यसभा में आया और ललकारते हुए देवलोक की शोभा को खत्म करने की बात कहने लगा। इस पर शक्रेन्द्र अतीव कुपित हो गये और उसे मारने के लिए वज्र फेंका। बिजली के स्फुलिंगों को उछालता हुआ वह वज्र ज्योंही आगे बढ़ा, असुरराज भयभीत होकर नीचे सिर व ऊपर पैर कर भागा और भगवान् के चरणों के बीच गिर पड़ा।

शक्रेन्द्र को इतने में चिंतन आया— चमरेन्द्र की इतनी ताकत नहीं कि वह स्वयं ऊपर आ जाये। विचार करते हुए अवधिज्ञान से उन्हें पता चला- यह तो भगवान् महावीर की शरण लेकर आया है। कहीं इससे भगवान् को कष्ट न हो जाये। इस चिंतन के साथ इन्द्र तीव्र गति से दौड़ा और भगवान् से चार अंगुल दूर रहते वज्र

को पकड़ लिया। भगवान् के शरणागत बनने से शक्रेन्द्र ने चमरेन्द्र को क्षमा कर दिया और भगवान् को वंदना कर स्वस्थान चले गये।

चंदना का उद्धार

सुसुमार से विचरते हुए भगवान् कौशम्बी पधारे। पोष कृष्णा एकम को भगवान् ने तेरह बोलों का भारी अभिग्रह स्वीकार किया। तेरह बोल इस प्रकार है—

१. राजकन्या
२. बाजार में बेची हुई
३. सिरमुण्डित
४. सिर में गद के घाव
५. हाथों में हथकड़ी
६. पैरों में बेड़ी
७. तीन दिन की भूखी
८. मोहरे में हो
९. आधा दिन बीतने के बाद
१०. एक पैर देहली में और एक उसके बाहर
११. सूप के कोने में
१२. उड़द के बाकले
१३. आंखों में आंसू हो।

इन तेरह बोल रूप अभिग्रह को धारण कर भगवान् प्रतिदिन नगरी में भिक्षा के लिए घूमते परंतु कहीं भी अभिग्रह पूर्ण नहीं हुआ। पूरी नगरी में यह चर्चा हो गयी कि हमारे से ऐसी क्या भूल हो गई जो भगवान् बिना कुछ लिए यों ही लौट जाते हैं। इस तरह चार माह बीत गये। एकदा महावीर महामात्य सुगुप्त के घर पधारे। महामात्य की पत्नी नंदा जो स्वयं श्रमणोपासिका थी, ने शुभ भावना के साथ आहार देने के लिए समुपस्थित हुई। अभिग्रह पूर्ण न होने से भगवान् चले गये। इस पर नंदा को बहुत दुःख हुआ। दासियों ने बताया— 'ये तो प्रतिदिन ऐसे ही आकर लौट जाते हैं।' नंदा ने अपने पति महामात्य के सामने चिंता प्रकट की। महारानी मृगावती को जब इसकी अवगति मिली तो महाराज शतानीक से पता लगाने को कहा, किंतु कुछ भी पता न चल सका।

भगवान् के अभिग्रह को पांच महीने संपन्न हो चुके थे। छठा महीना पूरा होने में मात्र पांच दिन शेष थे। हमेशा की भांति भगवान् भिक्षाटन करते-करते धनावह सेठ के घर पहुंचे। चंदना ने ज्योंही तरणतारण की जहाज भगवान् महावीर को देखा तो उसका वदन खिल उठा। एक बारगी सारा दुःख भूल गई। उसने भिक्षा लेने की प्रार्थना की, पर एक बोल पूरा न होने से भगवान् आगे बढ़ गये तो चंदना

के आंखों से अश्रुधारा बह चली। महावीर ने मुड़कर देखा। सभी बोल मिल जाने से अभिग्रह पूरा हो गया और चंदना के हाथ से भिक्षा ग्रहण की। देवों ने पंच द्रव्य प्रकट किए। देव दुंदुभि बजी। हथकड़ियां और बेड़ियां आभूषण बन गईं और वह अपने मूल रूप में आ गई। यही चंदना भगवान् के केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद प्रथम शिष्या व साध्वी समाज की प्रवर्तिनी बनी।

कौशंबी से सुमंगल, सुच्छेत्ता, पालक आदि क्षेत्रों में विचरते हुए चंपानगरी की स्वातिदत्त की यज्ञशाला में चातुर्मासिक तप के साथ चातुर्मास किया। वहां भगवान् की साधना से प्रभावित होकर पूर्णभद्र और मणिभद्र नामक दो यक्ष रात्रि में भगवान् की सेवा व भक्ति करने लगे। स्वातिदत्त को जब यह जानकारी हुई तो सोचा—ये कोई विशिष्ट ज्ञानी है। उसने कई प्रश्न पूछे—आत्मा क्या है? प्रत्याख्यान किसे कहते हैं? इत्यादि प्रश्नों को भगवान् ने समाहित किया।

साधना का तेरहवां वर्ष : अंतिम भीषण उपसर्ग

चंपा का चातुर्मास संपन्न कर भगवान् छम्माणी पधारे और गांव बाहर ध्याना वस्थित हो गये। संध्या के समय एक ग्वाला बैलों को भगवान् के पास छोड़कर कार्यवश गांव चला गया। वापस आने पर जब बैल नहीं मिले तो भगवान् से पूछा तो वे मौन रहे। इस पर क्रुद्ध होकर भगवान् के दोनों कानों में काठ के कीले ठोक दिये। प्रभु को अति वेदना हो रही थी। कहा जाता है कि महावीर ने अपने त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में जिस व्यक्ति के कान में गर्म सीसा डलवाया था वही व्यक्ति यह ग्वाला था।

छम्माणी से विहार कर भगवान् मध्यमा पधारे। वहां आहारार्थ घूमते हुए सिद्धार्थ वणिक् के सदन पहुंचे। सिद्धार्थ उस समय अपने मित्र वैद्यराज खरक से बात कर रहा था। भगवान् को दोनों ने वंदना की। प्रभु को देखकर खरक बोला—‘भगवान् का शरीर सर्व लक्षण युक्त होते हुए भी सशल्य है?’

सेठ—‘मित्र ! कहां है शल्य?’

प्रभु की काया को देखकर खरक ने कहा—‘देखो, किसी ने कान में कील ठोक दी है।’ दोनों ने भगवान् को रुकने का निवेदन किया, पर उन्होंने स्वीकृति नहीं दी। महावीर पुनः ध्यानलीन हो गये।

सिद्धार्थ व खरक दवा तथा कुछ व्यक्तियों को लेकर वहां पहुंचे। खरक ने संडासी से काष्ठ की कील खींच निकाली। शलाका निकालते समय प्रभु के मुख से एक भीषण चीख निकल पड़ी, जिससे पूरा उद्यान गूंज उठा। खरक ने व्रण संरोहण औषधि घाव पर लगा कर प्रभु को वंदना की। भगवान् महावीर का यह अंतिम और भीषण परीषह था। यह एक संयोग था कि उपसर्गों का प्रारंभ ग्वाले से हुआ और अंत भी ग्वाले से।

केवल ज्ञान की प्राप्ति

भीषण उपसर्गों, परीषहों व कष्टों को सहते हुए भगवान् महावीर ध्यान एवं तपस्या के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विचरण कर रहे थे। विचरते-विचरते प्रभु जंभिय ग्राम के बाहर पधारे। वहां ऋजु बालुका नदी के किनारे श्यामाक गाथापति के खेत में शाल वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हो गये। बेले का तप, गोदोहिका आसन, बैसाख शुक्ला दशमी, दिन का अंतिम प्रहर, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र, क्षपक श्रेणी का आरोहण, शुक्लध्यान का द्वितीय चरण, शुभ भाव, शुभ अध्यवसाय में भगवान् ने बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का समूल नाश किया तथा अवशिष्ट तीन वाति कर्म-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व अंतराय कर्म का क्षय कर तेरहवें गुणस्थान में केवल ज्ञान व केवल दर्शन को प्राप्त किया। मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थों को भगवान् देखने लगे।

छद्मस्थ काल की साधना

भगवान् महावीर का छद्मस्थ काल बारह वर्ष छह माह पन्द्रह दिन रहा। इस काल में उनकी तपस्या इस प्रकार रही—

० षट्मासी	एक	० पांच दिन कम षट्मासी	एक
० चातुर्मासिक	नौ	० त्रिमासिक	दो
० सार्ध द्विमासिक	दो	० द्विमासिक	छह
० सार्ध मासिक	दो	० मासिक	बारह
० पाक्षिक	बहत्तर	० भद्र प्रतिमा	एक (दो दिन)
० महाभद्र प्रतिमा	एक (चार दिन)	० सर्वतोभद्र प्रतिमा	एक (दस दिन)
० तेला	बारह	० बेला	दो सौ उनतीस

भगवान् ने बेले के दिन दीक्षा ली थी इस कारण साधनाकाल में एक उपवास को और जोड़ देते हैं। उनकी तपस्या ग्यारह वर्ष छह माह पचीस दिन (४१६६ दिन) हुई। पारणा अवधि ग्यारह माह उन्नीस दिन (३४९ दिन) थी। भगवान् की सारी तपस्या चौविहार (निर्जल) थी। कई ऐसा भी मानते हैं कि भगवान् ने चोला (चार दिन) आदि की तपस्या भी की थी।

प्रथम देशना

केवली बनने के बाद चौसठ इन्द्रों व अनगिनत देवी-देवताओं ने भगवान् का केवल महोत्सव मनाया। देवों ने समवसरण की रचना की। इस समवसरण में केवल देवी-देवता थे। भगवान् ने प्रवचन दिया, पर चतुर्विध संघ की स्थापना नहीं हो सकी। देवों ने प्रभु-प्रवचन को सराहा, पर महाव्रत व अणुव्रत दीक्षा नहीं ले सके क्योंकि देवों में यह प्राप्त करने की अर्हता नहीं होती। ऋजु बालुका नदी के किनारे जंगल में देशना होने से कोई मनुष्य नहीं आ सका। तीर्थंकर का उपदेश कभी

निष्फल नहीं होता। उनके प्रथम प्रवचन में ही संघ की स्थापना हो जाती है। भगवान् महावीर की प्रथम देशना निष्फल रहने से इसे दस आश्चर्यों में एक आश्चर्य माना गया। कई आचार्य मानते हैं कि प्रथम प्रवचन में व्यक्ति उपस्थित हुए फिर भी कोई व्रती नहीं बन सका।

गणधरों की दीक्षा

जंभिय गांव से विहार कर भगवान् महावीर मध्यम पावा पधारे। वहां धनाढ्य विप्र सोमिल ने एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया जिसमें अनेक उच्च कोटि के विद्वान् समागत थे। इनमें ग्यारह महापंडित अपने विशाल शिष्य परिवार के साथ वहां समुपस्थित थे।

मध्यम पावा में देवों ने समवसरण की रचना की। शहर के नर-नारी झुंड के झुंड पहुंचने लगे। गगन मार्ग से देव-देवियों के समूह आने लगे। इन्हें देखकर पंडित बड़े प्रसन्न हुए और बोले-देखो, ये देवता हमारे यज्ञ में आहुति लेने आ रहे हैं। कुछ ही क्षणों में यज्ञ मंडप के ऊपर से देवों के आगे चले जाने पर वे सशंकित हुए। जब उन्होंने इसका पता लगाया तो जानकारी मिली कि वे सर्वज्ञ महावीर के समवसरण में जा रहे हैं। पंडितों ने इसे अपनी तौहीन समझी। सबसे बड़े पंडित इंद्रभूति गौतम ने सोचा— ‘लगता है महावीर पाखंडी है, एन्द्रजालिक है। यह लोगों को भरमा रहा है। चर्चा में मेरे सामने नहीं टिक पायेगा। मैं इसे पराजित करके ही दम लूंगा।’ ऐसा निर्णय कर इंद्रभूति जी गौतम अपने पांच सौ शिष्यों के साथ प्रभु के समवसरण में आये। समवसरण में प्रभु को देखते ही गौतम विस्मित हो गये। निकट आते ही भगवान् ने “गौतम” कहकर संबोधित किया तो वे चकित रह गये फिर सोचा— “मेरे पांडित्य की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई है। मुझे कौन नहीं जानता।”

गौतम के वर्षों से एक संशय जमा हुआ था, जिसे उन्होंने किसी के सामने नहीं कहा। उस संदेह को प्रकट करते हुए भगवान् ने कहा— “गौतम ! तुम्हारे मन में आत्मा के अस्तित्व के बारे में शंका है”। इंद्रभूतिजी चौंके और समझ गये कि ये वास्तव में सर्वज्ञ है। प्रभु ने विस्तार से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया। इंद्रभूति की शंका मिट गई और अपने पांच सौ शिष्यों के साथ प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार की, शिष्यत्व ग्रहण किया।

इंद्रभूति की दीक्षा के साथ ही तीर्थ स्थापित हो गया। उनके बाद क्रमशः दसों अवशिष्ट पंडित भी आ गये और अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान पाकर उन्होंने भगवान् के पास शिष्यत्व स्वीकार किया।

दिगंबर परंपरा में यह घटना दूसरे रूप में मिलती है। उसके अनुसार सर्वज्ञता प्राप्ति के पश्चात् भगवान् जंगल में देवनिर्मित समवसरण में विराजमान हो गये,

देव वद्धांजलि हो बैठ गये, पर भगवान् के मुखारविन्द से दिव्य ध्वनि (प्रवचन) प्रकट नहीं हो सकी। बासठवां दिन हो गया। इंद्र को चिंता हुई, अवधि ज्ञान से कारण जानना चाहा तो पता चला- गणधर के अभाव में दिव्य ध्वनि नहीं निकल रही है।

इन्द्र ने भव्यात्मा की खोज की और इन्द्रभूति गौतम को योग्य जानकर वे विद्यार्थी का रूप बनाकर उनके पास आये और बोले-मेरे गुरु ने मुझे गाथा सिखलाई थी, अब वे मौन हैं, अतः आप उसका अर्थ बताइये।' इन्द्रभूति सशर्त बताने के लिए तैयार हुए— यदि मैं बता देता हूं तो मेरा शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ेगा। इन्द्र ने हामी भर दी और गाथा प्रस्तुत की—

पंचेव अथिकाया, छज्जीवणिकाया महव्वया पंच।

अट्ठ य पवयणमादा, सहेउओ बंध मोक्खो य।। षट्खंडागम।।

यह गाथा सुनकर इन्द्रभूतिजी असमंजसता में पड़ गये। पांच अस्तिकाय, षड् जीवणिकाय, पांच महाव्रत, आठ प्रवचनमाता क्या है, कौन-कौन सी है? छह जीव निकाय का नाम सुनकर उनकी दबी हुई शंका और तीव्रता से उभर कर आ गई। इन्द्रभूति ने कहा— चल, तेरे गुरु के पास ही इस गाथा का अर्थ बताऊंगा। दोनों भगवान् के पास आये। भगवान् ने "गौतम" नाम से संबोधित किया और जीव के अस्तित्व से संबंधित उनकी शंका का निवारण किया। इन्द्रभूति अपने विद्यार्थियों के साथ भगवान् के शिष्य हो गये। उसके बाद भगवान् ने दिव्य देशना दी। अवशिष्ट दस पंडित भी अपने शिष्य समुदाय के साथ दीक्षित हो गये।

ग्यारह ही गणधरों के कितने शिष्य थे, क्या शंका थी? इसका विवरण इस प्रकार है—

गणधर	शिष्य	शंका
१. इन्द्रभूति	५००	आत्मा का अस्तित्व
२. अग्निभूति	५००	पुरुषाद्वैत
३. वायुभूति	५००	तज्जीव-तच्छरीरवाद
४. व्यक्त	५००	ब्रम्हमय जगत्
५. सुधर्मा	५००	जन्मान्तर
६. मंडित	३५०	आत्मा का संसारित्व
७. मौर्यपुत्र	३५०	देव और देवलोक
८. अकंपित	३००	नरक और नारकीय जीव
९. अचलभ्राता	३००	पुण्य-पाप
१०. मेतार्य	३००	पुनर्जन्म
११. प्रभास	३००	मुक्ति

का राजा उदयन था। यह प्रसिद्ध नरेश सहस्रानीक का पौत्र व राजा शतानिक व महारानी मृगावती का पुत्र, महाराज चेटक का दौहित्र था। श्रमणोपासिका जयंती उदयन की बुआ थी।

भगवान् का आगमन सुनकर राजा उदयन अपने पूरे परिवार के साथ दर्शनार्थ आया, उपदेश सुना। जयंती श्राविका ने भगवान् से अनेक प्रश्न किये और उनका समाधान पाकर वह दीक्षित हो गई। कौशम्बी से भगवान् श्रावस्ती पधारे। वहां चरम शरीरी सुमनोभद्र और सुप्रतिष्ठ ने दीक्षा ली। दोनों ही मुनियों ने अंत में निर्वाण को प्राप्त किया। वहां से विचरते हुए प्रभु वाणिज्य ग्राम पधारे। वहां का निवासी गाथापति आनंद एवं उनकी पत्नी शिवानंदा ने श्रावक के बारह व्रत धारण किये। उस वर्ष चातुर्मास वाणिज्यग्राम में ही किया।

सर्वज्ञता का चौथा वर्ष

वर्षावास संपन्न कर मगध देश में विचरते हुए भगवान् राजगृह पधारे। सम्राट् श्रेणिक ने दर्शन किये। धन्ना व शालिभद्र जैसे धनाढ्य व्यापारी पुत्र दीक्षित हुए। दोनों रिश्ते में साला-बहनोई लगते थे। धन्ना अणगार ने निर्वाण को प्राप्त किया जबकि शालिभद्र एकाभवतारी बनकर सर्वार्थ सिद्ध विमान में देव बने। उस वर्ष चातुर्मास राजगृह में संपन्न हुआ।

सर्वज्ञता का पांचवां वर्ष

राजगृह से भगवान् चंपा पधारे। वहां के राजा दत्त के पुत्र राजकुमार महचंद ने दीक्षा ली। वहां से सिंधु-सौवीर की राजधानी वीतभय नगरी में पधारे। यह भगवान् की सबसे लंबी यात्रा थी। इस यात्रा में अनेक साधु शुद्ध आहार-पानी के अभाव में स्वर्गवासी हो गये क्योंकि रास्ता अति विकट था, दूर-दूर तक बस्तियों एवं गांवों का अभाव था। सिंधु-सौवीर के राजा श्रावक उदाई भगवान् के आगमन से बड़े प्रसन्न हुए। अपने भाणेज केशीकुमार को राज्य देकर भगवान् के पास दीक्षित हो गये। कुछ समय वहां विराज कर भगवान् पुनः मगध जनपद में वाणिज्यग्राम पधारे। वहीं उन्होंने चातुर्मास किया।

सर्वज्ञता का छठा वर्ष

चातुर्मास के बाद भगवान् वाराणसी पधारे। वहां कोष्ठक चैत्य में प्रवचन हुआ। यहां के कोट्यधीश चूलनी पिता व उनकी पत्नी श्यामा तथा सुरादेव व उनकी पत्नी धन्या ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। ये दोनों भगवान् के दस प्रमुख श्रावकों में गिने जाते हैं। वाराणसी से भगवान् आलंभिया पधारे। वहां का नरेश जितशत्रु प्रभु के दर्शनार्थ आया।

वहां एक "पुद्गल" नाम का परिव्राजक रहता था। निरंतर बेले-बेले की तपस्या व आतापना करने से उसे विभंग अज्ञान व अवधि दर्शन उत्पन्न हो गया। उस

का राजा उदयन था। यह प्रसिद्ध नरेश सहस्रानीक का पौत्र व राजा शतानिक व महारानी मृगावती का पुत्र, महाराज चेटक का दौहित्र था। श्रमणोपासिका जयंती उदयन की बुआ थी।

भगवान् का आगमन सुनकर राजा उदयन अपने पूरे परिवार के साथ दर्शनार्थ आया, उपदेश सुना। जयंती श्राविका ने भगवान् से अनेक प्रश्न किये और उनका समाधान पाकर वह दीक्षित हो गई। कौशम्बी से भगवान् श्रावस्ती पधारे। वहां चरम शरीरी सुमनोभद्र और सुप्रतिष्ठ ने दीक्षा ली। दोनों ही मुनियों ने अंत में निर्वाण को प्राप्त किया। वहां से विचरते हुए प्रभु वाणिज्य ग्राम पधारे। वहां का निवासी गाथापति आनंद एवं उनकी पत्नी शिवानंदा ने श्रावक के बारह व्रत धारण किये। उस वर्ष चातुर्मास वाणिज्यग्राम में ही किया।

सर्वज्ञता का चौथा वर्ष

वर्षावास संपन्न कर मगध देश में विचरते हुए भगवान् राजगृह पधारे। सम्राट् श्रेणिक ने दर्शन किये। धन्ना व शालिभद्र जैसे धनाढ्य व्यापारी पुत्र दीक्षित हुए। दोनों रिश्ते में साला-बहनोई लगते थे। धन्ना अणगार ने निर्वाण को प्राप्त किया जबकि शालिभद्र एकाभवतारी बनकर सर्वार्थ सिद्ध विमान में देव बने। उस वर्ष चातुर्मास राजगृह में संपन्न हुआ।

सर्वज्ञता का पांचवां वर्ष

राजगृह से भगवान् चंपा पधारे। वहां के राजा दत्त के पुत्र राजकुमार महचंद ने दीक्षा ली। वहां से सिंधु-सौवीर की राजधानी वीतभय नगरी में पधारे। यह भगवान् की सबसे लंबी यात्रा थी। इस यात्रा में अनेक साधु शुद्ध आहार-पानी के अभाव में स्वर्गवासी हो गये क्योंकि रास्ता अति विकट था, दूर-दूर तक बस्तियों एवं गांवों का अभाव था। सिंधु-सौवीर के राजा श्रावक उदाई भगवान् के आगमन से बड़े प्रसन्न हुए। अपने भाणेज केशीकुमार को राज्य देकर भगवान् के पास दीक्षित हो गये। कुछ समय वहां विराज कर भगवान् पुनः मगध जनपद में वाणिज्यग्राम पधारे। वहीं उन्होंने चातुर्मास किया।

सर्वज्ञता का छठा वर्ष

चातुर्मास के बाद भगवान् वाराणसी पधारे। वहां कोष्ठक चैत्य में प्रवचन हुआ। यहां के कोट्यधीश चूलनी पिता व उनकी पत्नी श्यामा तथा सुरादेव व उनकी पत्नी धन्या ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। ये दोनों भगवान् के दस प्रमुख श्रावकों में गिने जाते हैं। वाराणसी से भगवान् आलंभिया पधारे। वहां का नरेश जितशत्रु प्रभु के दर्शनार्थ आया।

वहां एक "पुद्गल" नाम का परिव्राजक रहता था। निरंतर बेले-बेले की तपस्या व आतापना करने से उसे विभंग अज्ञान व अवधि दर्शन उत्पन्न हो गया। उस

दर्शन के आधार पर उसने घोषणा कर दी कि देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष व उत्कृष्ट दस सागर है। नगर में यह चर्चा जब गणधर गौतम ने सुनी तो भगवान् से जिज्ञासा की। भगवान् ने कहा— 'यह सही नहीं है। देवों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर है।' यह बात उस परिव्राजक के कानों तक पहुंची। वे शंकित हो गये और प्रभु के पास आये। जिनेश्वर देव का प्रवचन सुनकर उनके पास दीक्षित हो गये, ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और अंत में निर्वाण को प्राप्त किया। वहां से प्रभु राजगृह पधारे, वहीं चातुर्मास किया। वहां मंकाई, किंकत, अर्जुनमाली, कश्यप, गाथापति वरदत्त ने संयमी जीवन स्वीकार किया।

सर्वज्ञता का सातवां वर्ष

राजगृह चातुर्मास के बाद विहार न करके भगवान् वहीं ठहर गये। इस सतत प्रवास का आशातीत लाभ भी मिला। राजगृह नगर के अनेक प्रतिष्ठित नागरिकों ने श्रमण धर्म एवं श्रावक धर्म स्वीकार किया। श्रेणिक के जालि, मयालि आदि तेईस पुत्रों एवं नंदा, नंदमती आदि तेरह रानियों ने भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

मुनि आर्द्रक ने कुछ हस्तितापसों एवं स्वप्रतिबोधित पांच सौ चोरों के साथ भगवान् के पास दीक्षा स्वीकार की। इस वर्ष भी भगवान् ने वर्षावास राजगृह में ही बिताया।

सर्वज्ञता का आठवां वर्ष

वर्षावास प्रवास संपन्न कर भगवान् आलंभिया पधारे। आलंभिया से कौशंबी पधारे। उस समय उज्जयिनी के राजा चंडप्रद्योतन ने कौशंबी को घेर लिया था। कौशंबी पर महारानी मृगावती शासन कर रही थी। उनका पुत्र उदयन नाबालिक था। चंडप्रद्योतन मृगावती के रूप-लावण्य पर मुग्ध हो उसे अपनी रानी बनाना चाहता था।

भगवान् के आगमन से मृगावती को बहुत प्रसन्नता हुई। वह महावीर के समवसरण में पहुंची। उस समय चंडप्रद्योतन भी भगवान् की सेवा में उपस्थित था। महारानी ने आत्मकल्याण का सुंदर अवसर जानकर सभा के बीच खड़ी होकर बोली— "भगवन् ! मैं प्रद्योत की आज्ञा लेकर आपके पास दीक्षा लेना चाहती हूं तथा अपने पुत्र उदयन को इनके संरक्षण में छोड़ती हूं।" प्रद्योत की यद्यपि दीक्षा की स्वीकृति देने की इच्छा नहीं थी, पर भगवान् के समक्ष महती उपस्थिति में लज्जावश इन्कार नहीं कर सका।

अंगारवती आदि चंडप्रद्योतन की आठ रानियों ने भी दीक्षा की अनुमति मांगी। प्रद्योत ने उन्हें भी आज्ञा दे दी। भगवान् ने मृगावती, अंगारवती आदि रानियों को दीक्षा प्रदान की। कौशंबी से विहार कर महावीर वैशाली में पधारे, वहीं उन्होंने चातुर्मास किया।

सर्वज्ञता का नौवां वर्ष

वैशाली का चातुर्मासिक प्रवास परिसंपन्न कर प्रभु मिथिला होते हुए काकन्दी पधारे। वहां का राजा जितशत्रु दर्शनार्थ आया। भद्रा सार्थवाहिनी का पुत्र धन्य वैभव को छोड़कर दीक्षा ली। सुनक्षत्र भी मुनि बने। कंपिलपुर में कुंडकौलिक ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। वहां से प्रभु पोलासपुर पधारे।

पोलासपुर में प्रभु का प्रवचन सुनकर धनाढ्य कुंभकार सद्दालपुत्र व उनकी पत्नी अग्निमित्रा श्रमणोपासक बन गये। दोनों पूर्व में गोशालक के आजीवक मत के अनुयायी थे। जब गोशालक को इस बात का पता चला तो वह अपने संघ के साथ सद्दालपुत्र के पास आया और उसे पुनः आजीवक मत में आने के लिए समझाने लगा। सद्दालपुत्र पर गोशालक का कोई असर नहीं पड़ा। भगवान् ने इस वर्ष का चातुर्मास वाणिज्यग्राम में किया।

सर्वज्ञता का दसवां वर्ष

वर्षावास प्रवास संपन्न कर भगवान् राजगृह पधारे। वहां महाशतक गाथापति ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। पार्श्व परंपरा के अनेक श्रमणों ने चातुर्याम धर्म से पंच महाव्रत रूप धर्म में प्रवेश किया। इस वर्ष चातुर्मास राजगृह में किया।

सर्वज्ञता का ग्यारहवां वर्ष

चातुर्मास के बाद भगवान् कृतंगला पधारे और वहां छत्रपलास चैत्य में विराजे। उस समय श्रावस्ती में विद्वान् परिव्राजक कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक रहता था। उसकी पिंगल निर्ग्रन्थ से भेंट हुई। पिंगल ने कई प्रश्न पूछे, पर स्कन्दक उनका उत्तर देने में सशंकित हो गया। इन प्रश्नों का समाधान पाने महावीर के पास पहुंचा। अपनी शंकाओं का समाधान पाकर भगवान् के पास दीक्षा ले ली। कृतंगला से श्रावस्ती होकर वाणिज्यग्राम में प्रभु ने चातुर्मास किया।

सर्वज्ञता का बारहवां वर्ष

वर्षाकाल पूरा होने पर प्रभु ब्राह्मण कुंड के बहुशाल उद्यान में पधारे। यहां जमालि अपने पांच सौ मुनियों के साथ अलग विचरने के लिए भगवान् से अनुमति मांगी तो भगवान् मौन रहे, फिर वह स्वतंत्र होकर पांच सौ साधुओं के संग विहार करने लगे। वहां से कौशंबी पधारे। यहां सूर्य व चन्द्रमा अपने मूल रूप में भगवान् के दर्शनार्थ आये। यह भी एक "अछेरा"— आश्चर्य माना गया। कौशंबी से विहार कर महावीर चातुर्मास हेतु राजगृह पधारे।

सर्वज्ञता का तेरहवां वर्ष

राजगृह चातुर्मास संपन्न कर भगवान् चंपा पधारे। मगध नरेश श्रेणिक की मृत्यु के बाद कोणिक ने चंपा को अपनी राजधानी बनाया। भगवान् के आगमन

का संवाद सुनकर बड़े राजसी ठाट के साथ पूरे राजकुटुंब के संग कोणिक दर्शनार्थ आया। भगवान् के प्रवचन से उद्बुद्ध होकर अनेक लोगों ने अणगार व आगार धर्म स्वीकार किया। मुनि धर्म अंगीकार करने वालों में पद्म, भद्र आदि श्रेणिक के दस पौत्र प्रमुख थे। पालित जैसे कई धनाधीशों ने श्रावक व्रत ग्रहण किया। इस वर्ष प्रभु का मिथिला चातुर्मास हुआ। कई आचार्य इस वर्ष का चंपा में चातुर्मास मानते हैं।

सर्वज्ञता का चौदहवां वर्ष

मिथिला प्रवास संपन्न कर भगवान् चंपा पधारे। उस समय विदेह की राजधानी वैशाली रणभूमि बनी हुई। एक ओर वैशाली पति राजा चेटक और अठारह गणराजा तो दूसरी ओर मगधपति राजा कोणिक और उसके काल आदि सौतेले भाई अपनी-अपनी सेना के साथ लड़ रहे थे। इस युद्ध में कोणिक विजयी रहा। काल आदि दस कुमार चेटक के हाथों मारे गये। अपने पुत्र की मृत्यु के समाचारों से काली आदि रानियों को बहुत दुःख हुआ। प्रभु-प्रवचन से वैराग्यवती बन कर काली आदि दस रानियों ने प्रव्रज्या स्वीकार की। चम्पा से विहार कर भगवान् मिथिला नगरी पधारे। वहीं चातुर्मास किया।

सर्वज्ञता का पन्द्रहवां वर्ष

मिथिला से विहार कर भगवान् श्रावस्ती पधारे। वहां कोणिक के भाई हल्ल-बेहल्ल किसी तरह भगवान् के पास पहुंचे और उनके पास दीक्षित हो गये। कोणिक, हल्ल व विहल्ल तीनों महारानी चेलणा के ही पुत्र थे। पिता राजा श्रेणिक ने अपना देवनामी अठारहसरा हार हल्ल को तथा पाटवी हाथी सचेतक गंधहस्ती जो अतिशय सुंदर, चतुर व समझदार था विहल्ल को दे दिया। श्रेणिक की मृत्यु के बाद कोणिक ने अपनी रानी पद्मावती के बहकावे में आकर दोनों भाइयों को हार व हाथी लौटाने को कहा, इस पर दोनों भाइयों ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि ये तो पिताजी द्वारा प्रदत्त हैं। दोनों भाइयों ने वहां रहना उपयुक्त नहीं समझा। वहां से अपने परिवार के साथ वैशाली में अपने नाना महाराज चेटक की शरण में चले गये। कोणिक द्वारा हार व हाथी भेजने की बात करने पर चेटक ने कहा— शरण में आने के बाद क्षत्रिय मरते दम तक रक्षा करता है। इसी कारण कोणिक एवं चेटक के बीच घमासान युद्ध हुआ था।

गोशालक का मिथ्या प्रलाप

भगवान् श्रावस्ती के कोष्ठक उद्यान में ठहरे। उन दिनों मंखलिपुत्र गोशालक भगवान् से विलग होकर प्रायः श्रावस्ती के आस-पास ही घूमता था। तेजोलेखा

की प्राप्ति और निमित्त शास्त्रों का अभ्यास उन्होंने श्रावस्ती में ही किया था। श्रावस्ती में अयंपुल गाथापति और हालाहला कुंभारिण गोशालक के परम भक्त थे। प्रायः गोशालक हालाहला कुंभारिण की भांडशाला में ठहरता था।

भगवान् महावीर के छद्मस्थ काल में गोशालक उनके साथ छह वर्ष तक रहा था। महावीर से तेजोलेश्या प्राप्ति का उपाय पाकर वह उनसे अलग हो गया था। तेजोलेश्या एवं अष्टांग निमित्त ज्ञान से वह स्वयं को बहुत प्रभावशाली मानता था। इसी आधार पर वह कहा करता था—“मैं जिन, सर्वज्ञ एवं केवली हूँ।” उनकी इस घोषणा की नगरी में बड़ी चर्चा थी।

गौतम स्वामी ने नगर में भिक्षार्थ घूमते हुए यह जनप्रवाद सुना कि श्रावस्ती में दो जिन (तीर्थंकर) विराज रहे हैं। एक श्रमण भगवान् महावीर और दूसरे मंखलिपुत्र गोशालक। गौतम स्वामी ने इस संदर्भ में पूछा तो भगवान् ने कहा—‘गौतम ! गोशालक जिन, केवली व सर्वज्ञ नहीं है। वह अपने विषय में जो घोषणा कर रहा है वह मिथ्या है। यह शरवण ग्राम के बहुल ब्राह्मण की गोशाला में जन्म लेने से गोशालक व मंखलि नामक मंख का पुत्र होने से मंखलिपुत्र कहलाता है। यह आज से चौबीस वर्ष पूर्व मेरा शिष्य बना था। छह वर्ष तक मेरे साथ रहा था। मेरे द्वारा बताये उपाय से तेजोलब्धि प्राप्त की, दिशाचरों से निमित्त शास्त्र पढ़ा। उसी आधार पर यह कहता फिर रहा है। वस्तुतः इसमें अभी सर्वज्ञ बनने की अर्हता नहीं है।’

महावीर-गौतम संवाद पूरे नगर में फैल गया। मंखलिपुत्र गोशालक ने भी यह बात सुनी तो वह बहुत कोपायमान हुआ। वे अपने संघ के साथ इस बारे में विमर्श करने लगे। उस समय महावीर के शिष्य आनंद नित्य प्रति बेले-बेले की तपस्या कर रहे थे। पारणा के लिए उस कुंभारिण के घर से आगे होकर जा रहे थे। गोशालक ने देखते ही उन्हें रोककर कहा—‘देवानुप्रिय आनंद ! तुम्हारे धर्मगुरु महावीर देव, मनुष्यों द्वारा बहुत प्रशंसित व पूजित है, पर वे मेरे बारे में कुछ भी कहेंगे तो मैं मेरे तपस्तेज से उन्हें भस्म कर दूंगा। जा अपने धर्माचार्य के पास, मेरी कही हुई बात उन्हें सुना दे।’

गोशालक का यह क्रोधपूर्ण उद्गार सुनकर आनंद स्थविर घबरा गये। वे तीव्रगति से महावीर के पास गये और गोशालक की बातें सुनाकर बोला—‘भंते! गोशालक अपने तप तेज से किसी को जलाकर भस्म करने में समर्थ है।’

भगवान् ने कहा— ‘आनंद ! अपने तप तेज से गोशालक किसी को भी जलाने में समर्थ है पर वह अर्हत्-तीर्थंकर को जलाकर भस्म करने में समर्थ नहीं है। तुम गौतम आदि सभी मुनियों को सूचना कर दो कि गोशालक इधर आ रहा है। इस समय उसके भीतर अत्यन्त मलिन भाव है, द्वेष से भरा हुआ है इसलिए वह कुछ

भी कहे, कुछ भी करे। पर किसी को भी प्रतिवाद नहीं करना चाहिए। कोई भी उससे किसी भी प्रकार की चर्चा न करे। “आनंद भगवान् के इस संदेश को सब मुनियों को सुनाने गये।

इतने में गोशालक अपने आजीवक संघ के साथ भगवान् के समीप पहुंच गया और बोला— ‘काश्यप ! तुमने यह तो सही कहा है कि मंखलिपुत्र गोशालक मेरा शिष्य है, पर वह तुम्हारा शिष्य मंखलिपुत्र कभी का मरकर देवलोक चला गया है। मैं तो उस गोशालक के शरीर प्रविष्ट उदायी कुंडियायन नामक धर्म प्रवर्तक हूं। यह मेरा सातवां शरीरान्तर प्रवेश है। मैं गोशालक नहीं, उससे भिन्न आत्मा हूं। तुम मुझे गोशालक कहते हो, यह सरासर मिथ्या है।’

गोशालक के ये असम्य वचन सर्वानुभूति मुनि से सहे नहीं जा सके। उन्होंने समझाने का प्रयास किया। पर उनके शब्द आग में ईंधन डालने का काम कर गये। गोशालक का इससे क्रोध और भभक गया। उसने तेजोलेश्या को एकत्र करके सर्वानुभूति पर छोड़ दी। इस प्रचंड आग से सर्वानुभूति का शरीर जलकर राख हो गया। मुनि आठवें सहस्रार देवलोक में महर्द्धिक देव बन गये।

गोशालक फिर बकने लगा। इस पर सुनक्षत्र मुनि उसे हित-वचन कहने लगे। गोशालक ने सर्वानुभूति की तरह सुनक्षत्र मुनि को भी भस्म कर दिया। कई ऐसा भी मानते हैं कि सुनक्षत्र मुनि काफी जल गये। अंतिम आलोचना कर मुनि बारहवें अच्युत देवलोक में देव बने।

भगवान् पर तेजो लेश्या का प्रयोग

महावीर ने कहा—“गोशालक! तू अपने आपको छिपाने का प्रयास मत कर। तू वही गोशालक है जो मेरा शिष्य होकर रहा था।” महावीर के इस सत्य उद्घाटन से गोशालक अत्यन्त क्रोधित हो गया और अनर्गल प्रलाप करने लगा।

भगवान् ने उसे अनार्य कृत्य न करने के लिए समझाया, पर उसका कोई असर नहीं हुआ। वह पांच-सात कदम पीछे हटा, अपनी सारी तेजो लेश्या को एकत्रित की और उसे भगवान् की ओर निकाला। तेजो लेश्या भगवान् का चक्कर काटती हुई ऊपर आकाश में उछली और वापस गोशालक के शरीर में प्रविष्ट हो गई। तेजो लेश्या के शरीर में घुसते ही गोशालक का शरीर जलने लगा। जलन से व्याकुल गोशालक बोला—‘काश्यप ! मेरे तप तेज से तेरा शरीर उत्पन्न हो गया है। अब तू पित्त और दाहज्वर से पीड़ित होकर छह महिने के भीतर छद्मस्थ अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त होगा।’

भगवान् महावीर ने कहा—“गोशालक ! मैं छह महीने के भीतर नहीं मरूंगा। मैं तो सोलह वर्ष तक इस धरा पर सुखपूर्वक विचरूंगा। तू खुद सात दिन में पित्त-ज्वर से पीड़ित होकर मरेगा।”

इसके बाद भगवान् ने मुनियों को कहा— अब गोशालक निस्तेज हो गया है। अब इसे धार्मिक चर्चा कर निरुत्तर कर सकते हैं।” मुनियों ने उससे कई प्रश्न पूछे पर वह उनका उत्तर नहीं दे सका। अनेक आजीवक श्रमण भगवान् के संघ में आकर मिल गये।

गोशालक पीड़ित एवं हताश होकर हालाहला कुंभारिण के घर आया और शरीर की जलन मिटाने के लिए अनेक विध प्रयत्न करने लगा, पर शरीर दाह कम नहीं हुआ। उसका शरीर दाह बढ़ता ही गया। आखिर महावीर की भविष्यवाणी के अनुसार सातवें दिन गोशालक मृत्यु धर्म को प्राप्त हुआ। अंत समय में उसने अपने इस कृत्य के लिए बहुत पश्चात्ताप किया, जिससे मरकर बारहवें देवलोक में देव बना। देवलोक से च्यवकर लंबे समय तक संसार में परिभ्रमण करता हुआ निर्वाण को प्राप्त करेगा।

सिंह अणगार का रुदन

भगवान् ने श्रावस्ती से विहार किया और विचरते हुए मेंढिय गांव पधारे। वहां गोशालक के द्वारा छोड़ी गई तेजो लेश्या के प्रभाव से दाह ज्वर उत्पन्न हो गया। भगवान् के खून की दस्तें लगने लगी जिससे उनकी काया दुर्बल हो गई। लोगों में चर्चा हो गई— कहीं गोशालक की भविष्यवाणी सच न हो जाए क्योंकि उनका शरीर क्षीण हो रहा है।

सालकोष्ठ उद्यान के पास मालुका कच्छ में ध्यान करते हुए भगवान् के शिष्य सिंह मुनि ने उक्त चर्चा सुनी तो उनका ध्यान टूट गया। सिंह अणगार को यह बहुत बुरा लगा और दुःख से आक्रांत होकर जोर-जोर से रोने लगे। भगवान् ने संतों को भेजकर उसे बुलाया और कहा— “सिंह ! तुम मेरी अनिष्ट कल्पना की चिंता मत करो। मैं अभी साढ़े पन्द्रह वर्ष तक विचरूंगा।”

सिंह — ‘भगवन् ! आपका वचन सत्य हो। हम यही चाहते हैं। आपका शरीर प्रतिदिन क्षीण हो रहा है। यह बड़े दुःख की बात है। क्या इस बीमारी को मिटाने का कोई उपाय नहीं है।’

भगवान् ने कहा — ‘सिंह ! अवश्य है। तेरी इच्छा है तो तू इसी मेंढिय गांव में रेवती गाथापत्नी के घर जा। उसके घर कुम्हड़े तथा बिजोरे से बने हुए दो पाक तैयार हैं। इनमें से पहला जो मेरे लिए बना है उसे छोड़ दूसरे पाक को ले आ जो अन्य प्रयोजनवश बना है।’

भगवान् से आज्ञा प्राप्त कर प्रसन्नमना सिंह मुनि बिजोरा पाक लेकर उनके पास आये। भगवान् ने उस औषधि का सेवन किया और एकदम ठीक हो गये। भगवान् पूर्ववत् स्वस्थ हो गये। मेंढिय गांव से विहार कर भगवान् मिथिला पधारे। वहीं चातुर्मास संपन्न किया। मतभेद होने से जमालि भगवान् से पृथक् हो गया।

भगवान् की पुत्री साध्वी प्रियदर्शना भी पहले अलग हुई। बाद में श्रावक ढंक से प्रतिबोध पाकर पुनः भगवच्चरणों में पहुंचकर अपनी संयम-साधना में लीन हो गई।

सर्वज्ञता का सोलहवां वर्ष

मिथिला का पावस प्रवास संपन्न कर भगवान् श्रावस्ती पधारे। वहां पार्श्व परंपरा के प्रभावशाली आचार्य केशीश्रमण अपने पांच सौ साधुओं के साथ श्रावस्ती पधारे। गौतम स्वामी के साथ केशीकुमार श्रमण का लंबा वार्तालाप हुआ। इसका विस्तृत वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र के तेइसवें अध्ययन में मिलता है। गौतम के विचारों से प्रभावित होकर केशीकुमार श्रमण अपने पांच सौ साधुओं के साथ चातुर्याम धर्म से पंच महाव्रत धर्म को स्वीकार किया और महावीर के श्रमण संघ में सम्मिलित हो गये।

श्रावस्ती से अहिच्छत्रा होते हुए हस्तिनापुर पधारे। वहां का राजा शिव पहले संन्यासी परंपरा में दीक्षित हुआ। तपस्या के द्वारा उसे विभंग अज्ञान व अवधि दर्शन उत्पन्न हुआ। उससे सात द्वीप-समुद्र को देखने लगा और निर्णय घोषित कर दिया कि सात ही द्वीप समुद्र हैं।" गौतम के पूछने पर भगवान् ने कहा - 'सात नहीं, असंख्य द्वीप समुद्र है।' यह बात जब शिव के पास पहुंची तो वह शंकित हो गया। इस शंका से वह विशेष ज्ञान विलुप्त हो गया। शंका का समाधान पाने शिव भगवान् के पास आया, समझा और दीक्षित हो गया, अंत में निर्वाण को पाया। इस वर्ष का चातुर्मास वाणिज्य ग्राम में हुआ।

सर्वज्ञता का सतरहवां वर्ष

इस वर्ष भगवान् ने राजगृह में चातुर्मास बिताया। वहां अनेक मुनियों ने विपुलाचल पर्वत पर संथारा कर स्वर्ग एवं निर्वाण को प्राप्त किया।

सर्वज्ञता का अठारहवां वर्ष

राजगृह चातुर्मास संपन्न कर भगवान् पृष्ठ चंपा पधारे। वहां के राजा शाल एवं उनके छोटे भाई युवराज महाशाल ने अपने भाणेज गांगली को राज्य भार संभलाकर भगवान् के पास संयम स्वीकार किया। चंपा से भगवान् दशार्णपुर पधारे। वहां का राजा दशार्णभद्र सजधज कर प्रभु दर्शन के लिए निकला। उसके भीतर यह अहं था कि इतनी ऋद्धि-सिद्धि के साथ शायद ही कोई राजा दर्शन करने आया हो! आकाश मार्ग से आ रहे इन्द्र को इस अहं का आभास हो गया। वह अपनी ऋद्धि को प्रदर्शित करता हुआ आया। दशार्णभद्र का यह देखते ही अहं विगलित हो गया। तत्काल राजा ने भगवान् के पास दीक्षा स्वीकार कर ली। इन्द्र ने मुनि दशार्णभद्र को नमस्कार किया। भगवान् ने इस वर्ष वाणिज्य ग्राम में चातुर्मास किया।

सर्वज्ञता का उन्नीसवां वर्ष

चातुर्मास संपन्न कर भगवान् साकेत, श्रावस्ती आदि नगरों में ठहरते हुए कांपित्यपुर पधारे। वहां सात सौ परिव्राजकों के साथ अम्बड़ परिव्राजक भगवान् के उपदेश को सुनकर श्रावक बना। वह परिव्राजक वेश में रहकर श्रावकाचार का पालन करता था। उसे वैक्रिय लब्धि प्राप्त थी, जिससे कई रूप बनाकर पारणा हेतु सौ घरों में जाता। लोगों में बड़ा कुतूहल पैदा होता था। इस वर्ष भगवान् ने वैशाली में चौमासा किया।

सर्वज्ञता का बीसवां वर्ष

पावस प्रवास संपन्न कर वाणिज्य ग्राम पधारे। वहां पार्श्व संतानीय गांगेय मुनि ने भगवान् से विविध प्रश्न किये। प्रश्नोत्तर के बाद उन्होंने प्रभु के पास पंच महाव्रत रूप दीक्षा अंगीकार की। इस वर्ष का पावस भी वैशाली में किया।

सर्वज्ञता का इक्कीसवां वर्ष

वैशाली से विहार कर भगवान् राजगृह पधारे। वहां मददुक श्रावक ने कालोदायी आदि अन्यतीर्थिकों के प्रश्नों का यौक्तिक समाधान किया। भगवान् ने मददुक के तत्त्वज्ञान की प्रशंसा की। प्रभु ने राजगृह में वर्षावास किया।

सर्वज्ञता का बाइसवां वर्ष

आर्य जनपद में परिव्रजन करते हुए भगवान् ने पावस प्रवास नालंदा में किया। अन्यतीर्थिक कालोदायी, शैलोदायी आदि ने भगवान् से विविध चर्चा के बाद मुनि दीक्षा स्वीकार की। गौतम स्वामी से चर्चा करने के बाद पार्श्व परंपरा के मुनि उदक महावीर के धर्मशासन में सम्मिलित हो गये।

सर्वज्ञता का तेईसवां वर्ष

नालंदा से विहार कर प्रभु वाणिज्य ग्राम पधारे। वहां प्रभु के प्रवचन से प्रभावित होकर सुदर्शन श्रेष्ठी ने संयम स्वीकार किया। मुनि सुदर्शन ने बारह वर्ष चारित्र पर्याय पालकर निर्वाण को प्राप्त किया। इस वर्ष भगवान् ने वैशाली नगर में चातुर्मास बिताया।

सर्वज्ञता का चौबीसवां वर्ष

वैशाली से विहार कर भगवान् कौशल देश की प्रसिद्ध नगरी साकेत पधारे। वहां राजा किरात ने भगवान् के दर्शन किये, देशना सुनी और विरक्त होकर साधु बन गये। वहां से मथुरा, शौर्यपुर, नंदीपुर नगरों को अपनी चरणधूलि से पावन करते हुए मिथिला नगरी पधारे। वहीं चातुर्मास संपन्न किया।

सर्वज्ञता का पच्चीसवां वर्ष

मिथिला से भगवान् राजगृह पधारे। वहीं पावस प्रवास किया। गणधर प्रभास

ने एक मास के अनशन में निर्वाण को प्राप्त किया।

सर्वज्ञता का छब्बीसवां वर्ष

इस वर्ष का चातुर्मास नालन्दा में किया। इसी वर्ष गणधर अचलभ्राता व मेतार्य ने संथारा करके मोक्ष प्राप्त किया।

सर्वज्ञता का सताइसवां वर्ष

इस वर्ष का चातुर्मास मिथिला में हुआ।

सर्वज्ञता का अट्ठाइसवां वर्ष

इस वर्ष का चातुर्मास भी मिथिला में हुआ।

सर्वज्ञता का उनतीसवां वर्ष

मिथिला से विहार कर भगवान् राजगृह पधारे। वहीं चातुर्मास की स्थापना की। इस वर्ष अग्निभूति और वायुभूति गणधर ने अनशनपूर्वक निर्वाण को प्राप्त किया।

सर्वज्ञता का तीसवां व अंतिम वर्ष

चातुर्मास की समाप्ति के बाद भी भगवान् कुछ समय राजगृह में विराजे। उसी समय उनके गणधर अव्यक्त, मंडित, मौर्यपुत्र तथा अकंपित ने एक-एक मास के अनशन में निर्वाण को प्राप्त किया।

भगवान् महावीर का पावा में अंतिम वर्षावास था। वहां राजा हस्तिपाल की रज्जुक सभा में चातुर्मास हेतु पधारे। अनेक भव्य जीव उद्बोधित हुए। राजा पुण्यपाल ने भगवान् के पास संयम स्वीकार किया।

अंतिम प्रवचन

भगवान् केवली पर्याय में उनतीस वर्ष छह महिना पन्द्रह दिन तक पूरे भूमंडल पर विचरते रहे। लाखों लोगों को भगवान् से मार्गदर्शन मिला, जीवनदर्शन मिला। समस्त आर्य जनपद में उन्होंने एक हलचल पैदा कर दी। अन्य दर्शनों पर भी उनके द्वारा निरूपित तत्व की छाप पड़ी, तभी पशुबलि व दासप्रथा चरमरा कर टूटने लगी। किसी ने प्रेम के नाम से, किसी ने करुणा के नाम से, किसी ने रहम के नाम से अपने-अपने धर्म में अहिंसा को स्थान देना शुरू कर दिया। सचमुच महावीर का जीवन आलोक पुंज था। उसके आलोक में अनेक प्राणियों ने तत्त्वज्ञान प्राप्त किया था।

उन्होंने अपना अन्तिम वर्षावास लिच्छवी तथा मल्लि गणराज्यों के प्रमुखों की विशेष प्रार्थना पर पावा में बिताया। श्रद्धालुओं को पता था कि यह भगवान् का अंतिम वर्षावास है, अतः दर्शन, सेवा तथा प्रवचन का लाभ दूर-दूर के लोगों ने भी उठाया।

कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि में भगवान् ने अन्तिम अनशन कर लिया। सेवा में समागत अनेक श्रद्धालु तथा चतुर्विध संघ को अनेक शिक्षाएं फरमाई। अन्तिम दिन-कार्तिक कृष्णा अमावस्या की संध्या में प्रभु ने अपने प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम को वेद-विद्वान् देव शर्मा को समझाने के लिए उनके यहां भेजा। गौतम स्वामी भगवान् की आज्ञा से वहां चले गये तथा उनसे तात्त्विक चर्चा की।

कार्तिक कृष्णा अमावस्या को अंतिम समवसरण जुड़ा। इसमें बहुत सारे राजे, तथा विशाल जनमेदिनी अंतिम देशना सुनने उपस्थित हुई। भगवान् ने प्रवचन शुरू किया। भगवान् के बेले का तप था। उन्होंने ५५ अध्ययन पुण्यफल विपाक और ५५ अध्ययन पापफल विपाक संबंधी कहे। बीच में कई तरह के प्रश्नोत्तर चलते रहे। उसके बाद ३६ अध्ययन कहे जो आज उत्तराध्ययन के रूप में प्रस्तुत हैं। भगवान् ने १६ प्रहर तक देशना दी। उस बीच प्रश्नोत्तर व चर्चा चलती रही।

इन्द्र द्वारा आयु वृद्धि की प्रार्थना

भगवान् के मोक्ष-गमन का समय सन्निकट था। देवों व मानवों की भारी भीड़ थी। शक्र ने वंदना कर पूछा—“भंते ! आपके जन्मकाल में जो उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था, उस पर इस समय भस्म ग्रह संक्रान्त होने वाला है जो जन्म-नक्षत्र पर दो हजार वर्ष तक संक्रान्त रहेगा। आप अपना आयुकाल थोड़ा बढ़ा लें तो वह प्रभावी नहीं हो सकेगा।”

भगवान् ने कहा— ‘इन्द्र ! आयु को घटाने-बढ़ाने की किसी में शक्ति नहीं है। जब जैसा होना है वह होता ही है। ग्रह तो मात्र उसके सूचक होते हैं।’ इस प्रकार प्रभु ने इन्द्र की शंका का समाधान किया।

निर्वाण

छत्तीस अध्ययनों की प्ररूपणा के पश्चात् भगवान् ने सैंतीसवें प्रधान नामक अध्ययन को शुरू किया। उसकी बीच में ही देशना देते-देते प्रभु पर्यंकासन में स्थित हो गए। अर्धरात्रि के समय बादर काय योग में स्थित रहकर बादर मनोयोग और बादर वचन योग का निरोध किया, फिर सूक्ष्म काय योग में स्थित रहकर बादर काय योग व आनापान का निरोध किया, और उसके बाद सूक्ष्म मन व सूक्ष्म वचन योग को रोका। शुक्ल ध्यान के तीसरे चरण में सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती को प्राप्त कर सूक्ष्म काय योग का निरोध किया। समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति नामक चौथे चरण में पहुंचकर अ इ उ ऋ लृ— इन ह्रस्वाक्षर उच्चारण जितने काल तक शैलेशी अवस्था को प्राप्त किया, चार अघाति कर्म -वेदनीय, नाम गोत्र व आयुष्य का क्षय किया। इसके साथ सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने और परिनिर्वाण को प्राप्त किया।

पीछे से प्रभु का वह शरीर निस्पंद होकर चेतनाहीन बन गया। उपस्थित शिष्य समुदाय ने भगवान् के विरह को गम्भीर वातावरण में कायोत्सर्ग करके माध्यस्थ

भाव से सहन करने का प्रयत्न किया।

कुछ समय में देववृन्द आकाश से उतरने लगे। चारों तरफ भगवान् के निर्वाण की चर्चा होने लगी। लोग घरों से निकल-निकल कर आने लगे, किन्तु अमावस्या की रात्रि में लोगों की अंधेरी गलियां पार करने में कठिनाई हो रही थी। कहते हैं— देवों ने मोड़-मोड़ पर रत्नों से प्रकाश किया। प्रभु के निर्वाण-स्थल पर रत्नों की जगमगाहट लग गई। चारों तरफ प्रकाश ही प्रकाश फैल गया।

गौतम स्वामी को केवलज्ञान

वहां उपस्थित लिच्छवी, वज्जी तथा मल्ली गणराज्य के प्रमुखों ने निर्वाण दिवस प्रतिवर्ष मनाने की घोषणा की। रत्नों की जगमगाहट के स्थान पर दीप जलाकर प्रकाश करने की व्यवस्था की गई। भगवान् ने आज के दिन परम समृद्धि को प्राप्त किया था, अतः कार्तिक अमावस्या को प्रकाश का पर्व, समृद्धि का पर्व माना जाने लगा।

चर्चा करते हुए गौतम स्वामी को जब प्रभु के निर्वाण का पता लगा तो तत्काल वापिस आ गये। भगवान् के निस्पंद शरीर को देखकर वे मोहाकुल बनकर मूर्च्छित हो गये। सचेत होने पर पहले तो उन्होंने विलाप किया, किन्तु तत्काल भगवान् की वीतरागता पर विचार करने लगे। चिन्तन की गहराई में पहुंच कर स्वयं रागमुक्त बन गये। क्षपकश्रेणी लेकर उन्होंने केवलत्व प्राप्त किया। भगवान् का निर्वाण और गौतम स्वामी की सर्वज्ञता दोनों अमावस्या के दिन ही हुए थे, अतः कार्तिक की अमावस्या का दिन जैनों के लिए ऐतिहासिक पर्व बन गया।

शरीर का संस्कार

देवों, इन्द्रों तथा हजारों-हजारों लोगों ने मिलकर भगवान् के शरीर का अग्नि-संस्कार किया। सुसज्जित सुखपालिका में प्रभु के शरीर को अवस्थित किया। निर्धारित राज-मार्ग से प्रभु के शरीर को ले जाया गया। पावा नरेश हस्तिपाल विशेष व्यवस्था में लगा हुआ था। अपने प्रांगण में भगवान् के निर्वाण से अत्यधिक प्रसन्न भी था तो विरह की व्यथा से गंभीर भी बना हुआ था। बाहर से आये हुए अतिथियों की समुचित व्यवस्था तथा भगवान् के अग्नि-संस्कार की सारी व्यवस्थाओं का केन्द्र राजा हस्तिपाल ही था। देवगण अपनी-अपनी व्यवस्था में लगे हुए थे। अग्नि-संस्कार के बाद लोग भगवान् के उपदेशों का स्मरण करते हुए अपने-अपने घरों को गये। भगवान् का निर्वाण हुआ तब चौथे आरे के तीन वर्ष साढ़े आठ महीने बाकी थे।

तीर्थ के बारे में प्रश्न

गौतम स्वामी ने एक बार भगवान् से पूछा था— ‘भगवन् ! आपका यह तीर्थ कब तक रहेगा ?’ भगवान् ने उत्तर दिया— ‘मेरा यह तीर्थ इक्कीस हजार वर्ष तक चलेगा। अनेक-अनेक साधु-साध्वियां तथा श्रावक-श्राविकाएं इसमें विशेष साधना

करके आत्म-कल्याण करेंगे, 'एकाभवतारी बनेंगे।'

ग्रन्थों में आता है कि पांचवें आरे के अन्त में दुप्रसह नामक साधु, फल्गुश्री नाम की साध्वी, नागिल नाम का श्रावक तथा सत्यश्री नाम की श्राविका रहेंगे। अन्तिम दिन अनशन कर ये चारों स्वर्गस्थ बनेंगे। वे ही इस अवसर्पिणी के अंतिम एकाभवतारी होंगे।

महावीर का अप्रतिहत प्रभाव

भगवान् महावीर का विहार क्षेत्र वैसे तो सीमित रहा। ज्यादातर अंग, मगध, काशी, कौशल, सावत्थी, वत्स आदि जनपदों में विचरते रहे। भगवान् का सबसे लंबा विहार सिंधु-सौवीर देश में हुआ।

भगवान् महावीर के समय अनेक धर्म-प्रवर्तक विद्यमान थे। साधना, ज्ञान तथा लब्धियों के माध्यम से वे अपना-अपना प्रभाव जमाये हुए थे। भगवान् महावीर के अतिरिक्त छह आचार्य और भी तीर्थंकर कहलाते थे। वे स्वयं को सर्वज्ञ बतलाते थे। फिर भी भगवान् महावीर का अप्रतिहत प्रभाव था। वैशाली राज्य के गणपति चेटक, मगध सम्राट् श्रेणिक, अंग सम्राट् कोणिक, सिंधु नरेश उदाई, उज्जयनी नरेश चन्द्रप्रद्योतन आदि अनेक गणनायक सम्राट्, लिच्छवी व वज्जि गणराज्यों के प्रमुख भगवान् के चरणसेवी उपासक थे। आनन्द, कामदेव, शकडाल और महाशतक जैसे प्रमुख धनाढ्य, समाज सेवी, धनजी जैसे चतुर व्यापारी तथा शालिभद्र जैसे महान् धनाढ्य व विलासी व्यक्ति भी आगार व अणगार धर्म के श्रम्यसी बने थे। आर्य जनपद में भगवान् का सर्वांगीण प्रभाव था। उन्होंने सामाजिक बुराइयों को खत्म कर नये सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना की।

महावीर के प्रमुख सिद्धांत

भगवान् महावीर ने सर्वज्ञ होते ही तत्कालीन रुढ़ धारणाओं पर प्रबल प्रहार किया। उन्होंने प्रचलित मिथ्या मान्यताओं का आमूलचूल निरसन किया। उनके प्रमुख सिद्धांत निम्नांकित हैं—

जातिवाद का विरोध

स्वयं अभिजात कुल के होते हुए भी उन्होंने जातिवाद को अतात्त्विक घोषित किया। उनका स्पष्ट उद्घोष था— मनुष्य जन्म से ऊंचा-नीचा नहीं होता। केवल कर्म ही व्यक्ति के ऊंच या नीच के मापदण्ड हैं। उन्होंने अपने तीर्थ में शूद्रों को भी सम्मिलित किया। लोगों को यह अटपटा जरूर लगा, किन्तु भगवान् ने स्पष्ट कहा— किसी को जन्मना नीच मानना हिंसा है। भगवान् की इस क्रांतिकारी घोषणा से लाखों-लाखों पीड़ित, दलित शूद्र लोगों में आशा का संचार हुआ। भगवान् के समवसरण में सभी लोग बिना किसी भेद-भाव के सम्मिलित होकर प्रवचन सुनते थे।

धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई

भगवान् से पूछा गया— 'आप द्वारा प्रतिपादित धर्म को कौन ग्रहण कर सकता है?' उत्तर में प्रभु ने कहा— 'मेरे द्वारा निरूपित शाश्वत धर्म को हर व्यक्ति स्वीकार कर सकता है। कोई बन्धन नहीं है। जाति, वर्ग या चिन्ह धर्म को अमान्य हैं। शाश्वत धर्म को स्वयं में टिकाने के लिए हृदय की शुद्धता जरूरी है। अशुद्ध हृदय में धर्म नहीं टिकता। धर्म के स्थायित्व के लिए पवित्रता अनिवार्य है।

पशु-बलि का विरोध

यज्ञ के नाम पर होने वाले बड़े-बड़े हिंसाकांडों के विरुद्ध भी महावीर ने आवाज उठाई। निरीह मूक पशुओं को बलि देकर धर्म कमाने की प्रचलित मान्यता को मिथ्यात्व कहा। उन्होंने स्पष्ट कहा— हिंसा पाप है। उससे धर्म करने की बात खून से सने वस्त्र को खून से ही साफ करने का उपक्रम है। हिंसा से बचकर ही धर्म कमाया जा सकता है।

स्त्री का समान अधिकार

भगवान् महावीर ने मातृ-जाति को आत्म-विकास के सारे सूत्र प्रदान किये। उनकी दृष्टि में स्त्री, पुरुष केवल शरीर के चिन्हों से है। आत्मा केवल आत्मा है। स्त्री या पुरुष के मात्र लिंग से कोई फर्क नहीं पड़ता। आत्म विकास का जहां तक सवाल है, स्त्री पुरुषों के समकक्ष है। मातृ-शक्ति को धर्म से वंचित करना बहुत बड़ा अपराध है, धार्मिक अंतराय है।

जन-भाषा में प्रतिबोध

भगवान् महावीर ने अपना प्रवचन सदैव जन-भाषा में दिया। मगध और उसके आस-पास के लोग अर्ध मागधी भाषा का प्रयोग करते थे। भगवान् ने भी अपना प्रवचन अर्ध-मागधी में ही दिया। जनसाधारण की भाषा बोलकर वे जनता के बन गये। जैनों के मूल आगम आज भी अर्ध मागधी भाषा में उपलब्ध है।

दास प्रथा का विरोध

भगवान् महावीर ने व्यक्ति की स्वतंत्रता पर विशेष बल दिया था। उन्होंने दास-प्रथा को धर्म-विरुद्ध घोषित किया। किसी व्यक्ति को दास के रूप में खरीदना, अपना गुलाम बनाकर रखना हिंसा है। हर व्यक्ति की स्वतंत्रता स्वस्थ समाज का लक्षण है। किसी को दबाकर रखना उसके साथ अन्याय है। उन्होंने स्पष्ट कहा— मेरे संघ में सब समान होंगे। कोई दास नहीं हैं, एक दूसरे का कार्य, एक दूसरे की परिचर्या निर्जरा भाव से की जायेगी, दबाव से नहीं। दास-प्रथा सामूहिक जीवन का कलंक है।

अपरिग्रह

अपरिग्रह का उपदेश महावीर की महान् देन है। उन्होंने अर्थ के संग्रह को

अनर्थ का मूल घोषित किया। धार्मिक प्रगति में अर्थ को बाधक बताते हुए मुनिचर्या में उसका सर्वथा त्याग अनिवार्य बतलाया। श्रावक धर्म में उस पर नियंत्रण करना आवश्यक बतलाया।

भगवान् महावीर के जितने श्रावक हुए, उनके पास उस समय में जितना परिग्रह था उससे अधिक परिग्रह का उन्होंने त्याग कर दिया था। वर्तमान परिग्रह से अधिक परिग्रह का संग्रह किसी श्रावक ने नहीं रखा। प्रतिवर्ष उतना ही कमाते थे, जितना खर्च होता था। शेष का विसर्जन कर वर्ष के अन्त में परिग्रह का परिमाण बराबर कर लेते थे। उनका उपदेश था कि संग्रह समस्याओं को पैदा करता है, धार्मिक व्यक्ति जितना परिग्रह से हल्का रहता है, उतना ही अधिक अध्यात्म में प्रगति कर सकता है।

अनेकान्त

अहिंसा के विषय में भगवान् महावीर के सूक्ष्मतम दृष्टिकोण का लोहा सारा विश्व मानता है। उनकी दृष्टि में शारीरिक हिंसा के अतिरिक्त वाचिक तथा मानसिक कटुता भी हिंसा है। सूक्ष्मतम अहिंसा के दृष्टिकोण को साधना का विषय बनाना अन्य दार्शनिकों के लिए आश्चर्य का विषय था।

वैचारिक अहिंसा को विकसित करने के लिए उन्होंने स्याद्वाद (अनेकान्त) का प्रतिपादन किया। उनका मानना था कि हर वस्तु को एकांगी पकड़ना ही आग्रह है, सत्य का विपर्यास है, अनन्तधर्मा वस्तु के एक धर्म को मान्यता देकर शेष धर्मों को नकारना स्वयं में अपूर्णता है। हर वस्तु का अपेक्षा से विवेचन करना ही यथार्थ को पाना है। जैसे घड़े को घड़े के रूप में कहना उसके अस्तित्व का बोध है। घड़े को पट के रूप में नकारना नास्तित्व का बोध है। एक ही घड़े के अस्तित्व और नास्तित्व, दो विरोधी धर्मों का समावेश करने का नाम ही स्याद्वाद है। इस प्रकार हर वस्तु अपनी-अपनी स्थिति में अस्तित्व-नास्तित्व आदि अनेक धर्मों वाली होती है। स्याद्वाद को मान लेने के बाद एकान्तिक आग्रह स्वतः समाप्त हो जाता है। वैचारिक विग्रह का फिर कहीं अवकाश नहीं रहता।

महावीर की आयु एवं चातुर्मास

भगवान् महावीर की सर्वायु बहत्तर वर्ष थी। इसमें तीस वर्ष गृहवास, बारह वर्ष व तेरह पक्ष छद्मस्थ अवस्था, तेरह पक्ष कम तीस वर्ष केवली पर्याय में बिताया।

जन्म	—	ईसा पूर्व ५९९	विक्रम पूर्व ५४२
दीक्षा	—	ईसा पूर्व ५६९	विक्रम पूर्व ५१२
केवलज्ञान	—	ईसा पूर्व ५५७	विक्रम पूर्व ५००
निर्वाण	—	ईसा पूर्व ५२६	विक्रम पूर्व ४७०

भगवान् ने छद्मस्थ व केवली पर्याय में कुल बयालीस चातुर्मास किये। भगवान् ने सर्वाधिक चौदह चातुर्मास राजगृह व उसके उपनगर नालंदा में किये।

प्रभु का परिवार—

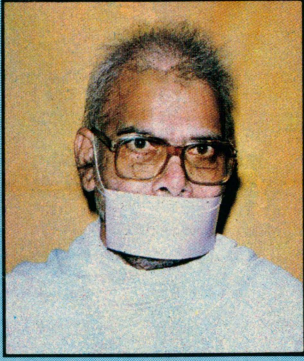
० गणधर	—	११
० केवलज्ञानी	—	७००
० मन : पर्यवज्ञानी	—	५००
० अवधिज्ञानी	—	१३००
० वैक्रिय लब्धिधारी	—	७००
० चतुर्दश पूर्वी	—	३००
० चर्चावादी	—	४००
० साधु	—	१४,०००
० साध्वी	—	३६,०००
० श्रावक	—	१,५९,०००
० श्राविका	—	३,१८,०००

एक झलक—

० माता	—	त्रिशला
० पिता	—	सिद्धार्थ
० नगरी	—	क्षत्रियकुंड
० वंश	—	इक्ष्वाकु
० गोत्र	—	काश्यप
० चिन्ह	—	सिंह
० वर्ण	—	सुवर्ण
० शरीर की ऊंचाई	—	७ हाथ
० यक्ष	—	मातंग
० यक्षिणी	—	सिद्धायिका
० कुमार काल	—	३० वर्ष
० राज्य काल	—	नहीं
० छद्मस्थ काल	—	१२ वर्ष ६ मास १५ दिन
० कुल दीक्षा पर्याय	—	४२ वर्ष
० आयुष्य	—	७२ वर्ष

पंच कल्याणक

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
० च्यवन	— आषाढ़ शुक्ला ६	प्राणत	उत्तरा फाल्गुनी
० जन्म	— चैत्र शुक्ला १३	क्षत्रिय कुंड	उत्तराषाढ़ा
० दीक्षा	— मगसूर कृष्णा १०	क्षत्रिय कुंड	उत्तराषाढ़ा
० केवलज्ञान	— बैसाख शुक्ला १०	जंभिय गांव के बाहर ऋजुबालुका नदी का तट	उत्तरा फाल्गुनी
० निर्वाण	— कार्तिक कृष्णा १५	पावापुरी	स्वाति



मुनि सुमेरमल (लाडनू)

● जन्म :

चैत्र शुक्ला १४, सं. १९८९, लाडनू (राज०)

● दीक्षा :

माघ शुक्ला ७, सं. १९९८, सरदारशहर (राज०)
(आचार्य श्री तुलसी द्वारा)

अग्रगण्य :

● ज्येष्ठ कृष्णा ३, सं. २०१० भीनासर (राज०)

अध्ययन :

- हिन्दी, संस्कृत व प्राकृत का गहन अध्ययन
- तेरापंथ के महान् तत्त्वज्ञ मुनि श्री घासीरामजी के सात्रिध्य में आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन
- दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, दशाश्रुतस्कन्ध, नंदी, भ्रमविध्वंशनम् आदि सूत्र-ग्रंथ कंठस्थ

लेखन :

कथा साहित्य (प्रकाशित) :

- नैतिक कहानियां (भाग १-२), ● परीलोक ● बुद्धिलोक ● नीतिलोक ● सत्यलोक
- प्रज्ञालोक ● दिव्यलोक ● नारीलोक ● कर्मलोक ● संस्कार ● सप्त व्यसन
- उपकार ● बुद्धि और वैभव

चित्रकथा :

- अखूट खजाना ● क्रांतिकारी आचार्य भिक्षु (भाग १, २, ३, ४, ५)

अन्य साहित्य :

- भावना प्रबंध ● प्रबन्ध प्रभा (संपादित) ● तीर्थकर चरित्र ● भक्तामर पद्यानुवाद
- स्वर साधना ● जय तत्त्व बोध
- तेरापंथ दिग्दर्शन १९८४-८५ ● तेरापंथ दिग्दर्शन १९८५-८६
- तेरापंथ दिग्दर्शन १९८६-८७ ● तेरापंथ दिग्दर्शन १९८७-८८
- मुनि सोहनलालजी जीवन-चरित्र ● साधना के शिखर पर ● अवबोध

अप्रकाशित

- अट्ठ अणट्ठकरं ● पोपट पुराण (भाग १-४) ● तेरापंथ के सौ संत
- थली प्रदेश में तेरापंथ ● स्वप्नलोक ● अन्य सैंकड़ों कथाएं

विविध :

- सफल कथाकार ● कुशल व्याख्यानी ● दक्षिण भारत की प्रलंब यात्रा एवं कलकत्ता का पंचवर्षीय प्रभावी प्रवास ● दो वैरागी किशोरों को दीक्षा प्रदान